कृति और कृतिकार

[बाणभट्ट की आत्मकथा के संदर्भ में]

लेखक

डा० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण', जयपुर

हिन्दी-विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय,

विनय बुक डिपो

चौड़ा रास्ता, जयपुर

प्रकाशक :
विजय बुक डिपो
चौड़ा रास्ता
जयपुर

प्रथम संस्करण
जनवरी १९६५

मुद्रक :
नवल प्रिंटिंग प्रेस
चौड़ा रास्ता
जयपुर

लेखकीय

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बाणभट्ट की आत्मकथा के रूप में हिन्दी-जगत् को एक अद्भुत साहित्यिक रत्न प्रदान किया है जिसके विविध पहलुओं में विविध प्रकार की ज्योति जगमगा रही है। इस रत्न के प्रकाश में चतुर पाठक अनेक प्रकार की गुत्थियाँ सुलझा सकता है।

मैंने इस कृति को जितनी बार पढ़ा उतने ही बार मुझे अधिकाधिक आनन्द का अनुभव हुआ और मैंने इसे जिस पहलू से देखा उसी ने मुग्ध कर लिया। अनेक पहलुओं से इसे देख कर मैंने जो विचार समय-समय पर संकलित किये हैं वही इस कृति में संगृहीत हैं। इसी कारण संग्रह के अनुबन्ध में आवृत्तियाँ-सी दृष्टिगोचर होती हैं, जिनका होना स्वाभाविक है। न तो मेरा यह विचार था कि मैं इस कृति पर कुछ लिखूँ या और न ही मैं अपने विचारों को पुस्तक का रूप देने के लिए कभी सचेष्ट था।

बार-बार पढ़ने से आत्मकथा ने मेरे विचारों को प्रेरित किया और अनेक लेख लिख डाले। बहुत से लेख तैयार हो जाने पर उन्हें पुस्तकाकार करने की लालसा जग उठी हुई और कुछ कतर-छाँट करके मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ का रूप तैयार कर लिया।

इस ग्रन्थ के तैयार करने में मैं अपने आग्रहशील विद्यार्थियों की प्रेरणा का आभार स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता क्योंकि उनके पीछे पड़े बिना मेरे प्रयत्न इस दिशा में प्रेरित न हुए होते। पीछे पड़ने वाले विद्यार्थियों में केदारनाथ शर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शर्माजी के स्वार्थ ने और उनकी जिज्ञासा-वृत्ति ने जिस 'साहित्यिक परमार्थ' को प्रेरित किया उसे मेरा 'अहं' कभी भुला नहीं सकता है।

बाणभट्ट की आत्मकथा' हमारे विश्वविद्यालय के वातावरण में बहुचर्चित रही है। सम्बन्धित चर्चा में मेरे बोध को नये-नये परिपार्श्व मिलते रहे हैं। आलोचना के एक अंक ने तो मेरे विचारों को बहुत ही भड़का दिया। कुछ अच्छे अर्थों को मैंने उद्धृत भी कर दिया है। 'ऐतिहासिक आधार' में इस प्रभाव को स्पष्टतः अवगत किया जा सकता है।

मैं आचार्य द्विवेदीजी के प्रति आभार व्यक्त किये बिना नहीं रह सकता जिनके संपर्क ने मुझे उनकी स्वाभाविक और चारित्रिक विशेषताओं से परिचित करा दिया। यदि मैं डा० द्विवेदी के जीवन और स्वभाव से परिचित न होता तो सम्भवतः इतनी गहराई में डूब कर इसकी थाह न ले पाता। उन्हीं के मुख से उनके जीवन का परिचय पाकर और उन्हीं के पास रहकर उनके स्वभाव की आत्मीयता का लाभ उठाकर विचारों की इस बँधी गठरी को मैं उन्हीं को समर्पित करता हूँ।

शरण कुटीर, जयपुर
२४-१०-६४

—लेखक

अनुक्रमणिका

१ आत्म कथा का प्रयोजन

आलोचक के सामने सहसा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी बाणभट्ट की आत्मकथा लिखने के लिए क्यों प्रेरित हुए ? ध्यान रखने की बात है कि साहित्यकार अपने हृदय—अपनी अनुभूतियों को अनावृत करने के लिए सदैव लालायित रहता है। अपने भावों को रूपायित करके वह किसी बड़े तोष को प्राप्त करता है। साधारणतः सभी लोग अपनी मानसिक सम्पत्ति की अभिव्यक्ति करके तुष्ट होते हैं किन्तु सभी के पास कला-शक्ति नहीं होती है। साहित्यकार के पास कला-शक्ति होने से उसके भाव व्यक्त होने के लिए अधिक मचलते और वे सिद्ध होते हैं। जिसको पांडित्य का वरदान प्राप्त हो जिसका मस्तिष्क और हृदय उर्वर हो कला जिसकी सहचरी हो वह अपने अन्तर के अनावरण के लोभ का संवरण नहीं कर सकता। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पंडित हैं विद्वान् हैं, उनका मस्तिष्क और हृदय सम्पन्न है। इन गुणों के अतिरिक्त वे एक महान् कलाकार हैं, फिर वे अपने अन्तर की संचित निधि को प्रकाश न देते, यह उनके लिये कभी सम्भव न था।

अन्यत्र यह कहा गया है कि आचार्य द्विवेदी बाणभट्ट के बड़े उपासक रहे हैं। जो बाण अनेक गुणों में आचार्यजी से मिलता है जिसकी निर्विकार मस्ती उनकी मौजी मस्ती से मिलती है और जिसके पांडित्य से वे अभिभूत हो चुके हैं उसकी शैली के प्रति उनका कितना आदर रहा होगा यह बात कहने की नहीं वरन् उनकी शैली को देख कर समझने की है। बाण की शैली हिन्दी में क्यों नहीं लाई जा सकती, आचार्य द्विवेदीजी ने 'आत्म कथा' में मानों इसी आशय को व्यक्त करने वाला उत्तर दिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'आत्मकथा' की गद्य-शैली बाण की शैली से बहुत मिलती है। बाणभट्ट की गद्य शैली के जो तीन रूप या स्तर मिलते हैं वही 'आत्मकथा' में भी द्विवेदीजी की गद्य-शैली के मिलते हैं। अतएव बाण की गद्य-शैली को हिन्दी में उतार दिखाने की चाह यदि आचार्यजी के मन में रही हो तो आश्चर्य नहीं।

पंडितजी के निबन्धों भाषणों और वार्ताओं को पढ़-सुन कर कुछ ऐसा भी प्रतीत होता है कि उनको वर्णनों के प्रति विशेष मोह है। बाणभट्ट के वर्णनों में रम जाने के कारण वर्णनों में उनकी रुचि बन गई है। वर्णनों में शैली को जो छूट मिलती है वह अन्यत्र कठिन है। वर्णन दोनों ही प्रकार के होते हैं—एक तो दृश्यों या उत्सवों के वर्णन और दूसरे मनोदशा के निरूपक वर्णन। दोनों के माध्यम से बुद्धि और हृदय की निगूढ़ सम्पत्ति को प्रकाश में लाने का अवसर मिलता है। समाज धर्म तथा राजनीति आदि

के सम्बन्ध में लेखक को अपना मत व्यक्त करने की स्वतन्त्रता मिलती है। 'आत्मकथा' को देखकर यह प्रमाणित हो जाता है कि अध्ययन और मनन से ही नहीं वरन् समाज से संकलित अनुभवों के आधार पर लेखक ने अपने कुछ सिद्धान्त तैयार किये हैं और 'आत्म कथा' के वर्णनों में उनको व्यक्त करने का अवसर प्राप्त किया है। लेखक की वर्णन-प्रियता आत्मकथा में अपने चरमोत्कर्ष को पहुँच गई है।

कुछ लोगों का खयाल है कि भाचार्यजी 'वर्णन-लोलुप' हैं। मेरा विचार है कि वर्णन-लोलुपता कोई दोष नहीं है। साहित्य में वर्णन अपना स्थान रखते हैं। वे परिस्थितियों (भौगोलिक एवं सामाजिक) का परिचय कराते हैं और किसी कथा या प्रबन्ध को पोषक तत्त्व प्रदान करते हैं। रसास्वादन की भूमिका वर्णनों में ही विशेषरूप से तैयार हो सकती है। 'आत्मकथा के वर्णनों को पढ़कर ऊबने के स्थान पर पाठक उनकी बहुरों में बहता जाता है उसकी वृत्ति उनमें रमती है। ऐसे वर्णनों के प्रति लोलुपता का भाव किसी लेखक के लिए साधुवाद अर्जित कर सकता है। लेखक को वर्णन-लोलुप कहने से आलोचना को सम्मान नहीं मिल सकता। वर्णन-लोलुप कोई हो सकता है किन्तु वर्णनों को भावों से पुष्ट और भाषा से चमत्कारपूर्ण बना देना आसान बात नहीं है। इस काम के लिए शक्ति और क्षमता चाहिये और शक्ति का परिचय या प्रमाण मिलना चाहिये। अत एव शक्तिशाली साहित्यकार ही वर्णनों के बल से हर्षचरित की कुछ पंक्तियों के भाव को इतनी बड़ी 'आत्मकथा' के रूप में साकार कर सकता है। मैं समझता हूँ 'वर्णन लोलुप' न कह कर लेखक को 'कथाप्रिय' या 'कथाविद' नाम देना ही उचित है।

बाणभट्ट की आत्मकथा' को रूप देने में कुछ श्रेय हर्षवर्धन के युग का भी है। हर्षवर्धन का युग भारतीय स्वर्ण-युग की सीमा है। जिस प्रकार गुप्त-काल में संस्कृति और कला को गौरव मिला उसी प्रकार हर्ष-काल में भी उनको गौरव मिला। दोनों युगों ने अलग-अलग दो साहित्यिक स्तम्भों को जन्म दिया। गुप्तकाल को जैसा गौरव कवि कुल शिरोमणि महाकवि कालिदास ने दिया वैसा ही गौरव हर्षकाल को महाकवि बाण ने दिया। दोनों अपने-अपने युग के साहित्याकाश के चमकते तारे हैं; वरन् यह कह देना भी अनुचित न होगा कि दोनों ही भारतीय साहित्यकारों के उन्नत मौलि की भास्वर मुकुट मणियाँ हैं। आचार्य द्विवेदी दोनों के प्रशंसक हैं, किन्तु दोनों के रचना-क्षेत्र भिन्न हैं। एक काव्य और नाटक के क्षेत्र में अद्वितीय है और दूसरा गद्य-कथा और रोमांस के क्षेत्र में। दोनों ही अपनी-अपनी शैली के प्रणेता हैं।

ऐसा कहना तो बड़ा भारी अनर्थ होगा कि डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कवि नहीं हैं क्योंकि उनकी संस्कृत कविताएं मैंने, किसी कवि-सम्मेलन में न सही चलते-फिरते या घर पर विश्राम के समय अथवा आमोद-वार्ता के समय सुनी हैं। हिन्दी में भी वे कविता करते होंगे मुझे ज्ञात नहीं है किन्तु 'आत्मकथा' के अनेक वर्णन काव्य-रस से आपूर्ण हैं। कविता भावों का कलात्मक निरूपण है तो अवश्य ही 'आत्मकथा' कविता

के दुर्लभ गुणों से सम्पन्न है। इसलिए लेखक को एक ओर तो आकर्षण रहा बाणभट्ट की गद्य-शैली के प्रति और दूसरी ओर हर्ष के युग की ओर रहा। युग और बाण की शैली ने बाण के प्रति लेखक के आकर्षण को द्विगुणित कर दिया।

इन बातों के अतिरिक्त लेखक और बाण के व्यक्तित्व में बहुत साम्य है। दोनों के आकार-प्रकार, वेष-भूषा बोल-चाल रीति-रिवाज और आचार-व्यवहार में बहुत साम्य है। भाव-साम्य दोनों को बहुत निकट ले आता है। दोनों की जन्म-भूमि उस दिशा से सम्बंध रखती है जहाँ के ब्राह्मण अपनी निष्ठा के लिए प्रसिद्ध हैं। मैं समझता हूँ कि इस साम्य भाव ने भी डा० द्विवेदी को बाणभट्ट की आत्मकथा लिखने की प्रेरणा दी।

हर्षवर्धन प्रसन्न भारत का अन्तिम चक्रवर्ती सम्राट था। उसी के पश्चात् भारत की अखण्डता का विघटन होने लग गया। विदेशियों ने भारत पर आक्रमण का तांता लगा दिया और इधर देश की दबी हुई विरोधी शक्तियाँ भी उभरने लगीं। इस युग के बाद भारत दासता की दिशा में बढ़ता चला गया और इस कृति के रचना-काल तक देश उस दासता से मुक्त न हुआ जिसका बीजारोपण हर्ष के शासन के पश्चात् ही होने लग गया था। यह युग एक देश-भक्त की दृष्टि से ही स्मरणीय नहीं है, वरन् एक साहित्य-प्रेमी की दृष्टि से—एक महान् कलाकार की दृष्टि से भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है, जिसमें बाण-जैसा अद्वितीय गद्य-शैलीकार उत्पन्न हुआ। अतएव बाणभट्ट के साथ यह युग भी स्मरणीय है। बाणभट्ट की आत्मकथा मेरी दृष्टि में बाण से सम्बन्धित एक महान् स्मारक है जो हर्ष के उस युग का भी स्मरण दिलाता है जिसमें अनेक वर्गों और धर्मों को स्वतन्त्रता थी और जो भारत की अखण्ड स्वतन्त्रता का अन्तिम काल-स्तम्भ था।

'आत्मकथा' की प्रेरणा के अनेक स्रोतों को खोजते हुए यह न भुला देना चाहिये कि कलाकार और जादूगर में बहुत साम्य होता है। दोनों सामाजिकों के कुतूहल बढ़ाने की रुचि रखते हैं। जिस प्रकार जादूगर अपने खेलों से दर्शकों को दंग करना चाहता है, उसी प्रकार कलाकार अपने साहित्यिक खेलों से अपने पाठकों को चकित कर देना चाहता है। इस रुचि के पीछे आत्म-तोष और यश की इच्छा तो रहती ही है, साथ ही उसकी चमत्कार प्रियता भी बलवती होती है। डा० द्विवेदी की इस कलाकृति की प्रेरणा के सम्बन्ध में उनकी चमत्कार-प्रियता को भुलाया नहीं जा सकता। कलाकार वह है जो अपनी एक छोटी से छोटी बात को सुन्दर और मोहक बनाकर प्रस्तुत कर सके। यों तो अभिव्यक्ति सामान्य से सामान्य व्यक्ति के पास भी होती है किन्तु वाग्विदग्धता हर किसी की बपौती नहीं होती। वह किसी को प्रकृति के वरदान के रूप में मिलती है और किसी को अनुकरण और अभ्यास से ही प्राप्त हो जाती है। 'आत्मकथा' के लेखक को वाग्विदग्धता प्रकृति के वरदान के रूप में प्राप्त हुई है और इसका उपयोग अपनी रचनाओं में उसने अपने पाठकों को प्रभावित चकित और विस्मित करने के लिए किया है। लेखक ने इस

कृति में जिस साहित्यिक छल का उपयोग किया है, यह भी उसकी चमत्कारिणी प्रवृत्ति का ही एक अंग है।

बाण के सम्बन्ध में राहुल सांकृत्यायन की उक्तियों से असंतुष्ट होकर भी बाण भट्ट के आचरण की प्रतिष्ठा के लिए लेखक को 'आत्मकथा' लिखने की प्रेरणा मिली। बाण स्वेच्छाचारी था, नटी-नर्तकियों के साथ रहता था, घुमक्कड़ था, नाटकाभिनयों में रुचि रखता था, काम कलाविद् था और इतर अनेक कलाओं का मर्मज्ञ भी था, किन्तु इन सब बातों से उसकी लम्पटता सिद्ध नहीं होती। उसके आचरण भ्रष्ट होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस बात को लेकर आचार्य द्विवेदी को राहुलजी की उक्ति के विरोध में भी 'आत्मकथा' के मैदान में उतरना पड़ा। इन सबके अतिरिक्त पाश्चात्य उपन्यास-साहित्य में भी इस शैली का प्रचलन बहुत लोक-प्रिय बन गया था। हिन्दी-साहित्य में भी इस शैली को प्रवेश मिल गया था। 'शेखर: एक जीवनी' ने उपन्यास-क्षेत्र में एक तहलका मचा दिया था। डा० द्विवेदीजी जो उस समय तक आलोचक के ही रूप में प्रसिद्ध थे, आत्मकथा लिखने के लोभ का संवरण न कर सके। आत्मकथा-शैली के उपन्यास प्रायः ऐतिहासिक पीठिका पर नहीं बन सकते, क्योंकि ऐसे उपन्यास का नायक कोई ऐसा इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति होना चाहिये जिसकी जीवनी इतिहास में मिल सके। ऐतिहासिक व्यक्ति के सम्बन्ध में जीवन-चरित्र सरलता से लिखा जा सकता है, किन्तु आत्मकथा लिखने के मार्ग में कुछ कठिनाइयाँ प्रस्तुत होती हैं क्योंकि प्राचीन काल में एक तो बहुत कम लोगों ने अपने परिचय दिये हैं, दूसरे आत्मकथा के रूप में किसी ने अपना परिचय नहीं दिया। सच तो यह है कि साहित्य के क्षेत्र में तो आत्मकथा बिल्कुल नई विधा है। संस्कृत में कवियों की आत्मकथा का मिलना तो बहुत दूर की बात है, जहाँ कवि-जीवन-परिचय भी बहुत कम मिलता है। बाण ने 'हर्ष-चरित्' में अपना थोड़ा-सा परिचय देकर अपने सम्बन्ध में जानने के लिए पाठकों की जिज्ञासा को केवल उभार कर दिया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मानो पाठकों की इस जिज्ञासा के शमन के लिए और उपन्यास की नवीन विधा को हिन्दी में स्थापित करने के लिए 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखी है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि आत्मकथा अपने आप में अपूर्ण होती है और बाणभट्ट के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि उसकी सभी साहित्यिक कृतियाँ अपूर्ण हैं। इसलिए 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की आड़ में लेखक की सघन उपन्यास-कला सफल हो जाती है।

२. स्वरूप-निर्णय

'बाणभट्ट की आत्मकथा' नाम लेखक की अपनी जीवनी होने की सूचना देता है। इससे यह प्रकट होता है कि यह बाणभट्ट की आत्मकथा है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि बाणभट्ट ही इसका लेखक है। कथा के यशस्वी सम्पादक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस कृति को 'अभिनव कृति' कह कर प्रशस्त किया है। इससे दो संकेत ग्रहण किये जा सकते हैं : एक तो यह कि संस्कृत-साहित्य में आत्मकथा लिखने की इस प्रकार की कोई परम्परा नहीं थी और यदि यह बाणभट्ट की आत्मकथा है तो संस्कृत-साहित्य में सचमुच बाणभट्ट का यह एक अभिनव प्रयोग है; दूसरा संकेत यह लिया जा सकता है कि यह कृति हिन्दी का अभिनव साहित्यिक प्रयोग है। इस संकेत के द्वारा स्वयं डाक्टर साहब ने 'बाणभट्ट की असलियत' का पर्दाफाश कर दिया है अर्थात् यह एक शैली है जिसका उपयोग इसके लेखक ने बड़ी सावधानी से किया है।

सम्पादक महोदय ने भूमिका में सूचना दी है कि बाणभट्ट की आत्मकथा की मूल लिपि आस्ट्रिया वासिनी मिस कैथराइन को जिसको उन्होंने दीदी नाम से अभिहित किया है, शोण-यात्रा के परिणामस्वरूप उपलब्ध हुई। कथामुख से हमें यह सूचना भी मिलती है कि मिस कैथराइन को संस्कृत-हिन्दी का अच्छा अभ्यास था इसलिए उन्होंने संस्कृत की मूल रचना का हिन्दी-अनुवाद बड़ी रुचि के साथ कर डाला।

सचमुच दीदी की कलम एक जादू की कलम रही है अथवा मिस कैथराइन के बुर्के में कलम का कोई सम्भ्रान्त जादूगर छिपा हुआ है, जो न जाने, किस लाज से, किस झिझक से उसके बाहर नहीं आना चाहता। निस्सन्देह कृति की इस रहस्यमयी व्यवस्था ने 'अभिनव प्रयोग' को सार्थक बना दिया है।

इससे बाणभट्ट की आत्मकथा की प्रामाणिकता का प्रश्न इसके पाठक के सामने प्रमुख रूप से आता है, क्योंकि सत्य प्रकाशित हुए बिना नहीं रह सकता और जहाँ कौतूहल-प्रवण किसी उदय को उद्बुद्ध करते हैं वहाँ सत्य-ज्ञान की चेष्टाएँ भी उद्दाम हो जाती हैं। यह तो लगभग स्पष्ट ही है कि यह रचना प्रामाणिक नहीं है—इसलिए कि उसकी हस्त-लिपि या उसका लेखक (बाणभट्ट) कल्पित है। हाँ, उसको शोणनद की यात्रा का परिणाम अवश्य बतलाया गया है पर वह कहाँ, कैसे और किस रूप में उपलब्ध हुई इस संबंध में कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। उसकी कोई हस्तलिखित प्रति रही होगी, यह बात संदेहास्पद है। 'शोणनद के बालुका-कणों से उठी हुई मर्मभेदी पुकार' ही वास्तव में बाणभट्ट की मूक वाणी है जो लेखक की अन्तर-प्रेरणा है अनुवाद तो केवल बहाना है।

संस्कृत-साहित्य में आत्मकथा की परम्परा नहीं रही है। यह कथा एक सुन्दर साहित्यिक प्रयास है। यदि सातवीं सदी की इस कृति का कहीं कोई अस्तित्व होता तो उसका प्रचार आँधी की भाँति हो जाता क्योंकि यह संस्कृत-साहित्य की एक अभूतपूर्व निधि होती। छिपाने से यह हरगिज नहीं छिपती उसका ढिंढोरा पिट गया होता। इसकी पांडुलिपि कैसी थी और उसका क्या हुआ इसका भी कोई पता नहीं चलता। पता तो तब न चलता जबकि उसका कहीं अस्तित्व होता। सच तो यह है कि पांडुलिपि एक हवाई चीज है इसीलिए यह बट्टे खाते में डाल दी गई है।

यदि यह मान लिया जावे कि वास्तव में कोई पांडुलिपि रही होगी तो बाणभट्ट की यह कृति संस्कृत में होती। उसका अनुवाद संस्कृत और हिन्दी का कोई सिद्धहस्त विद्वान् ही कर सकता था ईसाई-हिन्दी के आधापाती दीदी कैथराइन से उसके अनुवाद की आशा नहीं की जा सकती। सम्पादक महोदय ने आत्मकथा के वर्णनों के सम्बन्ध में फुटनोट में कादम्बरी आदि के जो संकेत दिये हैं वे बाणभट्ट की शैली का स्मरण कराते हैं अतएव बाणभट्ट जैसे क्लिष्ट एवं दुरूह-लेखक की कृति के अनुवाद में जिसमें बड़े-बड़े दिग्गज पण्डित विफल हो जाते हैं, दीदी की सफलता की कल्पना नहीं की जा सकती।

जो दीदी हिन्दी-संस्कृत की विदुषी बन गई हैं और उनका भाषाधिकार इस सीमा तक पहुँच गया है कि बाणभट्ट की कृति का हिन्दी में अनुवाद कर डालती हैं उनसे यह भी अपेक्षा की जानी चाहिये कि वे अंग्रेजी भी जानती होंगी क्योंकि उस समय भारत में किसी विदेशी का काम अंग्रेजी के बिना नहीं चल सकता था। मिस कैथराइन को हिन्दी का ज्ञान भी अंग्रेजी के माध्यम से ही हुआ होगा। सामान्यतः योरप और भारत के व्यावहारिक सम्बन्ध अंग्रेजी के माध्यम से ही सुरक्षित थे। अंग्रेजी ज्ञान की दशा में मिस कैथराइन ने आत्मकथा के अनुवाद का कार्य सम्पादक पर छोड़ा यह आश्चर्य की बात है।

जिस प्रकार बाणभट्ट की अन्य कृतियाँ उत्तराधिकार में उसके पुत्र को मिली थीं, उसी प्रकार आत्मकथा भी मिली होगी, अतएव अन्य कृतियों के साथ यह भी प्रकाश में आनी चाहिये थी; किन्तु उसका प्रकाश में न आना इस कारण की ओर संकेत करता है कि बाणभट्ट ने उसे अपने पुत्र से गुप्त रखा होगा। गोपनीयता की जैसी बात तो इसमें कुछ है नहीं, अतएव यह भी नहीं माना जा सकता कि आत्मकथा बाण-पुत्र को न मिल कर योरप-सम्बन्ध से इधर-उधर चली गई।

उपसंहार में सम्पादक के ये वाक्य बड़े महत्वपूर्ण हैं— अतीतगर्भ की सजग कुमारी देवपुत्र-नन्दिनी तथा आस्ट्रिया देशवासिनी दीदी ही हैं।" संपादक ने उपसंहार में दीदी का एक वाक्य भी उद्धृत किया है, वह यह है— बाणभट्ट बैसव भारत

में ही नहीं होते।" ये दोनों वाक्य निर्णय की ओर जाते हुए पाठक को सहसा दूर बीच में लाते हैं। सम्पादक का फिर एक प्रश्न पाठक की निर्णयात्मिका बुद्धि को प्रेरित करता हुआ इस प्रकार उठता है—'भारित्नुया में जिस नवीन बाणभट्ट का आविर्भाव हुआ था वह कौन था ? हाय, दीदी ने क्या इस लोगों के प्रसाद अपनी उसी कवि-प्रेमी की आँखों से अपने को देखने का प्रयत्न किया था ? यह कैसा रहस्य है। दीदी के सिवा और कौन है जो इस रहस्य को समझा दे। मेरा मन उस बाणभट्ट का संधान पाने को व्याकुल है।' इन वाक्यों से यह स्पष्ट है कि आत्मकथा बाणभट्ट की लिखी हुई नहीं है वह तो एक साम्य की कल्पना-मात्र है। आत्मकथा के वातावरण में ऐतिहासिक रङ्ग होते हुए भी इसका लेखक प्राचीन बाणभट्ट नहीं है, वह एक नवीन बाणभट्ट है और उसकी आत्मकथा एक नवीन आत्मकथा है जिसकी प्रामाणिकता की कलई अपने आप ही खुल जाती है।

इसकी अप्रामाणिकता सिद्ध हो जाने पर भी यह प्रश्न अवशिष्ट रह जाता है कि क्या यह दीदी की रचना है ? इस प्रश्न की सृष्टि उपसंहार के इन शब्दों से होती है—'हाय दीदी ने——अपने किसी कवि-प्रेमी की आँखों से अपने को देखने का प्रयत्न किया था।' उत्तर में यही कहा जा सकता है कि आत्मकथा दीदी की कृति कदापि नहीं है क्योंकि इसके वर्णन—प्राकृतिक, ऐतिहासिक एवं भावनात्मक—दीदी की शैली के परिचायक न होकर किसी सिद्धहस्त साहित्यकार की कृति हैं, जो यदि बाणभट्ट के नहीं हैं तो वे दीदी के भी नहीं हैं।

फिर इसका सिद्धहस्त विधाता—तीसरा व्यक्ति कौन है ? अब वह सामने है, परदे के पीछे नहीं है और वे हैं पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी तथाकथित सम्पादक। यह रचना लेखक की केवल कारयित्री प्रतिभा की द्युम्नी ही नहीं है, अपितु उसकी भावयित्री प्रतिभा का अमोघ वरदान भी है।

लेखक ने अपनी शैली की विशेषता देने के लिए आत्मकथा से अपना स्पष्ट सम्बन्ध व्यक्त नहीं किया, किन्तु सम्बन्ध को समझने के लिए कथामुख और उपसंहार में अनेक संकेत मिल जाते हैं। उनमें से एक यह भी है—'सहृदय पाठकों के लिये यह कार्य छोड़ दिया गया।' इस वाक्य से सम्पादक ने परोक्ष रूप से कथा से अपना सम्बन्ध व्यक्त किया है। 'अनेक मित्रों के आग्रह, अनुरोध और भर्त्सना का ही यह परिणाम है।' यह वाक्य भी इसी सम्बन्ध को प्रमाणित करता है। आत्मकथा के आधार की घोषणा करके भी सम्पादक ने उससे अपना सम्बन्ध व्यक्त किया है। घोषणा इन शब्दों में हुई है— "बाणभट्ट और श्री हर्षदेव के ग्रन्थ कृपा के प्रधान उप जीव्य रहे हैं।' यह विनय-प्रकाशन भी सम्बन्ध की ही स्वीकृति है—'कथा जैसी है वैसी सहृदयों के सामने है।'

इन तर्कों के आधार पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आत्मकथा बाणभट्ट की कृति नहीं है और न यह दीदी कैथराइन की ही कृति है। यह डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी की कृति है, गद्य की अभिनव शैली है जिसे कथामुख और उपसंहार से कुतूहल के परिवेश में रोचक एवं मौलिक बना दिया है। आत्मकथा-शैली का प्रयोग अन्य देशों के गद्य-साहित्य में भी हुआ है, किन्तु बाणभट्ट की आत्मकथा की शैली पाठकों को बस कर देने वाली है। यहाँ प्राचीन बाणभट्ट और नई रहस्यमयी दीदी, दोनों का साक्षात्कार लेखक ने एक ही साथ किया है।

इस रचना के स्वरूप के सम्बन्ध में अब तक विद्वानों में मत भेद बना हुआ है। किसी ने इसे आत्मकथा स्वीकार किया है और किसी ने उपन्यास। स्वर्गीय पंडित राम-कृष्ण शुक्ल ने इसे 'मद्य कथा' कहा है जो अपने आप में विवादास्पद है। कुछ तत्त्वों को देख कर कुछ पाठक इसे इतिहास मानने की भूल भी कर सकते हैं और ऐसी ही भूल के कारण कुछ इसे जीवनी भी कह सकते हैं। अतएव यह निर्णय आवश्यक है कि वास्तव में यह रचना क्या है? इतिहास, जीवनी, मद्य कथा -आत्मकथा या उपन्यास? कुछ पात्रों और वातावरण के आधार पर बाणभट्ट की आत्मकथा को इतिहास मानने की भूल की जा सकती है किन्तु यह इतिहास नहीं है क्योंकि इतिहास का सबंध किसी युग से रहता है किसी व्यक्ति विशेष से नहीं। वह युग के परिवेश में समाज की अनेक प्रवृत्तियों का विवरण प्रस्तुत करता है और युग की सीमाओं में आने वाले प्रमुख व्य-क्तियों के उन क्रिया-कलापों का उल्लेख भी करता है जिनका समाज से सीधा सम्बन्ध होता है। प्रस्तुत कृति किसी युग की विवरणिका को प्रमुखता नहीं देती, वरन् बाणभट्ट को प्रमुखता प्रदान करती है। बाणभट्ट के सम्बन्ध से ही सामाजिक प्रसंग उठ खड़े होते हैं। परोक्ष या अपरोक्ष रूप में बाणभट्ट से चाहे उनका कुछ भी सम्बन्ध हो और उसके व्यक्तित्व के निर्माण में चाहे उनका कितना ही हाथ रहा हो, किन्तु बाणभट्ट के प्रकाश को वे अपनी छाया से आवृत नहीं कर सकते। इनमें से किसी की उपेक्षा करने से बाण भट्ट का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है, केवल उसके जीवन का कोई पहलू अपने प्रकाश को लेकर प्रकाश-पुंज से पृथक हो सकता है और यदि उन प्रसंगों से बाणभट्ट तिरो-हित हो जाता है तो कृति में उनका कोई मूल्य नहीं रहता। इससे स्पष्ट है कि बाणभट्ट की आत्मकथा इतिहास नहीं है।

इसके अतिरिक्त इतिहास युग निरूपण को जो महत्त्व देता है वह व्यक्तियों को नहीं देता और न उसका कोई व्यक्ति पूरे युग के घटना-चक्र से ही संबद्ध होता है किन्तु बाणभट्ट की आत्मकथा में बाणभट्ट सम्पूर्ण घटना-चक्र में ओतप्रोत है; इसलिए भी यह रचना इतिहास नहीं है।

इतिहास घटनाओं को प्रधानता प्रदान करता है, किन्तु उनके तारतम्य का अस्तित्व

नेर्वाह इसमें अनिवार्य नहीं होता। यह तारतम्य-निर्वाह प्रस्तुत कृति में मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि यह कोई इतिहासेतर विधा है।

'आत्मकथा' को इतिहास न मानने का एक कारण यह भी है कि इसमें घटना तिथियों की एकदम उपेक्षा करदी गई है जबकि इतिहास उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में भावयित्री प्रतिभा का योग है। परिस्थितियों और कल्पनाओं के भावात्मक वर्णन अलङ्कारों के सम्बन्ध से रसमयता को प्रशस्त कर देते हैं, जिससे कृति का इतिहास-रूप असिद्ध हो जाता है।

५ वातावरण के अन्तर्गत जिन परिस्थितियों का प्रतिरूपण किया गया है उन सब में प्रामाणिक तथ्यों की पीठिका नहीं है। तुवरमिलिन्द, भट्टिनी, निपुणिका आदि पात्र इतिहास-सम्मत नहीं हैं। साथ ही जिस राजनीतिक जागृति और सामाजिक चेतना का उल्लेख है वह भी इतिहास-सिद्ध नहीं है और यदि इन्हें प्रमाणित मान भी लें तो भाषण और संवादों का रूप इस कृति को इतिहास से निकाल कर साहित्य के क्षेत्र में ले जाता है।

इस रचना की प्रवृत्ति चरित्र चित्रण की ओर रही है किन्तु यह इतिहास की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। इतिहास कहीं-कहीं चरित्र-वर्णन तो कर देता है किन्तु चरित्र-चित्रण उसकी परिधि से बाहर की चीज है।

'आत्मकथा' भाव-पीठिका पर प्रतिष्ठित होकर रस-निष्पत्ति की आयोजना करती है जबकि इतिहास वस्तु-सकलन और विश्लेषण करके यथातथ्यात्मकता को ही प्रोत्साहन देता है; परिणामतः वह भाव-व्यवस्था में प्रवृत्त नहीं होता।

इस विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट है कि बाणभट्ट की आत्मकथा इतिहास नहीं है।

जीवनी

यदि यह इतिहास नहीं तो क्या जीवनी है? 'बाणभट्ट की आत्मकथा' नाम से ही पाठक के सामने सहसा दो प्रस्ताव आते हैं—एक तो यह कि बाणभट्ट की लिखी हुई यह उसी की कहानी है और दूसरा यह कि यह नाम संभवतः किसी अन्य व्यक्ति का रखा हुआ है। दूसरे प्रकार का भ्रम 'शेखर: एक जीवनी' जैसे नाम से भी होता है। जिस प्रकार 'शेखर: एक जीवनी' को भ्रम से कोई पाठक 'आत्मकथा' समझ सकता है उसी प्रकार 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को वह भ्रम से एक जीवनी की संज्ञा दे सकता है। वस्तुतः दोनों विधाओं में बहुत अन्तर है किन्तु इन दोनों के साम्य तत्व से ही भ्रम की सृष्टि हो जाती है।

जीवनी और आत्मकथा

ये दोनों विभाए बहुत कुछ मिलती हैं। दोनों का लेखक एक पर्यवेक्षक की भांति तथ्यनिरूपण करता है। वह जो कुछ देखता या सुनता है उसको उसी रूप में प्रस्तुत करता है। किसी भी दशा में उसके वस्तु-निरूपण पर कल्पना का रंग नहीं चढ़ना चाहिये। जहाँ वह चढ़ता है वहाँ जीवनी या आत्मकथा अपनी सीमा का अतिक्रमण करके अपने सत्य से विप्रकृष्ट होती चली जाती है। दोनों का लेखक अपनी भावनाओं का पुट देकर वस्तु-निरूपण को अन्तवृ ति के हाथों नहीं सौंप सकता, उदाहरण के लिए, जिस प्रकार जीवनी-लेखक इस प्रकार के वाक्य नहीं लिख सकता—यदि बापू अपने कमरे से बाहर आ गये होते तो चोरों ने उन्हें मार डाला होता उसी प्रकार आत्मकथाकार ऐसे वाक्य नहीं लिख सकता—'यदि वैद्य न आता तो मैं मर गया होता', क्योंकि 'क्या हुआ होता' इस प्रश्न के उत्तर में कुछ कहना कल्पना को अधिक प्राधान्य देना है। जो कुछ होता वह तो भविष्य की बात है। जीवनी या आत्मकथा का लेखक कल्पना या अनुमान के माप-दण्डों से भविष्य के अनुमान गर्त को नहीं माप सकता।

जीवनी में सत्य अपनी वस्तु-स्थिति में रहता है वह अपने अस्तित्व को कल्पना की उड़ानों के हवाले नहीं कर सकता। जीवनी या आत्मकथा दोनों ही अपनी घटनाओं को किसी सप्रयोजन तारतम्य में पिरोकर किसी विशिष्ट कलागम की ओर नहीं ले जाती है। जीवनी और आत्मकथा दोनों ही एक-संबद्ध होती हैं जबकि इतिहास अनेक-सम्बद्ध होता है। इसके अतिरिक्त इतिहास घटनाओं को सामने रखकर पात्रों को पीछे रखता है और जीवनी या आत्मकथा चरित-नायक को प्रमुख रखती है; घटनाएं उसके पीछे चलती हैं। जीवनी में नायक अन्य रचनाओं की अपेक्षा अधिक विस्तारयुक्त और स्पष्ट होता है। अनेक साधनों और घटनाओं की बहुलता जीवनी और आत्मकथा में अपना महत्त्व नहीं रखती। जीवनी की सफलता तो इसमें है कि उसमें यदृट तथ्यों की प्रतिष्ठा होती है और कभी महापुरुष से सम्बन्धित होने पर उसकी सार्थकता भी बढ़ जाती है। उसमें आदर्श चरित्र की व्यवस्था होती है। जीवनी का सत्य कल्पना के सहारों से पल्लवित नहीं है। जीवनी-लेखक को यह अधिकार नहीं होता कि वह अपने नायक के जीवन की यथातथ्यता से दूर हट कर कल्पना के साथ उड़ता फिरे। जीवन को कलागर्भ बनाना उसकी अनधिकार चेष्टा होगी। कथाकार ऐसा कर सकता है। वह अपनी रचना का नायक किसी साधारण व्यक्ति को बनाकर उसे रोचक बनाने के लिए इच्छानुरूप सामग्री और वातावरण की व्यवस्था कल्पना के आधार पर भी कर सकता है। वह अपनी विधायिनी प्रतिभा का उपयोग खुलकर कर सकता है और विस्तारों में मनोनुकूल मुड़ाव दे सकता है किन्तु जीवनी-लेखक को यह अधिकार नहीं है। उसका काम तो एक मुनीम का-सा है जो रत्ती रत्ती भर का ब्यौरा रखता है। वह अपने नायक से सम्बन्धित प्रमाणित तथ्यों को अपने खातों भर में डाल देता है। वह नायक के चरित्र या वस्तु-विस्तारों

से छेड़-छाड़ नहीं कर सकता। जीवनी भानुमती का कुनबा नहीं है जिसके जोड़ने में किसी भी ईंट-रोड़े का उपयोग कर लिया जाये। जीवनी के विस्तार अपना स्थान नहीं छोड़ सकते। जीवनी की प्रत्येक पंक्ति में नायक के चरित्र का प्रकाश होता है, अन्यथा उसका मूल्य विघटित हो जाता है।

जीवनी-नायक के जीवन की घटनाएं प्रमाणित होती हैं जिनके साथ उसकी बौद्धिक तार्किक एवं व्यावहारिक प्रवृत्तियाँ भी संचित रहती हैं। नायक के भाव, व्यापार, विचार एवं सम्पर्क का परिवेश लेखक के हाथों में अपनी मौलिकता या स्वतन्त्रता को खो नहीं बैठता।

जीवनी-लेखक अपने नायक के चरित्र के सम्बन्ध में अपनी ओर से नमक-मिर्च नहीं मिला सकता। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह नायक के चरित्र-वर्णन में अपने व्यक्तित्व को नहीं मिला सकता। इस प्रकार नायक का चरित्र अपनी मौलिक स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रखता है। यद्यपि ऐसी जीवनियों का मिलना दुष्कर है किन्तु उनके लेखकों से अपेक्षा यही की जाती है कि अपने उद्देश्य की ओर उनकी पहुँच निर्वैयक्तिक हो। यद्यपि इस सम्बन्ध में यह मत भी प्रचलित है कि लेखक नायक के विषय में अपना दृष्टिकोण भी प्रस्तुत कर सकता है और नायक-विषयक तथ्यों की अभिव्यंजना उस प्रकार भी कर सकता है जिस प्रकार उनको उसने समझा है। लेखक का यह प्रयास वैयक्तिक कहलाता है।

यह मानी हुई बात है कि जीवनी-नायक कोई महापुरुष होता है। यद्यपि उसके जीवन के तथ्यों के सम्बन्ध में सचाई बरतना सामान्य लेखक के बस की बात नहीं है किन्तु सचाई और तटस्थता के बल से ही जीवनी की सफलता और सार्थकता सुरक्षित रह सकती है। इससे स्पष्ट है कि जीवनी का मौलिक पावन अस्तित्व उसकी वस्तुपरकता है।

जो दो मत जीवनी के सम्बन्ध में हैं वे ही आत्मकथा के सम्बन्ध में भी हैं। फिर भी दोनों में अन्तर है। जीवनी का लेखक नायक से भिन्न होता है, किन्तु आत्मकथा का नायक ही लेखक भी होता है। जीवनी अपनी परिधि में नायक के आचरण वृत्तान्त को समाविष्ट कर सकती है, किन्तु आत्मकथा में यह बात लगभग असम्भव है।

आत्मकथा उत्तम पुरुष में लिखी जाती है और जीवनी अन्य पुरुष में। इस माप-दण्ड के आधार पर यही सिद्ध होता है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' जीवनी नहीं है क्योंकि वह उत्तम पुरुष में लिखी गई है। जीवनी तो वह इसलिये भी नहीं है कि उसमें लेखक और नायक में अभेद दिखलाया गया है।

अथकथा

नाम और कुछ लक्षणों से ऐसा आभास मिलता है कि यह रचना आत्मकथा होगी किन्तु यह निर्णय उपन्यास के साथ करने का है और विस्तार लेगा। अतएव यहाँ अर्ध-कथा के सम्बन्ध में विचार कर लेना ही उचित होगा। स्वर्गीय पं० रामकृष्ण शुक्ल

'शिलीमुख' इसे 'अर्द्ध कथा' मानते थे। इससे भी अपूर्णता का आभास मिलता है सम्भवतः यही मुखर्जी की मान्यता का कारण रहा हो। अपूर्णता का आभास तो इसलिये होता है कि इसको आत्मकथा के फ्रेम में बैठाने का उपक्रम किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आगे वाला प्रतिकरण आत्मकथा को अधूरी सिद्ध कर सकता है। स्वयं सम्पादक ने यह कहकर कि 'बाणभट्ट की कादम्बरी की भाँति यह रचना भी अपूर्ण है' पाठकों के भ्रम के लिए पर्याप्त कारण प्रस्तुत कर दिया है। मुखर्जी के भ्रम का एक कारण यह भी हो सकता है। वास्तव में अपनी शैली में यह कृति अधूरी कथा नहीं है। अधूरी-जैसी प्रतीत होना तो इसकी एक विशेषता है, एक कुतूहल की सृष्टि है जो इसको अधिक साहित्यिक सिद्ध करती है।

आत्मकथा या उपन्यास

यदि बाणभट्ट की आत्मकथा इतिहास नहीं जीवनी नहीं और अर्द्ध कथा भी नहीं तो क्या 'आत्मकथा' ही है जैसा कि उसके नाम से प्रतीत होता। यह रचना उत्तमपुरुष में है और लेखक और नायक में अभेद भी दिखाया गया है। इस शैली के पर्दे के पीछे इस कृति को 'आत्मकथा' के प्रतिबिम्ब में व्यक्त किया गया है पर वास्तव में यह आत्मकथा नहीं है, क्योंकि इसके विरोध में अन्य तर्कों के साथ एक यह भी है कि इसमें भावनाओं और कल्पनाओं का प्रचुर पुट है। साथ ही इसमें रस-योजना का प्रयत्न और किसी बड़े ध्येय या सत्य की प्रेरणा भी है। इस रचना में जो वर्णन दिये गये हैं उनमें बहुत-से रस-निष्पत्ति की दृष्टि से ही आयोजित किये गये हैं।

घटनाएँ साहित्यिक कथावस्तु के चौखटे में व्यवस्थित हैं। वर्तमान युग की अनेक समस्याओं को इतिहास के फ्रेम में जड़कर सच्चा-जैसा दिखलाने का प्रयत्न भी किया गया है पर इतिहास उन सबका साक्षी नहीं है। चरित्र-चित्रण के प्रति भावात्मक प्रयास भी 'आत्मकथा' को आत्मकथा सिद्ध करने में बाधक होता है। इसके अतिरिक्त कथामुख और उपसंहार में जो सूत्र दिये हैं उनसे भी इस कृति का आत्मकथा होना असिद्ध होगया है।

पाठकों और आलोचकों के सामने इस अभिनव प्रयोग के कारण अक्सर निर्णय का प्रश्न खड़ा हो जाता है। प्रश्न यह है कि आत्मकथा और उपन्यास में से इसे क्या कहा जाये।

ऊपर संकेत किया जा चुका है कि आत्मकथा के निर्णय का मूलाधार उसका लेखक होता है। वह स्वयं अपने जीवन का ब्यौरा देता है। उपन्यास का लेखक आत्मेतर किसी नायक के सम्बन्ध में उसकी रचना करता है, भले ही वह नायक या किसी अन्य पात्र की आत्मा में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्रविष्ट रहे। आत्मकथा की भाँति वह उपन्यास में अपने जीवन की कथा प्रत्यक्ष रूप से नहीं कह सकता।।

उपन्यास की अपेक्षा आत्मकथा का लिखना बहुत सरल है क्योंकि उसका कोई

विशेष 'टैकनीक' नहीं होता, किन्तु उपन्यास का 'टैकनीक' होता है जिसमें दूसरे के जीवन की झाँकी प्रस्तुत की जाती है। आत्मकथाकार अपने जीवन की सब घटनाओं को चित्रित कर सकता है, किन्तु उपन्यासकार अपने नायक के जीवन की प्रमुख घटनाओं का ही उपयोग करता है—वह केवल उन घटनाओं का उपयोग करता है जो उसकी कृति को सरस और प्रभावशाली बनाएँ। वह अपने नायक के जीवन के मार्मिक स्थलों को छाँटकर उन्हीं की व्यवस्था से उसे सफल बनाने की चेष्टा करता है। अतएव उसका काम सामान्य पर्यवेक्षक का नहीं है, अपितु एक सूक्ष्म द्रष्टा का होता है जिसकी दृष्टि शीघ्र ही मर्मस्थल पर पहुँच जाती है।

उपन्यास के पात्र, स्थान आदि कल्पित भी हो सकते हैं, किन्तु आत्मकथा में कल्पना के लिए कोई अवकाश नहीं होता। यह ठीक है कि उपन्यास की कथावस्तु प्रख्यात भी हो सकती है किन्तु उत्पाद्य और मिश्रित कथावस्तु उपन्यास में कल्पना के स्थान को अधिक निश्चित कर देती है। अधिकांशतः यही देखा जाता है कि उपन्यासों में कल्पित कथा-वस्तु का ही विशेष उपयोग किया जाता है। उपन्यास के रोमांस तत्व की सजावट तो कल्पना से ही होती है।

आत्मकथा की वस्तु में विन्यास की समस्या नहीं उठती और न वह कल्पना का ही सहारा खोजती है। आत्मकथाकार 'अपनी वस्तु' को कहीं बाहर से नहीं ला सकता। उसकी निर्मिति भूत और वर्तमान की सीमाओं में ही हो सकती है, भविष्यत् से आत्मकथा का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

आत्मकथा की कथावस्तु में इतिहास का अंश हो सकता है, किन्तु वह सबको सब ऐतिहासिक नहीं होती है। उसमें इतिहास का अंश इसलिए होता है कि उसमें आत्मकथा-कार के अतीत की झाँकी भी रहती है, किन्तु उपन्यास में 'ऐतिहासिक भूत' अनिवार्य नहीं है।

उपन्यास की कथावस्तु का अवसान किसी लक्ष्य में होता है। उसकी सब घटनाएँ उसी की ओर मुड़ती चली जाती हैं। आत्मकथा का अवसान किसी लक्ष्य में नहीं होता अतएव उसकी घटनाओं में किसी लक्ष्य की प्रेरणा से पारस्परिक सम्बन्ध की योजना नहीं दिखाई देती।

कला उपन्यास को सौन्दर्य प्रदान करती है और सुन्दर तात्विक योजना ही उसकी सफलता है। उपन्यास इस योजना की उपेक्षा नहीं कर सकता। आत्मकथा कला को उतना ही आश्रय देती है जितना सत्य-विवरण के लिए अपेक्षित होता है। जिस प्रकार कुतूहल और औत्सुक्य उपन्यास में आवश्यक समझे जाते हैं, उस प्रकार आत्मकथा में नहीं समझे जाते, प्रत्युत आत्मकथा में सामान्यतः उनके लिए कोई अवकाश नहीं होता। उपन्यास-

कार के सामने कितनी ही शैलियाँ हैं। वह उनमें से किसी को अपना सकता है, किन्तु आत्मकथाकार के सामने कोई विकल्प नहीं होता।

आत्मकथा का अन्त कहाँ होना चाहिये, यह उसके स्रष्टा के वश कि बात नहीं है। अतः आत्मकथा में किसी निश्चित उद्देश्य की योजना नहीं हो सकती, किन्तु उपन्यास में एक निश्चित उद्देश्य होता है। जब तक आत्मकथा यथातथ्यता की भूमिका पर प्रतिष्ठित रहती है वह अपने अभिप्राय को पूर्ण करती है अन्यथा उससे विचलित होकर असफल हो जाती है। जो कुछ हुआ है, आत्मकथा तो केवल उसी से सम्बन्धित होती है और उपन्यास 'जो कुछ हो सकता है' उससे भी सम्बन्धित हो सकता है। अतएव 'जो कुछ नहीं हुआ है', उपन्यास के क्षेत्र में वह भी आ सकता है। उपन्यास के नायकादि पात्रों के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। उपन्यास के पात्र कल्पनाशीलता के गर्भ से भी उत्पन्न हो सकते हैं जबकि आत्मकथा का नायक (अन्य पात्र भी) सत्य-प्रसूत होता है।

आदर्श की दृष्टि से उपन्यासकार उसकी सृष्टि कर सकता है किसी कल्पित आदर्श की स्थापना कर सकता है किन्तु आत्मकथाकार ऐसा करने में असमर्थ होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मकथा में न तो उपन्यास का सा वस्तु-विन्यास होता है न वह कसावट और उद्देश्य ही। तर्क और उक्तियों की चुस्ती, संवादों की सजीवता, वर्णन की रंगसाजी कल्पना की उड़ान वस्तु का अवसान कुतूहल उत्पन्न करने की चेष्टा और कथाचातुर्य भी उपन्यास की ही विशेषता है।

उपन्यास अपनी काया के विकास के लिए अपना सर्वस्व अपने कर्ता को समर्पित करके उसका मुँह ताका करता है। इतना ही नहीं अपनी सप्राणता के लिए भी वह उसी के सामर्थ्य की अभिलाषा रखता है किन्तु आत्मकथा इन सबके प्रति निरपेक्ष-भाव रखती है क्योंकि उसकी काया में झूठी माया का कोई योग नहीं होता है।

इस प्रकार आत्मकथा और उपन्यास का स्थूल अन्तर लेखक, कल्पना और उद्देश्य में निहित होता है, जिसमें वस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण शैली देशकाल और उद्देश्य—सभी समाविष्ट हो जाते हैं।

बाणभट्ट की आत्मकथा' का लेखक बाणभट्ट नहीं है। कल्पनाओं के सम्बन्ध से वह उसकी सही जीवनी भी नहीं है अपितु एक व्यवस्थित वस्तु-विन्यास विविध पात्रों की सीमा में चरित्र की रेखाओं से प्राचीन और अर्वाचीन वातावरण के योग से एक सरस उद्देश्य की झाँकी देता है। झाँकी है गूढ़ और अतृप्त प्रेम की जिसकी तृप्ति और निर्वाह एक समस्या है।

इन सब कारणों से 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को आत्मकथा शैली में लिखा हुआ उपन्यास कहना ही अधिक समीचीन है। स्वयं लेखक ने इसे 'कहु कुछ नामरी शैली' में लिखी हुई अभिनव रचना माना है। ऐसे प्रयोग पाश्चात्य साहित्य में तो हुए ही हैं भारतीय साहित्य में भी बहुत हुए हैं। बंगला में स्वर्गीय डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर का 'घर

बाहर' इसी शैली में एक सुन्दर साहित्यिक प्रयोग है। हिन्दी-साहित्य में अज्ञेय इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र आदि उपन्यासकारों ने भी यदि हू-ब-हू इस शैली का नहीं तो इससे मिलती-जुलती शैली का प्रयोग किया है।

वर्णनपुष्ट कहानीमात्र

कभी-कभी आलोचक की कलम से यह आवाज भी उठ खड़ी होती है कि 'बाण भट्ट की आत्मकथा आत्मकथा शैली में लिखी हुई वर्णनपुष्ट कहानीमात्र है। वास्तव में यह आवाज भी अपनी कुछ अहमियत रखती है क्योंकि आज जिस प्रकार उपन्यासकार छोटे-छोटे उपन्यास भी लिखते हैं उसी प्रकार कहानीकार बड़ी-बड़ी कहानियाँ भी लिखते हैं। आज की बड़ी से बड़ी कहानी किसी छोटे से छोटे उपन्यास से बड़ी हो सकती है किन्तु कलेवर के आधार पर इस कृति का परखना उसके साहित्यिक तत्वों की उपेक्षा करना है। उपन्यास और कहानी का कलेवर किसी मौलिक अन्तर को स्पष्ट नहीं कर सकता। दोनों का मौलिक अन्तर संवेदना और घटना से सम्बन्ध रखता है। उपन्यास किसी घटना चक्र को लेकर चलता है और कहानी में उस चक्र के लिए कोई अवकाश नहीं होता। आज की कहानी तो घटना को छोड़कर किसी संवेदना के गर्भ से ही जन्म ग्रहण कर लेती है। फिर भी घटनाप्रधान कहानियों के उदाहरण मिलते हैं, किन्तु अनेक घटनाओंवाली कहानियाँ 'उपन्यास' के कलंक से मुक्त नहीं कही जा सकतीं। यदि बाणभट्ट की आत्मकथा को 'वर्णनपुष्ट कहानीमात्र' कहा जाये तो यह इसके टेक्नीक के साथ घोर अन्याय होगा। यह मान्यता न केवल उसके साहित्यिक मूल्य की अवमानना होगी अपितु उसके कला-सौन्दर्य की क्रूर उपेक्षा भी होगी।

'इसमें सन्देह नहीं है कि बाणभट्ट की आत्मकथा में जो वस्तु-सूत्र संकलित किये गये हैं उनके जुड़ने से एक छोटा-सा कथानक ही तैयार होता है और यह भी सही है कि इस छोटे से कथानक को वर्णनों का पूरा बल मिला है, किन्तु अनेक समस्याओं के साथ-साथ जिन घटनाओं ने बाणभट्ट के व्यक्तित्व से अपना सम्बन्ध जोड़ा है, वे मूल कथा के साथ कुछ प्रसंगों की सृष्टि भी करती चलती हैं। निउनिया के सम्पर्क से भट्टिनी की दुर्दशा का परिचय पाकर उसकी मुक्ति के लिए बाणभट्ट का प्रयत्न इस कृति की आधिकारिक कथावस्तु है तथा धर्मोपदेश अघोरभैरव एवं महामाया सुचरिता एवं विरतिवज्र महापाशुपतिक-क्रिया आदि प्रासंगिक कथाएँ हैं। इन्हीं से सारे उपन्यास का ताना-बाना तैयार हुआ है। वस्तु का यह सम्बन्ध-सूत्र इसकी औपन्यासिक रोमांस के पद पर ही प्रतिष्ठित करता है।

इस विवेचन के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' न तो इतिहास है न जीवनी, न मात्र कथा न आत्मकथा और न वर्णनपुष्ट कहानी है वरन् एक साहित्यिक जादूगर के मानसिक स्पर्शों का मनोहर एवं कुतूहलपूर्ण परिणाम है जो स्पष्टतः आत्मकथा शैली का रोमांस है जिसमें डायरी शैली का भी कुछ योग है।

नामकरण और उसकी सार्थकता—

अन्यत्र यह निर्णय किया जा चुका है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आत्मकथा नहीं है। यह तो एक रोमांस है। फिर इसका यह नाम क्यों रखा गया है? इसका यह नाम रखने का क्या प्रयोजन है और क्या यह नाम सार्थक है? यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है।

नामकरण के अनेक आधार हैं। किसी रचना का नाम वस्तु, किसी का विषय किसी का पात्र, किसी का स्थान, किसी का कुल और किसी का नामकरण मुख्याय, परिस्थिति या भाव के आधार पर रखा जाता है। इनके अतिरिक्त नामकरण के और भी बहुत से आधार हैं। साकेत पंचवटी पद्मावत रत्नावली, मृगनयनी, टेसू के फूल, रघुवंश प्रियप्रवास रजनीगंधा आदि नाम उक्त आधारों पर ही रखे गये हैं।

प्रस्तुत कृति का नामकरण इसके प्रमुख पात्र बाणभट्ट के नाम पर हुआ है। बाणभट्ट इस कथा का नायक है जिसमें उसके जीवन की घटनाओं का विवरण है, परन्तु इस नाम ने साहित्य जगत में एक भ्रांति फैला दी है। इस नाम से पाठक बड़े असमंजस में पड़ जाता है। इसको कुछ आलोचकों ने कुछ बड़ी बजान से, 'साहित्यिक छल' कहा है किन्तु मैं इसको कवि की प्रतिभा का उत्कर्ष समझता हूँ। वास्तव में डा० द्विवेदी की यह बड़ी भारी सफलता है कि वे कल्पना पर इतिहास का मुलम्मा चढ़ाने में कृतकार्य दिखाई पड़ते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि मुलम्मे को हम सोना समझ रहे हैं। मुलम्मा चढ़ाने वाला यह कहता है कि "पहिचानो यह नये ढंग का सोना है।" फिर भी हम उसके रूप पर मुग्ध हो जाते हैं।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखकर इसके लेखक ने—

(१) इसकी सफलता का श्रेय बाणभट्ट को दे दिया है,

(२) बाणभट्ट की प्रतिमा के भीतर से आवाज दी है कि इसके बनाने वाले को पहिचानो

(३) पाठकों के भ्रम को विश्वास में परिणित करने के लिए शैली का साम्य पैदा किया है बाणभट्ट की शैली का अनुकरण किया है,

(४) गवेषकों के लिए एक समस्या पैदा कर दी है,

(५) साहित्य को एक अभिनव प्रयोग दिया है, और

(६) आलोचकों के मतभेद के लिए अवसर दिया है।

आत्मकथा-शैली नवीन नहीं है, किन्तु कथामुख और उपसंहार के तथाकथित प्रमाणों ने चातुरी के असर से इस कथा को वास्तव में एक अभिनव प्रयोग सिद्ध कर दिया है। निबन्धों कहानियों जीवनियों और उपन्यासों में ऐसे प्रयोग होते रहे हैं। आत्मकथात्मक निबन्धों में एकमात्र लेखक ही पात्र होता है। उनमें चिन्तन की प्रधान-

लिखा होती है तथा कोई उद्देश्य दृष्टिगत नहीं होता। आत्मकथात्मक कहानियों में पात्र तो और भी हो सकते हैं किन्तु उद्देश्य अवश्य होता है। भावना का प्राधान्य और वर्णन-माधुर्य अपेक्षाकृत कम होता है। संवेदना लेखक के अन्तर की होती है। जीवनी जब लेखक की अपनी होती है तो वह आत्मकथा बन जाती है किन्तु नायक की कहानी नायक की जबान से वर्णित होने पर एक अन्य शैली का रूप ले लेती है। 'शेखर एक जीवनी' इसी प्रकार की कृति है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' बाणभट्ट की कहानी है, जिसको पं० हजारीप्रसादजी ने लिखा है। उन्होंने 'परकायप्रवेश' की बात कही है जो इस नामकरण में सार्थक हो रही है। समझनेवाले इसे यह भी समझ सकते हैं कि बाणभट्ट की आत्मा डा० द्विवेदी में प्रविष्ट होकर अपनी कहानी कह रही है किन्तु मैं यह समझता हूँ कि डा० द्विवेदी बाणभट्ट के अन्तर में प्रवेश करके जो कुछ टटोल पाये हैं उसी को हमारे सामने लिखकर रख रहे हैं। डा० हजारीप्रसाद की द्वारा बाणभट्ट के अन्तर की गवेषणा के दो पहलू हैं एक तो ऐतिहासिक और दूसरा काल्पनिक या आनुमानिक। पहले पक्ष की ऐतिहासिक सामग्री बाणभट्ट की कृतियों या इतिहास के आधार पर जुटायी गयी है और दूसरे प्रकार की सामग्री वातावरण और परिस्थितियों के सदर्भ में कल्पना या अनुमान से तैयार की गई है जिसमें लेखक की अपनी अनुभूतियों की भी कुछ प्रेरणा रही है।

नामकरण की उपयुक्तता इसमें है कि वह आकर्षक हो औत्सुक्य या कौतूहल वर्धक तथा विषय या वस्तु से उसका तालमेल भी बना रहे।

'इस नामकरण' में आकर्षण का अभाव नहीं है। बाणभट्ट एक ऐसा व्यक्ति है जिसने कादम्बरी हर्षचरित आदि ग्रन्थों की रचना करके संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि में अपना अपूर्व योग दिया है। अफसोस की बात है कि बाणभट्ट अपनी किसी भी कृति को पूर्ण न कर सका। ऐसे व्यक्ति की आत्मकथा का नाम सुनते ही पाठक के कान खड़े हो जाते हैं। सहसा उसके मस्तिष्क में यह विचार कौंध जाता है कि जो व्यक्ति अपनी किसी कृति को पूरी न कर सका क्या वह अपनी आत्मकथा पूरी कर सका होगा ? वह यह जानने के लिए उत्सुक हो उठता है कि जो इतना बड़ा कवि था उसके जीवन-रूप का निर्माण किन सूत्रों से हुआ होगा तथा किन-किन परिस्थितियों ने उसके काव्य को अधूरा रखवा दिया होगा। इस जिज्ञासा के मूल में यही नाम है अतएव इसका आकर्षण स्पष्ट है। सही बात तो यह है कि औत्सुक्य या कौतूहल के मूल में बाणभट्ट की ऐतिहासिक या साहित्यिक प्रसिद्धि है। जिसके सम्बन्ध में इतिहास भी कुछ अधिक न लिख पाया उसकी आत्मकथा न केवल इतिहास के पन्ने बढ़ानेवाली होगी वरन् उसकी नूतन प्रकाश भी देगी। इस कौतूहल को लेकर श्रोता पर पाठक की धुन सवार हुए बिना नहीं रह सकती।

नामकरण और उसकी सार्थकता—

अब यह निर्णय किया जा चुका है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आत्मकथा नहीं है। यह तो एक रोमांस है। फिर इसका यह नाम क्यों रखा गया है? इसका यह नाम रखने का क्या प्रयोजन है और क्या यह नाम सार्थक है? यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है।

नामकरण के अनेक आधार हैं। किसी रचना का नाम वस्तु, किसी का विषय, किसी का पात्र, किसी का स्थान, किसी का गुण और किसी का नामकरण उद्देश्य, परिस्थिति या भाव के आधार पर रखा जाता है। इनके अतिरिक्त नामकरण के और भी बहुत से आधार हैं। साकेत, पंचवटी, पद्मावत, रत्नावली, मृगनयनी, टेसू के फूल, रघुवंश, प्रियप्रवास, रजनीगंधा आदि नाम उक्त आधारों पर ही रखे गये हैं।

प्रस्तुत कृति का नामकरण इसके प्रमुख पात्र बाणभट्ट के नाम पर हुआ है। बाणभट्ट इस कथा का नायक है जिसमें उसके जीवन की घटनाओं का विवरण है, परन्तु इस नाम ने साहित्य जगत में एक भ्रांति पैदा की है। इस नाम से पाठक बड़े असमंजस में पड़ जाता है। इसको कुछ आलोचकों ने, कुछ इसी कारण से, 'साहित्यिक भूल कहा है किन्तु मैं इसको कवि की प्रतिभा का उत्कर्ष समझता हूँ।' वास्तव में डा० द्विवेदी की यह बड़ी भारी सफलता है कि वे कल्पना पर इतिहास का मुलम्मा चढ़ाने में कृतकार्य दिखाई पड़ते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि मुलम्मे को हम सोना समझ रहे हैं। मुलम्मा चढ़ाने वाला यह कहता है कि 'पहिचानो यह नये ढंग का सोना है।" फिर भी हम उसके रूप पर मुग्ध हो जाते हैं।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिखकर इसके लेखक ने—

(१) इसकी सफलता का श्रेय बाणभट्ट को दे दिया है,

(२) बाणभट्ट की प्रतिमा के भीतर से आवाज दी है कि इसके बनाने वाले को पहिचानो

(३) पाठकों के भ्रम को विश्वास में परिणित करने के लिए शैली का साम्य पैदा किया है बाणभट्ट की शैली का अनुकरण किया है

(४) अन्वेषकों के लिए एक समस्या पैदा कर दी है

(५) साहित्य को एक अभिनव प्रयोग दिया है, और

(६) आलोचकों के मतभेद के लिए अवसर दिया है।

आत्मकथा-शैली नवीन नहीं है किन्तु कथामुख और उपसंहार के तथाकथित प्रमाणों से चतुर्वेदी के कथन से इस कथा को वास्तव में एक 'अभिनव प्रयोग' सिद्ध कर दिया है। निबन्धों, कहानियों, जीवनियों और उपन्यासों में ऐसे प्रयोग होते रहे हैं। आत्मकथात्मक निबन्धों में एकमात्र लेखक ही पात्र होता है। उनमें चिन्तन की प्रधानता

लिखी होती है तथा कोई उद्देश्य दृष्टिगत नहीं होता। आत्मकथात्मक कहानियों में पात्र तो और भी हो सकते हैं किन्तु उद्देश्य अवश्य होता है। भावना का प्राधान्य और वर्णन-प्राचुर्य अपेक्षाकृत कम होता है। संवेदना लेखक के अन्तर की होती है। जीवनी जब लेखक की अपनी होती है तो वह आत्मकथा बन जाती है किन्तु नायक की कहानी नायक की जबान से वर्णित होने पर एक अन्य शैली का रूप ले लेती है। 'शेखर एक जीवनी' इसी प्रकार की कृति है।

बाणभट्ट की आत्मकथा बाणभट्ट की कहानी है, जिसको पं० हजारीप्रसादजी ने लिखा है। उन्होंने 'परकायप्रवेश' की बात कही है जो इस नामकरण में सार्थक हो रही है। समझनेवाले इससे यह भी समझ सकते हैं कि बाणभट्ट की आत्मा डा० द्विवेदी में प्रविष्ट होकर अपनी कहानी कह रही है किन्तु मैं यह समझता हूँ कि डा० द्विवेदी बाणभट्ट के अन्तर में प्रवेश करके जो कुछ टटोल लाये हैं उसी को हमारे सामने लिखकर रख रहे हैं। डा० हजारीप्रसाद जी द्वारा बाणभट्ट के अन्तर की गवेषणा के दो पहलू हैं, एक तो ऐतिहासिक और दूसरा काल्पनिक या आनुमानिक। पहले पक्ष की ऐतिहासिक सामग्री बाणभट्ट की कृतियों या इतिहास के आधार पर जुटायी गयी है और दूसरे प्रकार की सामग्री वातावरण और परिस्थितियों के सदर्भ से कल्पना या अनुमान से तैयार की गई है जिसमें लेखक को अपनी अनुभूतियों की भी कुछ प्रेरणा रही है।

नामकरण की उपयुक्तता इसमें है कि वह आकर्षक हो औत्सुक्य या कौतूहल वर्धक तथा विषय या वस्तु से उसका सम्बन्ध भी बना रहे।

इस 'नामकरण' में आकर्षण का अभाव नहीं है। बाणभट्ट एक ऐसा व्यक्ति है जिसने कादम्बरी हर्षचरित आदि ग्रन्थों की रचना करके संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि में अपना अपूर्व योग दिया है। संयोग की बात है कि बाणभट्ट अपनी किसी भी कृति को पूर्ण न कर सका। ऐसे व्यक्ति की आत्मकथा का नाम सुनते ही पाठक के कान खड़े हो जाते हैं। सहसा उसके मस्तिष्क में यह विचार कौंध जाता है कि जो व्यक्ति अपनी किसी कृति को पूरी न कर सका क्या वह अपनी आत्मकथा पूरी कर सका होगा ? वह यह जानने के लिए उत्सुक हो उठता है कि जो इतना बड़ा कवि था उसके जीवन-पट का निर्माण किन सूत्रों से हुआ होगा तथा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों ने उसके काव्य को मधुर रमना दिया होगा। इस जिज्ञासा के मूल में यही नाम है, अतएव इसका आकर्षण स्पष्ट है। बड़ी बात तो यह है कि औत्सुक्य या कौतूहल के मूल में बाणभट्ट की ऐतिहासिक या साहित्यिक प्रसिद्धि है। जिसके सम्बन्ध में इतिहास भी कुछ अधिक न लिख पाया उसकी आत्मकथा न केवल इतिहास के पन्ने बढ़ानेवाली होगी वरन् उसको नूतन प्रकाश भी देगा। इस कौतूहल को लेकर श्रोता पर पाठक की धुन सवार हुए बिना नहीं रह सकती।

कथामुख में प्रवेश करने पर तो नामकरण का आकर्षण और भी अधिक बढ़ जाता है। दीदी का प्रसंग एक उपन्यास है, जो शीर्षक की रोचकता तथा महत्ता को कहीं अधिक बढ़ा देता है। उपसंहार वास्तव में कथामुख का ही परिशिष्ट है और वह भी नामकरण के महत्त्व को प्रतिष्ठित करता है।

जो नाम कथावस्तु की यथातथ्यता में विश्वास को दृढ़ कर देता है वह सार्थक है और जो वास्तविकता का साथी नहीं होता, वह सार्थक नहीं होता। बाणभट्ट की आत्मकथा नाम को सुनकर ऐसा बोध होता है कि आत्मकथा का लेखक बाण है। बाण ही नायक है और उसी से सम्बन्धित कथा चलती रहती है। नाम का बस इतना ही काम है और वह इसकी पूर्ति करता है, अतएव सार्थक है।



४ कथा–वस्तु

यह कथा कादम्बरी तथा हर्षचरित के प्रणेता महाकवि बाणभट्ट को कथानायक बना कर अग्रसर हुई है। इसमें लेखक ने बाण के चरित पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री का संकलन और उपयोग तो किया ही है साथ ही काल्पनिक प्रसंगों की प्रचुर उद्भावना से भी उसकी गठन-कला को सहयोग दिया है। 'हर्षचरित' से पता चलता है कि बाण अपने कौमार्य में ही माता-पिता के संरक्षण से वंचित होकर कुछ-कुछ उच्छृंखल हो गया था। इस अवस्था में उसकी कुछ शैशवकालीन चपलताएँ भी संकेतित की गई हैं। बाण को देशाटन का बड़ा चाव था। अनेक देश-देशान्तरों को देखने के लिए उसका कौतूहल बढ़ा और विद्या और सम्पत्ति की पात्री होते हुए भी वह घर से निकल पड़ा जिससे वह बड़ों के उपहास का पात्र बना।

वह जिस ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुआ था उसकी अपनी निष्ठाएँ थीं। फिर भी अपने साथियों में विभिन्न स्तरों और श्रेणियों के लोग सम्मिलित करके उसने अपनी उदारता और सहाशयता का परिचय दिया। उसकी मण्डली में पुरुष और स्त्री, वैज्ञानिक एवं कलाकार, बौद्ध-भिक्षु तथा जैन-भिक्षु, गृहस्थ एवं परिव्राजक—सभी प्रकार के लोग थे। बाण ने लम्बा देशाटन किया और अपने यात्रा-प्रवास में उसे राजकुलों गुरुकुलों गुणियों और विद्वानों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला।

सम्राट् हर्ष के चचेरे भाई कुमार कृष्णवर्धन के आमन्त्रण पर बाण हर्ष की राज-सभा में उपस्थित हुआ। उसका परिचय पाकर सम्राट ने समीपस्थ मालवराज के पुत्र (माधव गुप्त ?) से कहा—"यह महान् भुजंग है। इससे बाण खिन्न हो उठा और अपने कुल और गुणवर्णन के साथ उसने राजा से पूछा– 'राजा ने उसकी क्या सम्पटता देखी है ?" "हम लोगों ने ऐसा सुना था" यह कह कर सम्राट् चुप हो गया। उसने सम्भाषण आसन आदि से बाण का सत्कार न करते हुए भी स्निग्ध दृष्टिपातों से अपनी अन्तःप्रीति व्यक्त की। अपने निवास पर वापस लौटकर वह फिर सम्राट् के आमन्त्रण पर ही राज-भवन में गया, जहाँ उसे प्रचुर सम्मान प्रेम, विश्वास धन और मित्रोचित परिहास की प्राप्ति हुई।

'हर्षचरित' में बाण ने अपने कुल और स्वभाव का वर्णन करते हुए हर्ष के सम्पर्क का भी विस्तृत वर्णन किया है। इससे यह सरलता से अवगत हो सकता है कि विद्या, काव्य और कला के उपलाभ के साथ बाण को उदार हृदय भी उपलब्ध हुआ था। मानव

की दुर्बलता में अन्तर्निहित महत्ता का भी उसे सम्यक बोध था। 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' के बाण का परिचय प्रेम और सौन्दर्य के आदर्श से भी था, यह बात पाठक भली-भाँति जान सकते हैं।

बाण के युग, स्वभाव और सदाचारत्व को स्थापित करनेके उद्देश्य से ही 'बाण भट्ट की आत्मकथा' की सृष्टि हुई है। बाण हर्ष कुमारगुप्त, भावक भट्टु शर्मा राज्यश्री आदि कुछ पात्र इतिहास से अनुमोदित हैं किन्तु इतर पात्रों के साथ अनेक घटनाओं और वर्णनों को कल्पना में ऐतिहासिक वातावरण को प्रकाशित होने का समुचित अवसर मिला है। निपुणिका भट्टिनी महामाया सुचरिता आदि अनेक पात्रों और उनके प्रसंगों की सृष्टि में लेखक की उर्वर कल्पना का सहयोग अविस्मरणीय है। कल्पना ने इतिहास का सयोजन इस प्रकार से किया है कि ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र और तत्कालीन वातावरण के चित्रण में कोई असंगति नहीं आने पाई है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि आत्म कथा के लेखक ने ऐतिहासिक बाण के चरित्र की स्थूल रेखाओं में कल्पना का कलात्मक रंग भर कर उसको पुनरुज्जीवित किया है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आत्मकथा का केन्द्र बिन्दु बाणभट्ट के व्यक्तित्व में निहित है। जो वात्स्यायन-वंश इतना प्रख्यात था जिसमें बड़े उच्चस्तरीय पंडितों और विद्वानों ने जन्म लिया था उसी में बाण का भी जन्म हुआ।

बाण चित्रभानु भट्ट का पुत्र था। चित्रभानु बड़े कर्मिष्ठ ब्राह्मण थे। वे ग्यारह भाई थे। बाण की माँ का देहावसान बाण के बाल्य-काल में ही हो गया था। बाद में चित्रभानु ने उसका लालन-पालन बड़े स्नेह से किया। बाण अभी १४ वर्ष का ही था कि पिता भी स्वर्गवासी हो गये। उस समय उनके एक चचेरे भाई उडुपति ने जो उम्र में बाण से बहुत बड़े थे उसको उस स्नेह से सिंचित किया जो उसने बाल्यकाल में अपनी माता से पाया था। आयु में बहुत बड़े होते हुए भी उडुपति बाण के साथ समवयस्क का-सा व्यवहार करते थे। उस पर उडुपति का जितना प्रेम था उतना परिवार में उसके ऊपर और किसी का नहीं था। बाण को अनेक अपकर्मों से बचाने में उडुपति का विशेष योग था।

उडुपति प्रसिद्ध तार्किक थे। वसुभूति नामक बौद्ध भिक्षु को शास्त्रार्थ में उन्होंने ही पराजित किया था। उनकी विद्वत्ता और सुचरित्रता का प्रभाव महाराजाधिराज हर्षवर्धन पर बहुत पड़ा था। उनके प्रभाव से ही महाराजा एकदम वैदिक मत की ओर प्रवृत्त हो गये थे।

पिता की मृत्यु के बाद उडुपति भट्ट की बड़ी अनुकम्पा होते हुए भी बाणभट्ट का वही हाल हुआ जो बहुधा बिन-माँ-बाप के बच्चों का हुआ करता है। वह आवारा हो गया और नगर-नगर, जनपद-जनपद में बरसों मारा-मारा फिरता रहा। कभी वह नट बना

कभी उसने पुतलियों का नाच दिखाया, कभी नाट्य-मण्डली संगठित की और कभी पुराण वाचक का स्वांग रचा। उसे दो गुण प्राप्त थे—रूपवान था और यशी भी था। उसके बहुविध कार्य-कलाप को देख कर लोग उसे 'भुजंग' समझने लगे थे।

एक दिन वह घूमता-घामता स्थाण्वीश्वर (थानेसर) नगर में आ पहुँचा। नगर में बड़ी धूमधाम थी। राजमार्ग पर बड़ी भारी भीड़ थी एक बड़ा जुलूस चला आरहा था उसमें स्त्रियों की संख्या अधिक थी। अनेक नृत्य-गीत होते जारहे थे। उस जुलूस को बाण-भट्ट चौराहे पर खड़ा होकर बड़े मुग्ध भाव से देखने लगा। भीड़ के दूर निकल जाने पर नगरवासियों से उसे पता चला कि महाराजाधिराज हर्षवर्धन के भाई कुमार कृष्णवर्धन के घर पुत्र-जन्म हुआ है और आज नामकरण-संस्कार होने जारहा है।

उस समय बाण को अपना जीवन स्मृत हो आया। 'माँ गईं पिता गये और मैं अनाथ हो गया'—यह याद करके बाण का हृदय मचलने लगा। उसे याद आया कि मेरे जीवन में जो कुछ सार है वह मेरे पिता का स्नेह है। उसी से मैं बिगड़ा भी और बना भी। उसे शोक-संताप के अनुभव के साथ आत्म-ग्लानि भी हुई और उसके मन में आया कि पुत्र-जन्म के अवसर पर कुमार कृष्णवर्द्धन को बधाई दे आऊँ।

इस कामना ने उसे कुमार के भवन की ओर प्रेरित किया। मार्ग में निपुणिका की पान की दुकान थी। निपुणिका ने बाण को पहिचान लिया और उसके पुकारने पर उसने रुक कर देखा तो अपनी नाट्यशाला की निउनिया को देख कर वह विस्मय-विमुग्ध हो उठा। वह बाण को प्यार करती थी। अपने प्यार को ठेस पहुँची देख कर एक दिन वह नाट्य-मण्डली छोड़ कर भाग आई थी। उसके चले आने पर बाण ने अपनी नाट्य मण्डली तोड़ दी थी।

अपनी विगत कथा कह चुकने के उपरान्त निउनिया ने बाण को बतलाया कि मौखरि-वंश के छोटे महाराज के घर में एक महीने से एक अत्यन्त साध्वी राजकुमारी अपनी स्वेच्छा के विरुद्ध आबद्ध है। फिर उसने डब-डबाई आँखों से कहा— 'भट्ट वह अशोक-वन की सीता है—तुम उसका उद्धार कर अपना जीवन सार्थक करो।' नारी-शरीर को देव मन्दिर समझने वाला सहृदय बाण सहमत हो गया और स्त्री-वेष बना कर निउनिया के साथ राजगृह में पहुँच गया। दोनों के सम्मिलित प्रयास से राजकन्या का (जिसे बाण भट्टिनी कहने लगा था) उद्धार हुआ। बाण को ज्ञात हुआ कि वह विषम समर-विजयी बाल्हीक-विमर्दन अत्यन्त दारुण देवपुत्र तुवरमिलिन्द की आत्मजा है जो अत्यन्त दस्युओं से अपहृत होकर दुर्भाग्य के चक्र में पड़ गई है।

प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य सुगतभद्र ने भट्टिनी का समाचार जान कर कुमार हर्षवर्द्धन को बुलवाया और उसे समग्र स्थिति से अवगत करा दिया। भट्टिनी को स्थाण्वीश्वर के

राजकुल से इतनी घृणा हो गई थी कि वह राजकुल से सम्बद्ध किसी व्यक्ति के संरक्षण में रहने को तैयार न थी। निपुणिका और बाण के समक्ष राजदण्ड का भय था अतएव भट्टिनी और निपुणिका को लेकर बाण ने मगध की ओर चले जाने का निश्चय कर लिया। कुमार कृष्णवर्धन का सहयोग पाकर एक नौका द्वारा गंगा के मार्ग से बाण मगध की ओर चल दिया। संरक्षण के लिए इन लोगों के साथ चुने हुए मौखरि-वीर थे।

चरणाद्रि दुर्ग से आगे बढ़ने पर ईश्वरसेन (आभीर सामन्त) के सैनिकों को इन पर सन्देह हो गया। नाव को पकड़ने के प्रयत्न में दोनों में युद्ध आरम्भ हो गया। इसी समय भट्टिनी गंगा में कूद पड़ी। उसे बचाने के लिए पहले निउनिया और फिर बाण भी कूद पड़ा। बड़ी कठिनाई से बाण भट्टिनी को किनारे पर लाया, किन्तु इस प्रयास में भट्टिनी के परमाराध्य महावराह की मूर्ति गंगा में ही विसर्जित करनी पड़ी। इस संकट-काल में उनको भैरवी महामाया की बड़ी सहायता मिली। निउनिया को खोजता हुआ बाण चण्डी तीर्थ पर चण्डी देवी के मन्दिर पर मोह-मुग्ध-सा खिंचा हुआ चला आया जहाँ अघोर घण्ट और चण्डमण्डना ने उसे देवी के समक्ष बलि देने का अनुष्ठान किया। इसी समय भट्टिनी और निपुणिका के साथ महामाया वहाँ पहुँच गई बाण की रक्षा की और उसे अघोर भैरव की शरण में ले गई। तीन दिन तक बाण संज्ञा-शून्य पड़ा रहा। होश लौटने पर उसने भट्टिनी और निपुणिका के साथ अपने को भद्रेश्वर दुर्ग के आभीर सामन्त लोरिकदेव का अतिथि पाया। इसके पश्चात् बाणभट्ट अकेला ही स्थाण्वीश्वर गया और कुमार कृष्णवर्धन की सहायता से वह राजा के समक्ष पहुँचा। पहले कुछ अवहेलना और उपेक्षा भाव दिखाने के बाद राजा ने बाण को उचित सम्मान दिया और अपना राजकवि नियुक्त कर दिया। कुमार कृष्णवर्धन ने भट्टिनी को स्थाण्वीश्वर ले आने के लिए बाण से अनुरोध किया और उसे समझाया कि वह भट्टिनी को सम्राज्ञी राज्यश्री का आतिथ्य स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत करे।

बाण के भद्रेश्वर लौटने पर उससे यह समाचार पाकर निपुणिका बड़ी उत्तेजित हुई। यह प्रस्ताव भट्टिनी को भी रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। भट्टिनी की वास्तविकता का परिचय पाकर लोरिकदेव ने उसका एक समारोह में राजकीय सम्मान किया। उधर आचार्य भर्वुशर्मा का वह पत्र जिसमें यह सन्देश था कि 'प्रत्यन्त दस्यु पुनः आ रहे हैं और कन्या के विरह से उदासीन देवपुत्र तुवर मिलिन्द को पुनः युद्धभूमि के लिए प्रोत्साहित करने के लिये उनकी पुत्री का पता लगाया जावे', जन-जन में प्रचारित हुआ। अन्त में यह निश्चय किया गया कि लोरिकदेव के एक सहस्र सैनिकों के साथ भट्टिनी स्वतन्त्र सम्राज्ञी के समान स्थाण्वीश्वर जायें और नगर से एक कोस की दूरी पर अपने स्कन्धावार में रहें।

इसी निश्चय के अनुरूप आचरण किया गया और कुमार कृष्णवर्धन ने भट्टिनी से मिलकर अपने सद्व्यवहार तथा मधुर भाषण से उनके मन के मैल को काट दिया।

कुमार ने शापित किया महाराज हर्षवर्धन की भगिनी (भट्टिनी) के प्रति अनुचित आचरण का उचित दण्ड मौखरि-वंश के छोटे राजा को अवश्य भोगना पड़ेगा।"

उस समय स्थाण्वीश्वर में उत्साह उमड़ रहा था। उसी समय वहाँ आचार्य भर्वु पाद भी आगये। उनके और महाराज के भट्टिनी के स्कन्धावार में आने के उपलक्ष्य में बाण ने 'रत्नावली नाटिका' के अभिनय का आयोजन किया। बाणभट्ट स्वयं राजा बना, प्रसिद्ध नर्तकी चारुस्मिता रत्नावली बनी और निपुणिका वासवदत्ता की भूमिका में उतरी। बहुत सुन्दर अभिनय हुआ। निपुणिका ने उन्माद बरसा दिया। उसके हर्ष, प्रेम और शोक के अभिनय में वास्तविकता थी। अन्तिम दृश्य में जब वह रत्नावली का हाथ राजा (बाण) के हाथ में देने लगी, तो विचलित हो गई। उसके शरीर की एक-एक शिरा शिथिल हो गई। भरतवाक्य समाप्त होते-न-होते वह धरती पर लोट गई। दर्शकों की 'साधु-साधु' की आनन्द ध्वनि से दिगन्त काँप उठा। उसी समय यवनिका के पीछे निपुणिका के प्राण उड़ने की तैयारी कर रहे थे। दौड़ कर भट्टिनी ने उसका सिर अपनी गोद में ले लिया और बहुत कातर होकर चिल्ला उठी, 'हाय भट्ट, अभागिनी का अभिनय आज समाप्त हो गया, उसने प्रेम की दो दिशाओं को एक सूत्र कर दिया।' यह कहते-कहते भट्टिनी पछाड़ खाकर निपुणिका के मृत शरीर पर लोटने लगी।

निपुणिका का श्राद्ध समाप्त होते ही आचार्य भर्वु पाद ने बाण को पुरुषपुर जाने का आदेश दिया और तब तक भट्टिनी को स्थाण्वीश्वर में रहने का भी आदेश दिया। इस आदेश को सुन कर भट्टिनी का मुख विवर्ण हो गया और झुकी हुई आँखों को और भी झुका कर वे बाण से बोलीं 'जल्दी ही लौटना।' बाण ने कातर कण्ठ के बाष्परुद्ध वाक्य को प्रयत्नपूर्वक दबा लिया लेकिन उसकी अन्तरात्मा के अतल गह्वर से कोई चिल्ला उठा, "फिर क्या मिलना होगा?"

मूल कथा तो बस इतनी-सी ही है किन्तु इससे सम्बन्ध रखने वाले अनेक प्रसंगों की कल्पना की गई है जिनसे न केवल कथा विकसित होती है वरन् वातावरण के निर्माण और चरित्र-वर्णन में सहायता मिलने के साथ-साथ कथा की रमणीयता भी बढ़ती है। उज्जयिनी में निपुणिका के नृत्य और सौन्दर्य को देख कर उसमें 'मालविकाग्निमित्र' की मालविका को सामने पाकर बाण का खिलखिलाकर हँस पड़ना, उसकी हँसी से आहत होकर निपुणिका का उसके आश्रय से भाग निकलना, प्रसिद्ध नर्तकी मदनश्री के यहाँ आश्रय लेना, मदनश्री का बाण के प्रति अनुराग, धर्मिलक की दुकान पर निपुणिका का वामन-वेश में पान बेचना, प्रत्यन्त दस्युओं द्वारा भट्टिनी के अपहरण की कथा, महामाया भैरवी तथा अघोर भैरव से बाण की भेंट, महामाया (राज्यश्री की सखी)

द्वारा राजमहल छोड़ने और भैरवी बनने की कथा का वर्णन, सुचरिता और विरतिवज्र की कथा आदि अनेक प्रसंगों ने इस आत्मकथा को एक उद्देश्य और एक प्रभाव डालने की दिशा में प्रेरित किया है। उपर्युक्त प्रसंग बाण भट्टिनी और निपुणिका से सम्बन्धित होने के कारण मुख्य कथा से पृथक नहीं हैं अथवा यह कहना अनुचित न होगा कि ये मुख्य कथा के ही अङ्ग हैं। वस्तुतः महामाया अघोर भैरव विरतिवज्र और सुचरिता की कथाएं भी कुछ स्वतन्त्र प्रतीत होती हैं किन्तु लेखक ने मूल कथा के साथ उनका ग्रथन बड़ी कुशलता से किया है जिसमें तत्कालीन धार्मिक वातावरण के निर्माण में बड़ी सहायता मिली है।

४ रचना-शिल्प

बाणभट्ट की आत्मकथा रचना-शिल्प, इतिहास, समकालीन जीवन, धर्म और कला की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण कृति है। एक छोटे से कथावस्तु के ऊपर इतनी बड़ी रचना का खड़ा कर देना कोई सरल काम नहीं है। इस के बीज लेखक को 'हर्षचरित' के आदि में मिले हैं। इनका आरोपण ऐसे कौशल से किया गया है कि एक रम्य उपवन की सृष्टि हो गई है। हर्षचरित में बाण के प्रारम्भिक जीवन के कुछ सूत्र मिलते हैं, जिनमें उसके वंश का परिचय भी सम्मिलित है। हर्ष के वैभव समय और नैतिक और धार्मिक दृष्टिकोण से सम्बन्धित कुछ वर्णन-सूत्र यत्र तत्र में इधर-उधर और भी बिखरे मिल जाते हैं इन सबको सरलित करके आचार्य द्विवेदी जी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की नींव डाली है किन्तु इसके निर्माण में कल्पना के जिन सूत्रों से काम लिया गया है वे बड़े कुतूहल वर्धक हैं। कादम्बरी 'रत्नावली', 'हर्षचरित' से वर्णन लेकर कथा के समुत्व को प्रभुता में परिणित करने के लिए भी लेखक की ओर से बड़ा सफल प्रयत्न हुआ है। इस रचना को देखकर लेखक के शिल्पित्व के सम्बन्ध में चार प्रमुख बातें पाठक के सामने आती हैं —एक तो यह कि लेखक कल्पना का धनी है दूसरे यह कि लेखक कथा के मर्मस्थलों से परिचित है तीसरी बात वर्णन-प्राचुर्य से सम्बन्ध रखती है और चौथी बात जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण है वह यह है कि भाषा पर लेखक का अधिकार है।

हर्ष-चरित' के प्रारम्भ में बाण से सम्बन्धित जो सूत्र लेखक के सामने आते हैं वे कल्पना के अभाव में 'बाणभट्ट की आत्मकथा' जैसे किसी बड़े ग्रन्थ की रचना के लिए नितान्त अपर्याप्त थे किन्तु दीदी का प्रसंग, नये पात्रों की उद्भावना धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक वर्णनों की वैशालता और इतिहास को जन-जीवन की सेवा में नियुक्ति—ये कुछ ऐसी बातें हैं जो शीघ्र ही लेखक की कल्पना से सम्बन्ध जोड़ लेती हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कल्पना कौशल के बिना नितान्त दीन हीन बनी रहती है और कौशल भी कल्पना के योग से ही अपना चमत्कार प्रकट कर सकता है। कभी-कभी कल्पना और कौशल का इतना सहज सम्बन्ध हो जाता है कि दोनों को अलग-अलग करके देखना दुष्कर हो जाता है। यही कारण है कि दीदी के प्रसंग में कल्पना और कौशल का अलग अलग विश्लेषण करना दुष्कर सा प्रतीत होता है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि कल्पना कौशल की आत्मा है। कौशल दीपता है और कल्पना कौशल को प्रेरित करने वाली शक्ति है। दीदी का प्रसंग और उससे सम्बन्धित छोटे-मोटे उपप्रसंग कल्पना के बिना कौशल के किसी योग से इस रचना की निर्मिति में यह दुर्लभ योग नहीं दे सकते

है। दीदी (एक नहीं ऐसी दस दीदियाँ) 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को बनाने में कदापि सक्षम नहीं हो सकती थीं यदि शोण के बालुकामय तट पर दीदी को 'बाणभट्ट की आत्म कथा' की प्राचीन प्रति न मिली होती और उस प्रति का मिलना और न मिलना भी व्यर्थ होता यदि दीदी ने उसके संशोधन और टंकण कर का कार्य लेखक को न सौंपा होता अतएव 'बाणभट्ट की आत्म कथा' जैसी किसी रचना के प्रति पाठकों का विश्वास जमाने के लिए दीदी के साथ अनेक उपप्रसंगों की कल्पना आवश्यक थी। इस प्रसंग की कल्पना न केवल सम्पन्न है वरन् विश्वसनीयतापूर्ण भी है। कथा का उच्च प्रासाद कदाचित् अपूर्ण ही रह गया होता यदि इसमें आत्मकथा की कल्पना न की गई होती।

बाण की आत्मकथा जो 'हर्षचरित' की पंक्तियों के सिवा कहीं भी उपलब्ध नहीं होती है और बारह-तेरह शतियों के गर्भ में जिसको आज तक कोई भी कहीं खोज नहीं पाया है वह सहसा दीदी के हाथ लग जाये यह कैसे विस्मय की बात है। सम्भवतः पाठकों का विश्वास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की सत्ता पर कभी न हो पाता यदि लेखक ने उसकी उपलब्धि का श्रेय अपने आप ले लिया होता। विदेशी महिला की अन्वेषक प्रवृत्ति और उसके गवेषणात्मक प्रयत्नों को 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के उपलाभ का श्रेय सौंपकर लेखक मानो विश्वस्त हो गया है कि उसकी कल्पना पर किसी अविश्वास के लिए अवकाश नहीं रहा है।

यदि यह रचना आत्मकथा न होती तो उसका यह स्वरूप पाठक को कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता था। इस अधूरे स्वरूप के लिए कथा के किसी अन्य स्वरूप में कोई अवकाश नहीं था। इसके अतिरिक्त जो बाणभट्ट अपनी किसी रचना को पूर्ण न कर सका वह आत्मकथा को कैसे पूर्ण कर सका इस विस्मयात्मक सन्देह के शमन के लिए संभवतः लेखक के पास कोई उत्तर न होता। इस कारण आत्मकथा के रूप में ही इस रचना का पर्यवसान समीचीन समझा गया।

निपुणिका और भट्टिनी के प्रसंग मूल कथा के दो के प्रमुख सूत्र हैं। ये दोनों पात्र कल्पना प्रसूत हैं किन्तु इन दोनों पात्रों का संबन्ध थानेश्वर से हो जाने के कारण वे बाण की ऐतिहासिक यात्रा के एक अङ्ग से बन जाते हैं। यह ऐतिहासिक प्रसिद्धि है कि बाण सम्राट् हर्षवर्धन से मिलने के लिए उनके दरबार में गया था। इसी ऐतिहासिक सूत्र की आड़ में लेखक ने बाणभट्ट के साथ निपुणिका—विशेषतः निपुणिका और भट्टिनी के सम्बन्ध-सूत्र को तैयार किया है। कल्पना का यह सूत्र भी बहुत प्रौढ़ है क्योंकि इसके बिना दीदी का प्रसंग-सूत्र भी व्यर्थ सिद्ध हुआ होता। यह सूत्र बहुत आगे तक बढ़ा चला जाता है। मैं समझता हूँ आत्मकथा का पर्यवसान इसी सूत्र के किनारे पर होता है।

राज्यश्री भी ऐतिहासिक पात्र है। यह महाराज हर्षवर्धन की बहिन है। उसके [illegible] ने मार डाला था। राज्य श्री को प्राप्त करके कहा जाता है, हर्षवर्द्धन

में उनके साथ शासन की बागडोर संभाली थी। इस सूत्र को कूट-पीट और रँगकर लेखक ने कथा-पट में इस प्रकार विनिविष्ट किया है कि धार्मिक और राजनीतिक वातावरण को व्यक्त होने के लिए पर्याप्त अवसर मिल गया है।

सुचरिता कल्पित पात्र है। इससे मूल कथा के विकास को विशेष योग नहीं मिलता फिर भी धार्मिक और सामाजिक वातावरण को सामने लाने में सुचरिता के प्रसंग का योग विस्मरणीय नहीं है। यों तो और भी कल्पना-सूत्रों ने अपने-अपने ढंग से आत्मकथा के निर्माण में योग दिया है, किन्तु कल्पना के वैभव का अनुमान इन तीन चार सूत्रों से भली भाँति हो सकता है।

लेखक की कल्पना को एक बहुत बड़ा सहारा वर्णनों से मिला है। यह रचना वस्तुतः वर्णन-समृद्ध है। कुछ आलोचकों को यह कहते हुए सुना जाता है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' वर्णनों के अतिरिक्त है क्या? और वर्णन भी प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों से लिए हुए हैं। मैं उनके मत का आस्वादन नहीं कर सका हूँ। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि आत्मकथा वर्णन-पुष्ट कथा है, किन्तु न तो इसके वर्णन ही सर्वस्व हैं और न वर्णन पराये रह गये हैं। जिन वर्णनों को लेखक ने 'कादम्बरी' हर्षचरित् अथवा 'रत्नावली' से लिया है उनको इस प्रकार और ऐसे स्थानों पर आत्मसात् और नियोजित किया है कि वे लेखक की अपनी सम्पत्ति बन गये हैं। संस्कृत साहित्य के प्रचुर भंडार का उपयोग भला किस मध्य-भाग्य साहित्यकार ने नहीं किया। सूर, तुलसी केशव बिहारी आदि अनेक कवियों के उदाहरण इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। जिस प्रकार इन कवियों ने संस्कृत के भंडार का उपयोग किया है उसी प्रकार 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के लेखक ने भी किया है। इस कारण आलोचकों का उक्त तर्क मान्य नहीं है। लेखक ने इन वर्णनों को जो स्थान दिया है और उनसे जिस अवसर पर सैवाए ली है, वह कल्पना-कौशल की सम्मिलित सम्पत्ति है। इसके अतिरिक्त वर्णनों को भाषा की जो प्रांजल सुकुमारता प्राप्त हुई है वह भी लेखक की सेवना के गौरव के साथ उसकी क्षमता को प्रमाणित करती है।

यहाँ वर्णन-प्राचुर्य दोष नहीं है बरन् गुण है। वर्णन भावों को रूप प्रदान करते हैं, परिस्थितियों का चित्रण करते हैं और दृष्टिकोणों का प्रदर्शन करते हैं। हृदय और मस्तिष्क की सूक्ष्म सम्पत्ति वर्णनों में व्यक्त होकर ही सौन्दर्य का साक्षात्कार करती है। 'आत्मकथा' के वर्णन केवल वर्णन के लिए नहीं हैं बरन् इनमें चरित्र को चमकाने वाली ज्योति जलती दिखाई पड़ती है जिससे पाठक कहीं सिहरता है कहीं हँसता है कहीं आँसू बहाता है और कहीं उत्साह से उल्लसित होता है। इन वर्णनों में होकर लेखक हमें एक ओर कला की ओर से जाता है और दूसरी ओर परिस्थिति या वातावरण की ओर। जो वर्णन चरित्र को प्रस्तुत करते हैं परिस्थितियों का निरूपण करते हैं और

समाज की मति विधि पर प्रकाश डालते हैं वे 'केवल वर्णन' के लिए कैसे कहे जा सकते हैं।

वर्णन-प्राचुर्य बोध की सीमा में वहां पहुँचता है जहां लेखक का कौशल शिथिल हो जाता है जहाँ उसकी कल्पना का दिवाला निकल जाता है और जहाँ उसकी मेधा का अवरोध हो जाता है। चित्र का दाग कर देना नहीं पर बोध पूर्ण प्रतीत हो सकता है जहाँ दाग के क्रम में तिसत्व विशिष्ट हो जाय किन्तु जहां 'तिसरव और 'दारव' का सम्मिलित स्वरूप सौन्दर्य-श्री का उत्कर्ष बढ़ाने वाला हो वहाँ उसको दूषण कहना क्या मोचित नहीं है। 'आत्म कथा' के वर्णनों में जिन चटीले व्यंग्यों, करुण प्रसंगों, उत्साह स्फूर्तियों और मधुर परिपुष्ट भावनाओं को व्यक्त होने का अवकाश मिला है वे किसी देश और जाति की संस्कृति का प्रकाशन ही नहीं करती अपितु मानव की शाश्वत निगूढ़ निधि का शोधन भी करती हैं अतएव 'आत्मकथा' के वर्णनों में प्राचुर्य-भाव दोष नहीं, केवल गुण है।

यह कहा जाता है कि प्रबन्ध रचना का सारा आरोहभार कथा के मर्मस्थलों की अवगति पर आधृत होता है। लेखक की बोध-शक्ति कथा के उन स्थलों को खोज निकालती है जो महत्वपूर्ण होते हैं। कथाकार सारे जीवन को घटना क्रम से चित्रित नहीं कर सकता, अपितु कुछ मर्मस्पर्शिनी घटनाओं को लेकर इस प्रकार का चित्र प्रस्तुत करता है जिससे जीवन की समग्रता आभासित हो जाती है। सभी कथाकार इस कर्म में कुशल नहीं होते प्रत्युत कुशल कथाकार ही इस कर्म में सफलता प्राप्त करते हैं। आचार्य द्विवेदी जी बड़े कुशल कथाकार हैं। उन्होंने इसी परिपार्श्व में बाणभट्ट के जीवन का चित्र परिकल्पित कर दिया है। बाणभट्ट के भावापन्न से प्रारम्भ करके निपुणिका, भट्टिनी सुचरिता आदि के जीवन की भाँकियां प्रस्तुत करते हुए लेखक ने जो मर्मस्थल प्रदर्शित किये हैं, वे न केवल बाणभट्ट के भावापन्न के मनुष्य का परिमार्जन करते हैं वरन् उसकी उदारता, सहृदयता, सहानुभूति, वीरता और वस्तु उदारता पर मधुर मोहक प्रकाश भी डालते हैं। अनेक स्थल कथा में ऐसे आते हैं, जहाँ पाठक का शरीर कंटकित हो जाता है। जब निपुणिका भट्टिनी की दयनीयता का वर्णन करती है तब कथा के उस वर्णन में करुणा का साक्षात्कार न करना असंभव हो जाता है। जब बाण भट्ट वेष बदल कर भट्टिनी को छुड़ाने जाता है तब कुतूहल और उत्सुकता का जो सम्मिलित भाव पाठक के मन में मचलता है वह मर्मस्थल का परिचय देने के लिए पर्याप्त है।

महाराज हर्षवर्द्धन की सभा में या कुमार कृष्णवर्द्धन के सामने बाणभट्ट अपनी जिस निर्भीकता का आश्रय लेता है वह बड़ी सोमहर्षक प्रतीत होती है। सुचरिता और राज्यश्री के जीवन की चरमाभिव्यक्ति जिन घटनाओं में होती है वे भी कथा की सोम हर्षक मर्मस्थलियाँ हैं।

भट्टिनी को भेजने के प्रस्ताव के समय जो वातावरण प्रस्तुत होता है वह भी ठक के रोंगटे खड़े कर देता है। और तो और, छोटी से छोटी घटना में लेखक न मर्म पर्श की खोज की है। चण्डी मण्डप के परिपार्श्व में साधना-गृह में लेखक ने जिस परि स्थिति का चित्रण किया है उसका परिचय इन शब्दों से मिल सकता है—'उसने कड़क र पूछा—इस साधना गृह में चोर की भांति घुसने वाला तू कौन है?' इसका कुछ अनुमान बाणभट्ट के इन शब्दों से भी लगाया जा सकता है—'परदेशी हूँ मातः, अपराध क्षमा हो।

एक दूसरा उदाहरण व्रजतीर्थ का है जहाँ बाणभट्ट विकट परिस्थिति में फंस जाता है। परिस्थिति का अनुमान इन शब्दों से कर सकते हैं—'अघोरभट्ट ने आदेश दिया 'जो तेरा सबसे प्रिय है उसका ध्यान कर।' मुहूर्त भर में भट्टिनी की कोमल कांत मुखच्छवि मेरे सामने उपस्थित हुई। मैं कातरतापूर्वक चीख उठा— मैं भट्टिनी को निर्जन कारागार में छोड़कर बलि हुआ जा रहा हूँ। इस प्रकार के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में मर्मस्थलियों का नियोजन बड़ी कुशलता से किया है। वह जानता है कि कथा में किस स्थल पर मर्म-स्पर्शी वर्णन-चित्र प्रस्तुत करना चाहिये और किस स्थल पर नहीं।

यह तो पहले ही कह दिया गया है कि लेखक भाषा का धनी है। कबीर की भाषा पर अपना मत देते हुए लेखक ने एक स्थान पर लिखा है— कबीर भाषा के डिक्टेटर थे। मैं इस वाक्य का वाक्पद हजारी प्रसाद द्विवेदी के लिए प्रयुक्त कर सकता हूँ। वे भाषा के डिक्टेटर हैं। उनके कोमल से कोमल वाक्य में विलक्षण तीखापन है और उनका धार से चोट्य वाक्य सीधा मर्म का स्पर्श करता है। इसमें सन्देह नहीं कि कथावस्तु वर्णन प्राचुर्य कथा के पोषण के लिए है किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि लेखक का भाषाधिकार भी इस पोषण का प्रेरक है। जो हो कल्पना मर्मस्थलों का परिचय वर्णन-प्राचुर्य और भाषाधिकार सभी दृष्टियों से 'बाणभट्ट की आत्मकथा अनूठी रचना है।

'आत्मकथा की कथावस्तु को देखकर पाठक उसकी ऐतिहासिकता और काल्पनिकता के बीच एक उलझन में पड़ सकता है। न तो यह कहा जा सकता है कि उसमें ऐतिहासिक तत्व नहीं है और न यही कहा जा सकता है कि उसमें कल्पना का प्राधान्य नहीं है। इस कृति को 'मिश्र रचना' का नाम देना ही अधिक उपयुक्त है किन्तु यह नहीं भुला देना चाहिये कि वस्तुतः यह एक कल्पना-प्रधान रचना है। यह ठीक है कि बाणभट्ट हर्षवर्द्धन राज्यश्री आदि कुछ पात्रों के नाम कुछ कथा-सूत्र ऐतिहासिक हैं किन्तु सारी कथा बाणभट्ट से सम्बद्ध होती हुई भी निपुणिका और भट्टिनी से सचालित होती है और ये दोनों पात्र काल्पनिक हैं। यदि कल्पना की इन दोनों पुत्तलिकाओं को कथा से निकाल लिया जाये तो केवल वही बाणभट्ट-हमारे सामने आयेगा जो हर्षचरि

मे मिलता है; इसलिए कथा भाग का अधिकांश कल्पना की सृष्टि है यह मानना अनुचित नहीं है।

फिर भी यह स्वीकार करना अनुचित नहीं है कि इतिहास के बड़े विरस और क्षीण तंतुओं से इस 'आत्मकथा' के जाल का निर्माण किया गया है। इन क्षीण तन्तुओं में वर्णनों का स्थान भी विस्मरणीय नहीं है। ये वर्णन ऐतिहासिक इसलिए हैं कि उनकी प्रतिष्ठा साहित्य के इतिहास में स्वीकृत की गई है और कुछ वर्णन शुद्ध इतिहास से भी सम्बद्ध हैं।

कथाकार के रूप में बाण कल्पना है किन्तु पात्र के रूप में वह ऐतिहासिक है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि हर्ष भी ऐतिहासिक पात्र है, जिस राज्यश्री का उल्लेख 'हर्षचरित' में आता है वह भी ऐतिहासिक पात्र है किन्तु उसकी कथा को लेखक ने कल्पना से रंगकर आत्मकथा के अनुरूप बना लिया है। कथा में जिस अघोर भरव का नाम लिया गया है वह 'हर्षचरित के भैरवाचार्य हैं। प्रभाकरवर्द्धन, ग्रहवर्मा दिवाकर मित्र और वर्चीमण्डप का पुजारी भी ऐतिहासिक पात्र हैं। ऐतिहासिक इस दृष्टि से कि वे हर्षचरित और कादम्बरी में आये हैं। पत्रलेखा आदि कुछ भी पात्रों को 'आत्मकथा' के लेखक ने नाम बदल कर प्रस्तुत किया है। आश्चर्य नहीं कि पत्रलेखा ही 'आत्मकथा' की भट्टिनी हों। निपुणिका का कोई आधार नहीं है। घटनाओं के आधार पर भी *बाणभट्ट की आत्मकथा'* का पलड़ा कल्पना की ओर ही अधिक झुकता है।

उपर्युक्त विवेचन आलोचक के सामने एक कठिनता प्रस्तुत कर देता है और वह यह कि इस रचना को क्या कहा जावे? यह तो मानी हुई बात है कि इतिहास और साहित्य की एक कसौटी नहीं है। जिस कसौटी पर इतिहास परखा जाता है उस पर साहित्य नहीं परखा जाता। इतिहास और साहित्य के दो अलग-अलग धरातल हैं। भावना, कल्पना और उद्देश्य की एकता प्रबन्ध-काव्य या प्रबन्ध-रचना के अनिवार्य तत्त्व हैं किन्तु इतिहास मे ये दोनों ही वर्जित हैं। इनको स्वीकार करके इतिहास साहित्य के क्षेत्र में आये बिना नहीं रहता और साहित्य इनसे विरहित होकर, और जो हो सो हो साहित्य नहीं हो सकता।

किसी मुक्तक रचना में इतिहास अपनी हल्की सी झलकी से ही साहित्य में अपना रंग-जमा सकता है किन्तु प्रबन्ध अपने स्वरूप के विकास एवं निर्माण के लिए इतिहास की मसखियों से अपना काम नहीं चला सकता। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें साहित्य को इतिहास की कसौटी पर परख कर उसकी प्रामाणिकता को बट्टा लगाया गया है। इसमें सन्देह नहीं है कि आप और मैं इतिहास को इतिहास के रूप में अक्षुण्ण रखना चाहते हैं किन्तु इतिहास को साहित्य में यथावत् सुरक्षित रखने का

कार्य इतिहास को कल्पित किये बिना नहीं किया जा सकता। साहित्य इतिहास के साथ कोई समझौता कर सकता है किन्तु वह भावना कल्पना और उद्देश्य कदापि नहीं छोड़ सकता और इतिहास अपने स्वाभिमान को सुरक्षित रखने के लिए इन पर कभी आश्रित नहीं हो सकता। बस यही कसौटी बाणभट्ट की आत्मकथा की ऐतिहासिकता को परखने में सहायक हो सकती है। यह रचना भावना की पीठिका पर कल्पना और उद्देश्य की प्रेरणा से विकसित हुई है; इसलिए यहाँ इतिहास का स्वाभिमान निश्चित रूप से कल्पित हो गया है। फिर भी इतिहास में इसका पुट न देखना अनुचित होगा। ऐतिहासिकता के पुट को तो साहित्य कहीं भी स्वीकार कर सकता है। नामों और तिथियों के अतिरिक्त, ऐतिहासिकता का पुट घटनाओं और वर्णनों में भी दिया जा सकता है। साहित्यगत वातावरण भी ऐतिहासिक पुट को स्वीकार कर लेता है। ऐतिहासिक पुट की ये पाँच समस्याएँ किसी भी साहित्यिक कृति को ऐतिहासिक होने का अधिकार दे सकती हैं, किन्तु इस अधिकार में उद्देश्य की दिशा और कल्पना का स्पर्श रहने के साथ साथ भाव–सरसता भी स्मरणीय है।

बाणभट्ट की आत्मकथा एक समस्यामूलक रचना है। इसकी प्राण-प्रतिष्ठा आदर्श में है। इसका लक्ष्य उद्धार के मार्ग को प्रशस्त बनाना है। इस उद्धार का एक पक्ष नारी-उद्धार है। नारी की दुर्दशा के विविध पहलुओं को चित्रित करके लेखक ने उसके उद्धार की दिशा का संकेत किया है। जब तक समाज का पुरुष वर्ग अपने को ऊँचा समझता रहेगा तब तक नारी के जीवन को उचित मूल्य नहीं मिल सकता। 'नारी-शरीर' देव-मन्दिर है इस भाव के प्रबल होते ही नारी के कल्याण का मार्ग आलोकित हो जाता है।

इसके साथ उद्धार का दूसरा पक्ष प्रेमोद्धार है। प्रेम इस युग म अपने रूप और रंग को अधिक तेजी से बदलता जा रहा है। नारी के संबन्ध से उसमें कहीं तो वह भावना मिलनी चाहिये जिसे पावन और उज्ज्वल कह सकते हैं। निउणिका, भट्टिनी और बाणभट्ट के प्रेम ने इसी भावना की उज्ज्वलता और पावनता की प्रतिष्ठा करके प्रेम के उद्धार का मार्ग प्रदर्शित किया है।

उद्धार का तीसरा पक्ष धर्मोद्धार है। धर्म अपने उदार रूप में परमात्मा का स्वरूप है किन्तु अपने कुण्ठित संकीर्ण एवं भयावन रूप में विकृत पंकिलता से बिल्कुल भिन्न नहीं है। धर्म का दलदल न केवल व्यभिचारी को फँसा बैठता है, वरन् दूसरे लोग भी उसमें आकर फँसे बिना नहीं रहते। ऐसा धर्म उस छूत की बीमारी के समान भयानक है जो जन-जन में फैलती चली जाती है। धर्म का व्याख्या किसी रूढ़ि में नहीं बाँधी जा सकती और न रूढ़ि से धर्म के उदार स्वरूप को अनावृत ही किया जा सकता है। उदार धर्म वह धर्म है जो मनुष्यमात्र के मर्मदर्द को धारण करके शीतलता और शान्ति

में मिलता है, इसलिए कथा भाग का अधिकांश कल्पना की सृष्टि है, यह मानना अनुचित नहीं है।

फिर भी यह स्वीकार करना अनुचित नहीं है कि इतिहास के बड़े विरल और क्षीण तंतुओं से इस 'आत्मकथा' के जाल का निर्माण किया गया है। इन क्षीण तन्तुओं में वर्णनों का स्थान भी विस्मरणीय नहीं है। ये वर्णन ऐतिहासिक इसलिए हैं कि उनकी प्रतिष्ठा साहित्य के इतिहास में स्वीकृत की गई है और कुछ वर्णन शुद्ध इतिहास से भी सम्बद्ध हैं।

कथाकार के रूप में बाण कल्पना है, किन्तु पात्र के रूप में वह ऐतिहासिक है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि हर्ष भी ऐतिहासिक पात्र है जिस राज्यश्री का उल्लेख 'हर्षचरित' में आता है वह भी ऐतिहासिक पात्र है किन्तु उसकी कथा को लेखक ने कल्पना से रंगकर आत्मकथा के अनुकूल बना लिया है। कथा में जिन अघोर भैरव का नाम लिया गया है वह 'हर्षचरित' में भैरवाचार्य है। प्रभाकरवर्द्धन, ग्रहवर्मा, दिवाकर मित्र और चण्डीमण्डप का पुजारी भी ऐतिहासिक पात्र हैं। ऐतिहासिक इस दृष्टि से कि वे 'हर्षचरित' और कादम्बरी में आये हैं। पत्रलेखा आदि एक दो पात्रों को 'आत्मकथा' के लेखक ने नाम बदल कर प्रस्तुत किया है। आश्चर्य नहीं कि पत्रलेखा ही 'आत्मकथा' की भट्टिनी हों। निपुणिका का कोई आधार नहीं है। घटनाओं के आधार पर भी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का पलड़ा कल्पना की ओर ही अधिक झुकता है।

उपर्युक्त विवेचन आलोचक के सामने एक कठिनता प्रस्तुत कर देता है और वह यह कि इस रचना को क्या कहा जाये? यह तो मानी हुई बात है कि इतिहास और साहित्य की एक कसौटी नहीं है। जिस कसौटी पर इतिहास परखा जाता है उस पर साहित्य नहीं परखा जाता। इतिहास और साहित्य के दो अलग-अलग परातल हैं। भावना, कल्पना और उद्देश्य की एकता प्रबन्ध-काव्य या प्रबन्ध-रचना के अनिवार्य तत्त्व हैं, किन्तु इतिहास में ये दोनों ही वर्जित हैं। इनको स्वीकार करके इतिहास साहित्य के क्षेत्र में आये बिना नहीं रहता और साहित्य इनसे विरहित होकर, और जो हो सो हो, साहित्य नहीं हो सकता।

किसी मुक्तक रचना में इतिहास अपनी हलकी सी झलकी से ही साहित्य में अपना रस-बसा सकता है किन्तु प्रबन्ध अपने स्वरूप के विकास एवं निर्माण के लिए इतिहास की झलकियों से अपना काम नहीं चला सकता। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें साहित्य को इतिहास की कसौटी पर परख कर उसकी प्रामाणिकता को घटा दिया गया है। इसमें सन्देह नहीं है कि आप और मैं इतिहास को इतिहास के रूप में अक्षुण्ण रखना चाहते हैं किन्तु इतिहास को साहित्य में यथावत् सुरक्षित रखने का

मे मिलता है, इसलिए कथा-मात्र का अधिकांश कल्पना की सृष्टि है यह मानना अनुचित नहीं है।

फिर भी यह स्वीकार करना अनुचित नहीं है कि इतिहास के बड़े विरल और क्षीण तन्तुओं से इस 'आत्मकथा' के जाल का निर्माण किया गया है। इन क्षीण तन्तुओं में वर्णनों का स्थान भी विस्मरणीय नहीं है। ये वर्णन ऐतिहासिक इसलिए हैं कि उनकी प्रतिष्ठा साहित्य के इतिहास में स्वीकृत की गई है और कुछ वर्णन युद्ध इतिहास से भी सम्बद्ध हैं।

कथाकार के रूप में बाण कल्पना है, किन्तु पात्र के रूप में वह ऐतिहासिक है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि हर्ष भी ऐतिहासिक पात्र है, जिस राज्यश्री का उल्लेख 'हर्षचरित' में आता है वह भी ऐतिहासिक पात्र है किन्तु उसकी कथा को लेखक ने कल्पना से रंगकर आत्मकथा के अनुकूल बना लिया है। कथा में जिन अघोर भरव का नाम लिया गया है वह 'हर्षचरित' के भैरवाचार्य हैं। प्रभाकरवर्द्धन सुचवर्मा दिवाकर मित्र और चण्डीमण्डप का पुजारी भी ऐतिहासिक पात्र हैं। ऐतिहासिक इस दृष्टि से कि वे 'हर्षचरित' और कादम्बरी में आये हैं। पत्रलेखा आदि एक दो पात्रों को 'आत्मकथा' के लेखक ने नाम बदल कर प्रस्तुत किया है। आश्चर्य नहीं कि पत्रलेखा ही 'आत्मकथा' की भट्टिनी हों। निपुणिका का कोई आधार नहीं है। घटनाओं के आधार पर भी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का पलड़ा कल्पना की ओर ही अधिक झुकता है।

उपर्युक्त विवेचन आलोचक के सामने एक कठिनता प्रस्तुत कर देता है और वह यह कि इस रचना को क्या कहा जाये ? यह तो मानी हुई बात है कि इतिहास और साहित्य की एक कसौटी नहीं है। जिस कसौटी पर इतिहास परखा जाता है उस पर साहित्य नहीं परखा जाता। इतिहास और साहित्य के दो अलग-अलग धरातल हैं। भावना कल्पना और उद्देश्य की एकता प्रबन्ध-काव्य या प्रबन्ध-रचना के अनिवार्य तत्त्व हैं किन्तु इतिहास में ये दोनों ही वर्जित हैं। इनको स्वीकार करके इतिहास साहित्य के क्षेत्र में आये बिना नहीं रहता और साहित्य इनसे विरहित होकर, और जो हो सो हो साहित्य नहीं हो सकता।

किसी मुक्तक रचना में इतिहास अपनी हलकी सी झलकी से ही साहित्य में अपना रंग-जमा लेता है किन्तु प्रबन्ध अपने स्वरूप के विकास एवं निर्माण के लिए इतिहास की झलकियों से अपना काम नहीं चला सकता। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें साहित्य को इतिहास की कसौटी पर परख कर उसकी प्रामाणिकता का बट्टा लगाया गया है। इसमें सन्देह नहीं है कि आप और मैं इतिहास को इतिहास के रूप में अक्षुण्ण रखना चाहते हैं किन्तु इतिहास को साहित्य में यथावत् सुरक्षित रखने का

कार्य इतिहास को खण्डित किये बिना नहीं किया जा सकता। साहित्य इतिहास के साथ कोई समझौता कर सकता है, किन्तु वह भावना कल्पना और उद्देश्य कदापि नहीं छोड़ सकता और इतिहास अपने स्वाभिमान को सुरक्षित रखने के लिए इन पर कभी आश्रित नहीं हो सकता। बस यही कसौटी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की ऐतिहासिकता को परखने में सहायक हो सकती है। यह रचना भावना की पीठिका पर कल्पना और उद्देश्य की प्रेरणा से विकसित हुई है; इसलिए यहाँ इतिहास का स्वाभिमान निश्चित रूप से खण्डित हो गया है। फिर भी इतिहास में इसका पुट न देखना अनुचित होगा। ऐतिहासिकता के पुट को तो साहित्य कहीं भी स्वीकार कर सकता है। नामों और तिथियों के अतिरिक्त, ऐतिहासिकता का पुट घटनाओं और वर्णनों में भी दिया जा सकता है। साहित्यगत वातावरण भी ऐतिहासिक पुट को स्वीकार कर लेता है। ऐतिहासिक पुट की ये पाँच अवस्थाएँ किसी भी साहित्यिक कृति को ऐतिहासिक होने का अधिकार दे सकती हैं किन्तु इस अधिकार में उद्देश्य की दिशा और कल्पना का स्पर्श रहने के साथ साथ भाव–सरलता भी स्मरणीय है।

बाणभट्ट की आत्मकथा एक समस्यामूलक रचना है। इसकी प्राण-प्रतिष्ठा आदर्श में है। इसका लक्ष्य उद्धार के मार्ग को प्रशस्त बनाना है। इस उद्धार का एक पक्ष नारी-उद्धार है। नारी की दुर्दशा के विविध पहलुओं को चित्रित करके लेखक ने उसके उद्धार की दिशा का संकेत किया है। जब तक समाज का पुरुष वर्ग अपने को ऊँचा समझता रहेगा तब तक नारी के जीवन को उचित मूल्य नहीं मिल सकता। 'नारी शरीर' देव-मन्दिर है, इस भाव के प्रबल होते ही नारी के कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

इसके साथ उद्धार का दूसरा पक्ष प्रेमोद्धार है। प्रेम इस युग में अपने रूप और रंग को अधिक तेजी से बदलता जा रहा है। नारी के सम्बन्ध से उसमें कहीं तो वह आभा मिलनी चाहिये जिसे पावन और उज्ज्वल कह सकते हैं। निपुणिका भट्टिनी और बाणभट्ट के प्रेम ने इसी आभा की उज्ज्वलता और पावनता की प्रतिष्ठा करके प्रेम के उद्धार का मार्ग प्रदर्शित किया है।

उद्धार का तीसरा पक्ष धर्मोद्धार है। धर्म अपने उदार रूप में परमात्मा का मन्तव्य है किन्तु अपने कुंठित, संकीर्ण एवं अपावन रूप में विकृत पंकिलता से भिन्न नहीं है। धर्म का दलदल न केवल [illegible] को फँसा बैठता है वरन् दूसरे लोग भी उसमें आकर फँसे बिना नहीं रहते। ऐसा धर्म उस छूत की बीमारी के समान संक्रामक है जो जन-जन में फैलती चली जाती है। धर्म की व्यवस्था किसी व्यक्ति से नहीं बाँधी जा सकती और न व्यक्ति से धर्म के उदार स्वरूप को अनावृत ही किया जा सकता है। उदार धर्म वह पथ है जो मनुष्यमात्र के अन्तर्दाह को शान्त करके [illegible]

प्रदान करता है। न तो धर्म का उद्धार मनुष्य और समाज को किसी पिटे-पिटे मार्ग पर ले चलने में है और न 'अपनी अपनी डफली अपने-अपने गीत' में ही धर्म का स्वरूप सुरक्षित रहता है। भट्टिनी, निपुणिका सुचरिता और भट्ट में जिस भाव का निश्चल आविर्भाव होता है वह धर्म से भिन्न नहीं है। अतएव धर्म का उद्धार उसको विकृतियों और कुण्ठाओं से मुक्त करने में है।

उद्धार का चौथा पक्ष देशोद्धार में निहित दिखाई देता है। देश का उद्धार किसी एक व्यक्ति या वर्ग के हाथों में नहीं सौंपा जा सकता। जब देश का जन-जन इस दिशा में प्रगति करेगा तभी देशोद्धार होगा। वेतन-भोगी सेना क्या कभी देश की रक्षा कर सकती है? *इतिहास के उदाहरणों से लेखक ने यह सिद्ध कर दिया है कि वेतन-भोगी सेना जन* सहयोग के बिना अशक्त और अक्षम है। कलाकार, साहित्यकार साधक नर और नारी सबका योगदान देश-रक्षा में अनिवार्य है। साधक-साधिकाओं को भी देश-रक्षा का भार स्वीकार करना चाहिये। साहित्यकार प्रेरणास्पद साहित्य की सर्जना से अपना योग दे सकता है। इसी प्रकार और लोग भी देश की रक्षा में अपना-अपना योगदान देकर देश के सम्मान और गौरव की रक्षा कर सकते हैं।

लेखक का उद्देश्य शिथिल समाज में चेतना फूंकना था और वह उक्त चार उद्धार पक्षों को चित्रित करके मानों कृतकृत्य हो गया है। इस उद्देश्य की सफलता में उसकी शैली का अपूर्व योग रहा है। 'आत्मकथा' की संकीर्ण-परिसीमाओं में भी लेखक ने जिस नाटकीयता से काम लिया है वह पाठक की रुचि को जाग्रत करने में बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है। इसके अतिरिक्त उसने कथा-प्रसंगों को इधर से उधर और उधर से इधर बिखेर करके पाठक के कुतूहल-संवर्धन की अमोघ चेष्टा की है। भाव की रसमय सरलता भावों का प्रवाहपूर्ण अभिव्यंजन व्यंग्यों और हास्यों का सरस पुट और सामान्य वार्तालाप में मस्त विनोद की तरल लहर से लेखक पाठक के मन को खींचता चला जाता है। इस प्रकार कथानक की अद्भुतपूर्ण सृष्टि, पात्रों का कुशल चयन वातावरण का प्रभाव चरित्र मोहक चित्र पैदा करके सरल भाषा में जिस उद्देश्य की सम्पूर्ति की गई है वह रचना को सफल बनाने में बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ है।

५ ऐतिहासिक आधार

इतिहास की दो धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं—प्रामाणिक इतिहास की धारा तथा भावनात्मक अनुभूत इतिहास की धारा। इन्हीं दो धाराओं में आत्मकथा-गत इतिहास बाद प्रवाहित होता है। सच तो यह है कि इस कृति के गठन में इसकी इतिहास-धर्मिता का बहुत बड़ा योग है। इतिहास केवल पात्रों और घटनाओं को ही प्रस्तुत नहीं करता है वरन् काल संस्कृति और लोक के बोध का आयत्तीकरण भी करता है।

आत्मकथा के दो रूप होते हैं—एक वास्तविक और दूसरा कलात्मक। कलात्मक आत्मकथा के भी दो रूप दिखाई देते हैं—एक ऐतिहासिक आत्मकथा और दूसरी समसामयिक। इनमें से किसी भी प्रकार की आत्मकथा लिखने में रचना का गठन प्रतिबद्ध हो जाता है और लेखक को कुछ सीमाओं में आबद्ध होकर काम करना पड़ता है। इससे कथा को जो रूप मिलता है उसमें वर्णन और संवाद का गंगा-जमुनी रूप विकसित होता है। इसी रूप में औपन्यासिकता और नाटकीयता का मधुर मिलन होता है। लेखक जिस काल और स्थान में है वह उसी का निरूपण कर सकता है दूसरे स्थान पर क्या हो रहा है और भविष्य में क्या होने वाला है और उसके चरित-नायक से दूर क्या कुछ हुआ है—इन प्रश्नों से उसका सीधा संबंध नहीं होता अतएव वह इन्हें अपनी कृति में समाविष्ट नहीं कर सकता जबकि उपन्यास और नाटक में इनके समावेश के लिए पर्याप्त अवकाश होता है।

बाणभट्ट की आत्मकथा में यह बात बड़े सावधान से निभाने की है। ध्यान रखने का बात है कि दुबारा [illegible] स्थाण्वीश्वर में पहुँचने पर भट्टेश्वर क्षुब्ध हो गया है। लेखक ने बाण निपुणिका और भट्टिनी के द्वारा जो यातनाएं कराया है वे चानसर और म[illegible]श्वर से विशेष सम्बन्ध रखती हैं। भविष्य की घटनाओं की सूचना के लिए नियति-चक्र का प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं आई गई है। इससे स्पष्ट है कि यह रचना—यह उपन्यास केवल उपन्यास के लिए नहीं लिखा गया। इसके पीछे काल संस्कृति और लोक-बोध आदि की अनेक पृष्ठभूमियाँ साकार करने का प्रयत्न है।

इस रचना का गठन बड़ा सघन और जटिल है। इसलिए इतिवृत्त के पुनः पुनः परिवर्तन की आवश्यकता कम ही होती है; हाँ, उसकी आवृत्तियाँ आती हैं। इतिहास दृष्टि के कारण पात्रों के विभिन्न पहलू बड़ी सरलता से प्रकाश में ला दिये गये हैं। लेखक ने इन पहलुओं को प्रकाशित करने के लिए अनेक माध्यम अपनाये हैं जिनमें विश्वासपूर्ण समर्पण और कलात्मक विवेचन प्रमुख हैं। इतिहास की भूमिका पर अनेक [illegible]

कला के संस्पर्श से अपने माधुर्य का अनावरण करते चले जाते हैं। तीन मास के अन्त-राल में सात दिन की कथा को केवल कुछ स्थानों से सम्बद्ध करके लेखक ने अनेक युगों के चित्र उतारने के लिए जिस कौशल का परिश्रम किया है, उसमें समाहार-क्षमता का विशेष योग है। पार्वती लक्ष्मी सीता से लेकर भरतमुनि, कालिदास शूद्रक समुद्रगुप्त चन्द्रगुप्त पुष्यवर्मा और हर्षवर्धन आदि के युगों का जो चित्र खींचा है उसमें विपक्ष-युग से लेकर ई० की सातवीं शती तक के विकास काल की झाँकियाँ मिलती हैं। ११ १२ सौ वर्ष का विकास युग सात दिन की कथा में द्रिमीभूत करना जादूगर के काम से कम कौशल की बात नहीं है।

यह माना जा सकता है कि इस विकास काल की परिसीमाओं में चित्रित बाण का समग्र चरित घटित या प्रामाणिक (इतिहाससम्मत) न हो किन्तु 'घटनात्मक इति-हास' के झीने वातावरण में स्थापित 'भावनात्मक इतिहास' कलात्मक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। युग-जीवन की श्रृंखला में चाहे ऐसी घटनाओं के लिए कोई स्थान भले ही न रहा हो किन्तु संभावनाओं की प्रतिष्ठा अवश्य होती है। घटनाओं की संभावना में जो अनुभूतिमूलकता निहित है वही भावनात्मक इतिहास की दिशा है और वही एक पात्र की आत्मकथा की ऐतिहासिकता है। इसलिए 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' में 'घटनात्मक अनुभवों की अन्वेषणा इतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी भाव-कथा की गवेषणा। भाव कथा को पहचानने वाली दृष्टि से ही कलात्मक इतिहास' के लेखन की प्रेरणा स्फुरित होती है।

हर्षचरित की कुछ पंक्तियों के सिवा अन्यत्र कहीं भी तो बाण की जीवनी के संकेत नहीं मिलते हैं, इसलिए बाण स्वयं एक चारित्रिक मिथक (myth) है। क्या वह पुरुष में विरही-भाव की कल्पना नहीं है? क्या इस मर्यादा में पुरुष-तेज की कल्पना नहीं है? यदि है तो कल्पना-प्रसूत बाण भी शाश्वत है। वह डा० द्विवेदी के भावों में ही नहीं किसी व्यक्ति (भावुक) की कल्पना में जन्म ले सकता है। ऐतिहासिक परिपार्श्व और सांस्कृतिक वातावरण प्राप्त करके बाण किसी भी युग में पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। 'आत्मकथा' का बाण इसी प्रकार से पुनरुज्जीवित हुआ है। उसके अमेय जीव-संसार में लेखक का प्रक्षेपण ही नहीं, प्रतिबिम्ब भी है। बाणभट्ट एक ऐसा 'आदर्श' है जिसमें तद्युगीन संस्कृति और कला को प्रतिबिम्बित होने का पूर्ण अवसर मिला है। वह जिस परिवेशात्मक या आलोचनात्मक पद्धति का प्रश्रय लेता है उसमें उसके संस्कृति-प्रयत्न का का सुमीद रूप निहित है। बाण का अभवतत्व ही तो सांस्कृतिक इतिहास के रूप को प्रकट करता है।

बाण और हर्ष, दोनों ऐतिहासिक व्यक्ति हैं किन्तु उनसे संबंधित बहुत सी घट-नायें काल्पनिक हैं अथवा आत्मकथा की अधिकांश घटनायें अनैतिहासिक हैं। कुमार कृष्ण और महाराज हर्ष घटनात्मक इतिहास के पात्र हैं, किन्तु आत्मकथा में उनके संबंध से

जितनी घटनाएं प्रस्तुत की गई हैं उनमें से बहुतों में इतिहास को खोजना व्यर्थ है फिर भी ऐतिहासिक समस्याओं को काल्पनिक घटनाओं द्वारा चित्रित करने में उनका प्रमुख योग है। वे 'वर्तमान' के इतिहास को तत्कालीन राजनीति के चित्रपट पर दिखलाते हैं। अग्रहार ब्राह्मणों को भूमि देकर पूर्वीय सीमा पर भयाग्नि को बसाना, उत्तर की सीमा पर दस्युओं को पराजित करना, गुणी लोगों को राजसभा में एकत्र करना आदि वर्णनों से तत्कालीन समस्याओं का प्रतिफलन स्पष्ट है। उनमें तत्कालीन इतिहास है, किन्तु राजनीतिक समस्याओं के अतिरिक्त धार्मिक साधनाएं भी अपने ऐतिहासिक रूप में अवतीर्ण हुई हैं।

(अघोरभैरव, सुगतभद्र, वसुभूति, वेंकटेश भट्ट आदि की धर्म-साधनाओं के पट पर बौद्ध, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि धार्मिक सम्प्रदायों और उनकी साधना-पद्धतियों को रूपायित किया गया है। लेखक के इस प्रयत्न में 'धर्म का समाजशास्त्रीय रूप' प्रस्तुत करने की चेष्टा स्पष्ट है। भट्टिनी और निपुणिका सामाजिक जीवन में नारी के स्थान की मीमांसा करती हुई अनेक प्रश्न उठाती हैं और वे प्रश्न बड़े क्रान्तिकारी हैं। उन्हीं प्रश्नों में प्रणय भी अपनी समस्या लेकर प्रस्तुत हुआ है।)

(इतिहास के चित्रपट पर मूर्ति, शिल्प, काव्य, चित्र, नृत्य, स्थापत्य आदि से सम्बन्धित कलाओं को अनेक परिस्थितियों में प्रदर्शित किया गया है।) बाण इनमें विशेष रुचि रखता है। वह कला-समीक्षा, ज्योतिष, राजसभा-व्यवहार आदि में भी निपुण है। अनेक कल्पित सन्दर्भों में हर्ष-कालीन कलाओं और विद्याओं के रंगीन चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। संस्कृति के विविध पक्षों को चित्रित करती हुई बाणभट्ट की आत्मकथा संस्कृति का चित्र-कोष बन गई है। (इस प्रकार यह रचना न केवल घटनात्मक इतिहास को उद्घाटित करती है, वरन् धर्म, कला, राजनीति और नारी-शोषण के इतिहास को अनेक स्तरों पर सफलता से प्रस्तुत करती है।) 'बाणभट्ट उस युग को जीकर एक आत्मगत या रोमांटिक इतिहास रचता है; कृष्णवर्धन उस युग में जीकर एक वस्तुगत या क्लासिकल इतिहास भोगता है; तथा भट्टिनी एवं निपुणिका व्यवरोध (इतिहास) की सीमा को तोड़कर शाश्वत जीवन का एक सत्य देती हैं। सारांश यह है कि तीन महीने की अवधि वाली इस कृति में तीन सौ वर्ष और एक बहुरंगी संस्कृति—दोनों की सामाजिक अवस्था, धर्मसाधना, कला-दर्शन, वेशभूषा, मानवीय राग, आचार, विचार आदि का समाहार हुआ है। और इतना विशाल इतिहास, पारमार्थिक काल, कला का स्वप्न-दर्शन एक व्यक्ति, हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाणभट्ट की नीली धमनियों में दौड़ रहा है।' ⊛

भावात्मक आत्मकथा के लिए भी ऐतिहासिक सामग्री की आवश्यकता है क्योंकि बाणभट्ट अपने किसी भी रूप में सही इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति है इसलिए इसके विषय में कल्पना को भी इतिहास की परिसीमाओं में ही काम करना पड़ता है। थोड़ा-सा विचार

⊛ देखिये आलोचना नवांक १ जनवरी १९५४ पृ० १११ १४

करने पर आत्मकथा के बाण के तीन परिपार्श्व प्रत्यक्ष हो सकते हैं—एक तो इतिहास का बाण दूसरा लेखक की कल्पना का बाण और तीसरा लेखक के व्यक्तित्व में प्रविष्ट बाण। बाण के ये तीनों रूप अलग-अलग नहीं हैं। बाण के इस सम्मिलित स्वरूप की अवतारणा लेखक के मनोलोक में हुई है। संस्कृत-साहित्य के प्रति लेखक की रुचि होने और संस्कृत का विद्वान् होने से उसने कादम्बरी हर्षचरित आदि का गहन अध्ययन किया है। इससे उसके मानस में बाण के व्यक्तित्व का एक समाहृत रूप उभरा है। उसके व्यक्तित्व में लेखक को अपने व्यक्तित्व की झाँकी भी मिली है। ऐसे बाण के विषय में राहुल जी के कटु शब्दों को सुनकर लेखक के मन में अवश्य ही एक क्षोभ प्रतिक्रिया हुई होगी और उसके व्यक्तित्व की प्रतिरक्षा के लिए ही लेखक को अपनी लेखनी सँभालनी पड़ी। इस लेखनी से जो रूप उभर सकता था वह आत्मकथा' के बाण के रूप से भिन्न नहीं हो सकता था।

लेखक की दूसरी भावना 'अपने बाण' के सबंध में पाठकों को विस्मित और दंग कर देने की भी थी। जिस बाण के सबंध में सब विद्वानों को बराबर ज्ञान हो जिसका जीवनचरित हर्षचरित की कुछ पंक्तियों तक ही सीमित हो उसके चरित्र की रक्षा के लिए तैयार होने के लिए उपयुक्त साधनों की आवश्यकता होने से लेखक ने कुछ साधन ऐतिहासिक छल' से भी जुटाने की योजना की। इस योजना को प्रस्तुत करते हुए लेखक ने बड़ी विदग्धता से काम लिया है। (दा दिदिदी ने अपनी कृति की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए और विद्वान् पाठकों को चकित करने के लिए जिस छल को अपनाया है वह एक बड़ी भारी सूझ है और उसको जिस प्रकार निभाया है वह कल्पना की अमोघ देन है, किन्तु वह सब सत्य के प्रकाश में रख दिया गया है; इसलिए लेखक 'छल-दोष' से मुक्त हो गया है।) अपने जादू के डब्बे के रहस्य का उद्घाटन लेखक ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कर दिया है किन्तु कला के चुँधिया देने वाले प्रकाश से अभिभूत पाठक भ्रम-सन्देह में पड़ जाता है तो कलाकार का क्या दोष है?

यह अनुमान कर लेना अनुचित न होगा कि कला का संस्पर्श कल्पना के वरदान से होता है, इसलिए किसी भी कलाकृति में कल्पना-सृष्टि की उपेक्षा करना न तो उचित है और न सम्भव ही है। बाणभट्ट स्वयं कलाकार था। ... को इस अनुमान का उपयोग करने में हिचकना नहीं चाहिये कि बाण ने ... चरित' में अपने जीवन की कुछ अनुभूतियों का ... किया होगा। ... में वर्णित कुछ घट-नाओं और संस्मरणों ... और रोमां ... उन रचनाओं में सन्निविष्ट ... वि ...

म्बरी' का गह ...

(१)

बाण की

इन मार्गों के हेरफेर के साथ इस 'आत्मकथा के सत्य' बन गये हैं। अच्छोद सरोवर मडप का पुजारी स्थाण्वीश्वर के राजदरबार का वर्णन, महाश्वेता और कादम्बरी आदि आदि वर्णनों में 'आत्मकथा' में जो प्रतिष्ठा प्राप्त करती है, (उनका मुख्य-साहि त्य सत्य के रूप में तो आंका ही जा सकता है, ऐतिहासिक सत्य के रूप में भी अवि स्मरणीय है।) इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि 'जब किसी ऐतिहासिक पात्र की अज्ञात जीवनी के अभाव में उसकी आत्मकथा लिखी जाती है तब उसकी कल्पित कृतियाँ भी उपजीव्य होकर इतिहास एवं तथ्य का सत्रम प्रस्तुत करती हैं। जिस प्रकार ...ने 'हर्षचरित' के स्थाण्वीश्वर की सृष्टि और विन्ध्याटवी के प्राकृतिक सौन्दर्य का कादम्बरी के माध्यम से उज्जयिनी और गन्धर्वलोक के सौन्दर्य में रूपान्तरित कर दिया उसी तरह द्विवेदी जी ने 'आत्मकथा' में स्थाण्वीश्वर, उज्जयिनी, विन्ध्याटवी, मह-र आदि को पुनः रूपान्तरित कर दिया है। ('कादम्बरी की कादम्बरी और महाश्वेता जोड़ी 'आत्मकथा' में भट्टिनी और निपुणिका की जोड़ी के समकक्ष देदीप्यमान हो रही है। इस तरह 'आत्मकथा' में लेखक ने बाणभट्ट की सृजनात्मकता की विस्तृत अभि व्यक्ति प्रस्तुत की है।)[48]

('आत्मकथा' में 'हर्षचरित' और 'रत्नावली' के बाण के चरित्र को प्रमुख रूप से भी उसकी कल्पना-शक्ति को उद्घाटित करने का श्रेय प्राप्त किया है।) डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी को बाण का चरित्र चित्रण अभिप्रेत नहीं था अभिप्रेत था उनका 'उत्कृष्ट नरोत्तम' स्वरूप और उसी की सृष्टि के लिए इतने बड़े प्रसार की आयोजना है। ...'वोल्गा से गंगा' में राहुल सांकृत्यायन बाण को लड़कियों को भगाने वाला लम्पट आदि विशेषणों से आदित कर सकते हैं तो क्या डा० द्विवेदी-परिस्थिति और दृष्टिकोण के ...र्म में उनके चरित्र को औचित्य-मण्डित नहीं कर सकते? डा० द्विवेदी इन्कार नहीं करते कि बाण नट बनने वाला पुतलियों का नाच दिखाने वाला और देश-देशान्तर में घूमने वाला था वे इन्कार नहीं करते कि उसकी मित्र-मण्डली ४४ सदस्यों की थी। उनमें सुहृद सहाय स्त्रियाँ, धूर्त परिव्राजक प्रणयी कवि और विद्वान्, संगीतज्ञ नर्तक साधु संन्यासी वैद्य और मन्त्रसाधक पारशव बन्धु-युगल आदि विविध धरातल के लोग थे। 'आत्मकथा' में लेखक ने इन सबके गुण बाण में सकलित कर दिये हैं। विविधता का उदा-हीकरण होने से बाण का नया जन्म मिल गया है और समग्र कथा में इस मत की स्थापना हो रही है— लोग मुझे 'भुजग' समझने लगे पर मैं लम्पट कभी नहीं था। मेरे इसी सहा नुभूतिमय हृदय ने ही तो मुझे आवारा बना दिया—मैं सदा अपने को सम्हालने में समर्थ रहा हूँ। इस बात का मुझे अभिमान है।

(पात्रों और घटनाओं के इतिहास के अतिरिक्त 'आत्मकथा' के लेखक की दृष्टि बाण बाण की ऐतिहासिकता पर भी रही है।) इसकी आवश्यकता नहीं कि दृष्टान्त प्रमाणादि

---

48. आलोचना अंक ३ पृ ११४

अनेक दृष्टियों से भारत के इतिहास का स्वर्ण युग कहा जाता है, किन्तु लेखक ने उससे पहले और पीछे की परिस्थितियों को भी उससे जोड़कर इतिहास के एक विशाल युग की पीठिका पर कला और धर्म की उपलब्धियों और प्रवृत्तियों को समन्वित करने का प्रयत्न किया है। कला और धर्म के इतिहास का जो युग लेखक ने अपनी कृति में दिया है उसकी समग्र-भूमिका में कलात्मक उपलब्धियों और धार्मिक सम्प्रदायों और कर्मकाण्डों की मीमांसा का बहुत बड़ा योग है। तत्कालीन भारत के कलात्मक एवं धार्मिक इतिहास के अनुसंधान की भूमि पर लेखक के सामने कुछ ऐतिहासिक महापुरुष और कुछ ग्रन्थ बड़ी प्रमुखता से आये हैं। जिस प्रकार उसकी कला-चेतना ने भरतमुनि को अभिमुख रखा है, उसी प्रकार वात्स्यायन को भी। यदि नाटक, रंगमंच, नृत्य तथा ललित कलाएं प्राचीन इतिहास का गौरव बढ़ा सकती हैं तो काम-कलाओं और कलात्मक विनोदों से भी ऐतिहासिक गौरव संवर्धित ही होता है। साहित्यिक इतिहास की भूमिका पर लेखक ने शूद्रक, भवभूति, कालिदास, हर्ष और बाणभट्ट को बड़े सम्मान से उतारा है। 'आत्मकथा' के धार्मिक इतिहास की भूमिका में मिलिन्दप्रश्न, कौल-निर्णय, नागानन्द, अभिलषितार्थचिन्तामणि, महाभारत, भक्तिरसामृतसिंधु, अष्टोत्तरक आदि के सिद्धान्तों का अमोघ योग रहा है। इन्हीं सब के योग से परम्परा की रचना होती है। 'आत्मकथा' की सृजन-प्रौढ़ता में लेखक का ऐतिहासिक बोध विशेष महत्त्वपूर्ण है।

'आत्मकथा' की पूरी संस्कृति स्वर्णकाल की संस्कृति है और 'महावराह' गुप्त युग के प्रमुख आराध्यदेव हैं। उनकी मूर्ति गुप्त युग की सिद्ध प्रतिमा है। लेखक ने आत्मकथा के सारे कथानक को 'महावराह के विराट् प्रतीक' के चारों ओर चन्द्र के चारों ओर चन्द्रिका की भाँति, लपेट दिया है। 'भगवान् वराह ने जलौघ-मग्ना धरित्री का उद्धार किया था। गुप्त युग में चन्द्रगुप्त आदि राजा वराह के और आर्यावर्त धरित्री के प्रतीक के रूप में स्वीकार कर लिये गये। स्वर्गीय 'जयशंकर प्रसाद' ने भी 'ध्रुवस्वामिनी' नाटिका के वातावरण में उद्धार की भूमिका प्रस्तुत की है जो चन्द्रगुप्त से सम्बद्ध है। चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी या ध्रुवस्वामिनी का उद्धार किया था। डा० द्विवेदी के मानस से गुप्तकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में उद्धार-कथा विलुप्त न हो सकी। उत्तर से अत्यन्त दस्युओं की बर्बर सेना आर्यावर्त पर आक्रमण करने को तैयार थी अतएव हर्ष के सामने भी आर्यावर्त के उद्धार की समस्या थी। लेखक ने उद्धार की आवश्यकता और परिस्थितियों का आकलन करके 'महावराह' को एक ऐतिहासिक-राजनीतिक समानान्तरता तथा भक्ति-सम्प्रदाय के समुपस्थापन का कारण बना लिया और सम्पूर्ण कथा को महावराह की विराट छाया में शीतलता प्रदान की। राजनीति की भूमिका पर सब पात्र आर्यावर्त का उद्धार करने के लिये तत्पर हैं और धर्म की भूमिका पर सब पात्र रहस्यपूर्ण पतनोन्मुखी साधनाओं का उद्धार करने को प्रस्तुत हैं। यह मिथक ऐतिहासिक समस्याओं सामाजिक प्रश्नों और नारी-जीवन को भी महावराह के धर्म से मंडित कर देता है।

'आत्मकथा' में उद्धार-कामना की तीन भूमिकाएं सामने आती हैं—एक पर बाण भट्टिनी और निपुणिका का उद्धार करने के लिए कटिबद्ध है दूसरी पर महावराह के भक्त हर्षदेव चरित्रों का उद्धार करने के लिए कृतसंकल्प हैं, और तीसरी पर महावराह भाव की शीतल छाया में सभी पात्र अन्तमार्गों की कलुषता से उबर कर हृदय-राग की प्रभा से अभिषिक्त होते हैं। इस दृष्टि से महावराह मूर्तिमान सौभाग्य है। बाण भट्टिनी, निपुणिका और कृष्णवर्धन—सभा महावराह भाव से अनुप्राणित है। महावराह के दर्शन और स्तवन से चरमार्गों का विरेचन होकर एक विलक्षण सात्त्विभाव की प्रतिष्ठा होती है। भट्टिनी हो चाहे निपुणिका, वह अपनी गाढ़तम स्थितियों में महावराह की प्रतिमाओं के दर्शन से अपना विरेचन करती है। लेखक बाण भी महावराह-भाव से हृ शान्ति प्राप्त करता है। महावराह की स्तुति से भावों का उदात्तीकरण एवं संकटकीर्ण परिस्थितियों का निवारण हुआ है। इस प्रकार महावराह भाव मिथिक प्रतिरूप को प्रस्तुत करने, भक्ति-भाव को उद्बुद्ध करने और पारिविक परिमार्जन करने में एक ही साथ प्रतिबिम्बित होता है।

इस 'आत्मकथा' के वातावरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऐतिहासिक कलाकृति के लिए वातावरण का बड़ा महत्त्व है। इसके द्वारा लेखक ने एक ओर तो इतिहास-कुतूहल बढ़ाया है और दूसरी ओर वेष-भूषा, आचार-विचार और चरित्र-नाम से बांधे हुए समाज का स्पन्दबिम्ब तैयार किया है तीसरी ओर 'आत्मकथा' की शैली के मार्ग से विवरणात्मकता के द्वारा चित्र-विचित्रों को मिलमिलाया है, और चौथी ओर एक महान् कलाकृति के रूप में इस रचना में अनेक कलाओं की प्रशंसा और व्याख्या भी की है। इसके अतिरिक्त लेखक ने विभिन्न सम्प्रदायों की साधना-पद्धतियों और उनकी पारस्परिक प्रतिक्रियाओं को उभारने के लिए अनेक कल्पित पात्रों की सृष्टि की है। कृष्णमा के चटिल स्पन्दनों में भी लेखक की ऐतिहासिक रुचि ने तत्कालीन समाज के धार्मिक विभाजन का मानचित्र अर्पित कर दिया है। कुमार कृष्णवर्धन के व्यक्तित्व का उपयोग लेखक ने प्रमुखतः उस समय की कुछ राजनयिक चुनौतियों को निरूपित करने के लिए किया है।

ऐतिहासिक नामों और पात्रों के माध्यम से लेखक इस कृति की ऐतिहासिकता का आभास देता जाता है किन्तु ऐसा करने में उसकी रुचि रमती नहीं है। वह इस स्थिति में रस नहीं लेता। अवसर मिलते ही 'तथ्य-लोक' से रोमांस की मेघ-वीथियों में विहार करने लग जाता है क्योंकि वह तथ्य-गौरव का मीमांसक न होकर मूलतः मानव हृदयों का शिल्पी है। आत्मकथा में बाण को हर्षचरित के रचयिता का रूप नहीं दिया गया। ऐतिहासिक मर्यादा के निर्वाह के लिए वह राजकुल के रूप में अवश्य समाहृत कर लिया गया है।

कुमार कृष्णवर्धन राजनीतिक गति-विधियों में बड़े निपुण हैं। वे अपने मनुष्यव्यवहार एवं मधुर भाषण से भट्टिनी के टूटे हुए मन को जोड़ देते हैं। भट्टिनी को सम्मान

देने में अपने हृदय की कितनी सम्मति का उपयोग करते हैं यह कहना तो कठिन है किन्तु इससे वे देवगुप्त तुवरमिलिन्द से सहयोग पाने की योजना का आस अवश्य पैदा लेते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्यन्त दस्युओं को देश की सीमा से बाहर खदेड़ने के लिए सीमान्त शासक तुवरमिलिन्द से मैत्री करना एक सफल राजनीतिक दृष्टिकोण था।

संक्षेप में यह कह देना पर्याप्त है कि इस कृति में लेखक ने वातावरण का बड़ा सुन्दर उपयोग किया है क्योंकि उसके माध्यम से ही तो वह समग्र 'ऐतिहासिक समाज' का कलात्मक पुनर्सर्जन करने में समर्थ एवं सफल हुआ है। हर्ष, भट्टु शर्मा, धावक, भट्ट शर्मा और कृष्णवर्धन को छोड़ कर कथा के प्राय सभी पात्र काल्पनिक हैं। नाम की दृष्टि से हर्ष को छोड़कर शेष सभी पात्र नाम के लिए ही ऐतिहासिक हैं। कल्पना की इस सुन्दर रम्यस्थली में, कला के इस भव्य प्रासाद में ऐतिहासिक पात्रों को उनके अनुरूप आवास तो दिया गया है परन्तु उनकी गतिविधियों का नियमन लेखक की सौन्दर्य रुचि ने ही किया है। फलस्वरूप 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' इतिहास की भूमिका पाकर भी आत्मकथात्मक उपन्यास की अपेक्षा 'आत्मकथात्मक रोमांस' ही अधिक है क्योंकि इसमें प्रमुखत: रोमांटिक जीवन-दृष्टि का ही संनिवेश है। यहाँ यह स्मरणीय है कि लेखक के तर्क ने भावना को सदैव आदर देने की चेष्टा की है।

६. वस्तु-विन्यास और यात्राएँ

'आत्मकथा' को ऐतिहासिक आधार प्रदान करने के लिए जिस प्रकार पात्रों, घट-ओं और वातावरण का महत्व है उसी प्रकार तिथियों और स्थानों का महत्व भी है। ओं और प्राकृतिक दृश्यों के वर्णनों में स्थानों का ऐतिहासिक और भौगोलिक महत्व ी सरलता से सामने ला दिया गया है किन्तु यात्राओं के वर्णनों के माध्यम से भी न मूल्य का आकलन किया गया है। दृश्य-सौन्दर्य को प्रकट करने में यात्राओं ने 'आत्मथा' के महत्व को बहुत बढ़ा दिया है। लेखक ने यात्रा-साहित्य नहीं लिखा है किन्तु त्रा-साहित्य की प्रचुर संपत्ति 'आत्मकथा' की यात्राओं में संनिहित करती है।

आत्मकथा में यात्राओं की पाँच प्रमुख भूमिकाएँ हैं। इनके संदर्भ से कथानक भी तीन भागों में विभक्त हो जाता है। पहली भूमिका स्थाण्वीश्वर से प्रारम्भ होती है और इसी भूमिका पर भट्ट का निपुणिका और भट्टिनी से परिचय, भट्टिनी की मुक्ति और स्थाण्वीश्वर से प्रस्थान होता है।

दूसरी भूमिका पर भट्ट भट्टिनी और निपुणिका नौका द्वारा गंगा के मार्ग से मगध की ओर प्रयाण करते हैं। चरणाद्रि दुर्ग के पास युद्ध, भट्टिनी-निपुणिका का पानी में कूदना और तीनों का लोरिकदेव नामक आभीर सामन्त के घर अतिथि-रूप में निवास करना—ये दूसरी भूमिका की घटनाएँ हैं।

तीसरी भूमिका पर बाणभट्ट हर्ष के दरबार में जाता है। बाण के साथ सभा में जो दुर्व्यवहार होता है वह इसी भूमिका पर होता है।

चौथी भूमिका पर बाण राजदूत के रूप में भद्रेश्वर जाता है और भट्टिनी को स्थाण्वीश्वर आमंत्रित करता है। भट्टिनी आमंत्रण स्वीकार करके एक स्वतन्त्र रानी की भाँति जाती है और वहाँ आर्यावर्त की एकता शक्ति के रूप में भट्टिनी का आदर किया जाता है।

पाँचवीं भूमिका पर तीनों पुनः स्थाण्वीश्वर आते हैं। इसी भूमिका पर निपुणिका की मृत्यु हो जाती है और पुरुषपुर की यात्रा का संकेत भी इसी भूमिका पर प्राप्त है।

यात्राओं की पहली भूमिका पहले से सातवें उच्छ्वास तक प्रसारित है। दूसरी भूमिका आठवें उच्छ्वास से १२ वें उच्छ्वास तक फैली हुई दृष्टिगोचर होती है। तीसरी भूमिका बारहवें उच्छ्वास के अन्तिम भाग से लेकर चौदहवें उच्छ्वास के अन्त तक चलती है। चौथी भूमिका का प्रसार १५हवें उच्छ्वास से सत्रहवें उच्छ्वास तक है। इसके बाद बीसवें उच्छ्वास तक पाँचवीं भूमिका चलती है।

इन पांच भूमिकाओं में बटी हुई यात्राओं को पात्र-संबन्ध से भी व्यक्त किया जा सकता है। प्रमुख पात्र बाण है। सबसे अधिक यात्राएँ उसी ने की हैं। उसकी पहली यात्रा प्रीतिकूट से काशी तक होती है।

यात्रा करने वालों में बाण, भट्टिनी निपुणिका, सुचरिता महामाया और वेंकटेश भट्ट प्रमुख हैं। बाण प्रीतिकूट से काशी और काशी से उज्जयिनी की प्रथम यात्रा करता है। उसको इस बीच विन्ध्याटवी में रमण करने का अवसर भी मिलता है। वह उज्जयिनी से स्थाण्वीश्वर, स्थाण्वीश्वर से चरणाद्रि दुर्ग अग्रसर तथा भद्रेश्वर की यात्रा करता है। भद्रेश्वर से फिर स्थाण्वीश्वर, स्थाण्वीश्वर से भद्रेश्वर और फिर वापस स्थाण्वीश्वर आता है। यहीं से भट्टिनी को छोड़ कर पुरुषपुर जाने का संकेत मिलता है।

भट्टिनी और निपुणिका ने स्थाण्वीश्वर से भद्रेश्वर और भद्रेश्वर से स्थाण्वीश्वर की यात्राएँ तो बाण के साथ की हैं। इनके अतिरिक्त भट्टिनी को रोमकपत्तन (रोम) के उत्तर प्रत्यीकवर्ष में जन्म लेकर कई बार आना-जाना पड़ा। पहले तो वह नगरहार से पुरुषपुर, वहाँ से बाल्हर और फिर स्थाण्वीश्वर आई। अन्त में स्थाण्वीश्वर से पुरुषपुर जाने का संकेत मिलता है। निपुणिका उज्जयिनी स्थाण्वीश्वर, सौरमहल और भद्रेश्वर की यात्राओं से संबन्धित रही। भद्रेश्वर से स्थाण्वीश्वर आने के बाद ही उसकी मृत्यु हो जाती है।

सुचरिता महामाया और वेंकटेश्वर भट्ट की यात्राओं का उल्लेख भी आत्मकथा में मिलता है। ये यात्राएं काशी कान्यकुब्ज, कुम्भगिरि, बदरीतीर्थ आदि स्थानों का प्राचीन गौरव तो सामने लाती ही हैं, साथ ही कथा के विकास में भी योग देती हैं। वेंकटेश्वर भट्ट की यात्रा का सम्बन्ध श्रीपर्वत और उड्डियानपीठ से जोड़ कर लेखक ने इन स्थानों के धार्मिक महत्त्व को प्रकाशित किया है।

आत्मकथा में इतने स्थानों और इतनी यात्राओं का वर्णन होते हुए भी लेखक की रुचि ने भद्रेश्वर और संबन्धित यात्राओं और दृश्यों के वर्णन के लिए जो अवसर लिया है वह अनुपम है। इन वर्णनों में कथा में लहरियाँ सी उठती हैं। इन यात्राओं के अवसर पर यात्रियों को अपनी मानसिक वृत्तियों और भावनाओं को अनावृत करने का मौका मिलता है। कई संस्मरण और जीवनियाँ इन्हीं यात्राओं के इर्दगिर्द घूमती हैं, जिनको मूल कथा में जोड़ देने के लिए सुअवसर मिलता है। इन यात्राओं में कथा फूलती-फलती तो है ही साथ ही ये उपन्यास के गठन को परिनिष्ठित और कार्य-व्यापार को प्रेरित करती हैं। उपन्यास-शिल्प का निर्माण करती हुई यात्राएँ वर्णनों के लिए उपकरण जुटाने के व्यक्तीकरण के लिए अवसर, कार्य-व्यापार को प्रसार और चरित्र को विकास भी प्रदान करती हैं।

७ लेखक की आत्मकथा का अंश

बाणभट्ट की आत्मकथा के दो पहलू देखे जा सकते हैं—एक पहलू में, जो बिल्कुल स्पष्ट है बाण की कथा है और दूसरे में जो गुप्त है किन्तु अवेक्ष्य है, लेखक (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) की कथा है। इतिहास की सीमाओं पर जहाँ जहाँ बाण को देखा जा सकता है वहाँ वहाँ आधुनिक समाज की सीमाओं में लेखक अपने व्यक्तित्व का विनिवेश कर देता है। लेखक ने जिन पात्रों को कथा से सम्बद्ध किया है वे सब ऐतिहासिक नहीं हैं। मधु शर्मा पावक दीदी अघोर भैरव और विरतिवज्र की पृष्ठभूमि में द्विवेदी जी के अपने सम्बन्ध झलक गये हैं।

मधु शर्मा के पक्ष में लेखक की खोज की जा सकती है। मधु शर्मा ऐतिहासिक क्षेत्र में बाण के गुरु हैं, किन्तु उनमें द्विवेदी जी के गुरु पंडित रामवतन ओझा के व्यक्तित्व की झाँकी देखी जा सकती है। मधु शर्मा के वंश, जाति, गोत्र आदि की भूमिका में द्विवेदी जी के वंश जाति गोत्र आदि को खोज सकते हैं। लेखक ने अपने एक बनारसी मित्र को, जो धकाधक पान खाते थे पावक बना दिया है। दीदी में शान्तिनिकेतन में आई हुई एक आस्ट्रियन वृद्धा की छाया मिलती है। अघोरभैरव 'कंकालीतला' (शान्तिनिकेतन से छः मील दूरी स्थित साधना-पीठ) में रहने वाले भैरव की प्रतिमूर्ति हैं। कंकालीतला के भैरव के सम्बन्ध में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हो चुकी हैं। सम्भवतः साधना-पद्धतियों को कथारूपों में रखने की प्रेरणा लेखक को हरप्रसाद शास्त्री द्वारा लिखी गई उस कथा से मिली हो जो उन्होंने तांत्रिकों के विषय में लिखी थी। आश्चर्य नहीं कि भट्टिनी और निपुणिका किसी सामयिक बिम्ब के रूप में ही प्रतिफलित हुई हों। 'शान्तिनिकेतन' के किसी छात्र की छाया ही विरतिवज्र में दृष्टिगोचर होती है। सुना जाता है कि द्विवेदी जी के समय में शान्तिनिकेतन में एक ऐसा छात्र वहाँ था भी।

पात्रों के अतिरिक्त बाणभट्ट की आत्मकथा में कुछ रुचियाँ प्रवृत्तियाँ और आस्थाएँ प्रत्यक्ष होती हैं जिनका संबन्ध अनेक स्थानों पर आचार्य द्विवेदी जी से जोड़ा जा सकता है। अघोरभैरव के प्रति बाण की जिस आस्था की अभिव्यक्ति हुई है वह लेखक की अपनी रुझान का प्रमाण है। 'नाथ सम्प्रदाय' 'कबीर', 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' आदि में लेखक की इस रुझान का अनुमान लगाया जा सकता है। रचना के उपसंहार में लेखक की इस उक्ति से इस अनुमान की पुष्टि हो सकती है कि इस कथा में अपने गुरु मधु शर्मा की अपेक्षा अघोरभैरव के प्रति बाणभट्ट की आस्था अधिक प्रकट हुई है।'

इन पाँच भूमिकाओं में बटी हुई यात्राओं को पात्र-संबन्ध से भी व्यक्त किया जा सकता है। प्रमुख पात्र बाण है। सबसे अधिक यात्राएँ उसी ने की हैं। उसकी पहली यात्रा प्रीतिकूट से काशी तक होती है।

यात्रा करने वालों में बाण, भट्टिनी, निपुणिका सुचरिता महामाया और वेंकटेश भट्ट प्रमुख हैं। बाण प्रीतिकूट से काशी और काशी से उज्जयिनी की प्रथम यात्रा करता है। उसको इस बीच विन्ध्याटवी में रमण करने का अवसर भी मिलता है। वह उज्जयिनी से स्थाण्वीश्वर, स्थाण्वीश्वर से चरणाद्रि दुर्ग व्ययसर तथा भद्रेश्वर की यात्रा करता है। भद्रेश्वर से फिर स्थाण्वीश्वर, स्थाण्वीश्वर से भद्रेश्वर और फिर वापस स्थाण्वीश्वर आता है। यहीं से भट्टिनी को छोड़ कर पुरुषपुर जाने का संकेत मिलता है।

भट्टिनी और निपुणिका ने स्थाण्वीश्वर से भद्रेश्वर और भद्रेश्वर से स्थाण्वीश्वर की यात्राएँ तो बाण के साथ की हैं। इसके अतिरिक्त भट्टिनी को रोमकपत्तन (रोम) के उत्तर मरुभीकवर्ष में जन्म लेकर कई बार आना-जाना पड़ा। पहले तो वह नगरहार से पुरुषपुर, वहाँ से जालन्धर और फिर स्थाण्वीश्वर आई। अन्त में स्थाण्वीश्वर से पुरुषपुर जाने का संकेत मिलता है। निपुणिका उज्जयिनी स्थाण्वीश्वर, सौरमह्रद और भद्रेश्वर की यात्राओं से संबन्धित रही। भद्रेश्वर से स्थाण्वीश्वर आने के बाद ही उसकी मृत्यु हो जाती है।

सुचरिता महामाया और वेंकटेश्वर भट्ट की यात्राओं का उल्लेख भी आत्मकथा में मिलता है। ये यात्राएं काशी कान्यकुब्ज कुमभगिरि, मजूतीर्थ आदि स्थानों का प्राचीन गौरव तो सामने लाती ही हैं साथ ही कथा के विकास में भी योग देती हैं। वेंकटेश्वर भट्ट की यात्रा का सम्बन्ध श्रीपर्वत और उड्डियानपीठ से जोड़ कर लेखक ने इन स्थानों के धार्मिक महत्त्व को प्रकाशित किया है।

आत्मकथा में इतने स्थानों और इतनी यात्राओं का वर्णन होते हुए भी लेखक की रुचि ने भद्रेश्वर और सम्बन्धित यात्राओं और स्थलों के वर्णन के लिए जो अवसर लिया है वह अनुपम है। इन वर्णनों में कथा में लहरियाँ सी उठती हैं। इन यात्राओं के अवसर पर यात्रियों को अपनी मानसिक वृत्तियों और मार्मिकताओं को अनावृत करने का मौका मिलता है। कई संस्मरण और जीवनियाँ इन्हीं यात्राओं के इर्द-गिर्द घूमती हैं, जिनको मूल कथा में मौन देने के लिए सुअवसर मिलता है। इन यात्राओं में कथा फूलती-फलती तो है ही साथ ही ये उपन्यास के गठन को परिनिष्ठित और कार्य-व्यापार को प्रेरित करती हैं। उपन्यास-शिल्प का नियमन करती हुई यात्राएँ वर्णनों के लिए उपकरण जुटाती हैं व्यक्तीकरण के लिए अवसर, कार्य-व्यापार को प्रसार और चरित्र को विकास भी प्रदान करती हैं।

७ लेखक की आत्मकथा का अंश

बाणभट्ट की आत्मकथा के दो पहलू देखे जा सकते हैं—एक पहलू में, जो बिल्कुल स्पष्ट है, बाण की कथा है और दूसरे में जो गुप्त है किन्तु अनुमेय है, लेखक (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) की कथा है। इतिहास की सीमाओं पर जहाँ जहाँ बाण का देखा जा सकता है वहाँ वहाँ आधुनिक समाज की सीमाओं में लेखक अपने व्यक्तित्व का विनि-वेश कर देता है। लेखक ने जिन पात्रों को कथा से संबद्ध किया है वे सब ऐतिहासिक नहीं हैं। मधु शर्मा बाभ्रव्य, दीदी, अघोर भैरव और बटिलभट्ट की पृष्ठभूमि में द्विवेदी जी के अपने संबंध झलक गये हैं।

मधु शर्मा के पक्ष में लेखक की खोज की जा सकती है। मधु शर्मा ऐतिहासिक क्षेत्र में बाण के गुरु हैं किन्तु उनमें द्विवेदी जी के गुरु पंडित रामबल ओझा के व्यक्तित्व की झांकी देखी जा सकती है। मधु शर्मा के वंश, जाति, गोत्र आदि की भूमिका में द्विवेदी जी के वंश, जाति, गोत्र आदि को खोज सकते हैं। लेखक ने अपने एक बनारसी मित्र को जो यकायक पागल हो गये थे, बाभ्रव्य बना दिया है। दीदी में शान्तिनिकेतन में आई हुई एक आस्ट्रियन वृद्धा की छाया मिलती है। अघोरभैरव 'कंकालीतला' (शान्तिनिकेतन से दो मील दूरी स्थित साधना-पीठ) में रहने वाले भैरव की प्रतिमूर्ति है। कंकालीतला के भैरव के सम्बन्ध में अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हो चुकी हैं। सम्भवत साधना-पद्धतियों को कथाओं में रखने की प्रेरणा लेखक को हरप्रसाद शास्त्री द्वारा लिखी गई उस कथा से मिला हो जो उन्होंने तांत्रिकों के विषय में लिखी थी। आश्चर्य नहीं कि भट्टिनी और निपुणिका किसी सामयिक बिम्ब के रूप में ही प्रतिरूपित हुई हों। शान्तिनिकेतन के किसी छात्र की छाया ही बटिलभट्ट में दृष्टिगोचर होती है। सुना जाता है कि द्विवेदी जी के समय में शान्तिनिकेतन में एक ऐसा छात्र वहाँ था भी।

पात्रों के अतिरिक्त बाणभट्ट की आत्मकथा में कुछ रुचियाँ, प्रवृत्तियाँ और आस्थाएँ प्रत्यक्ष होती हैं जिनका सम्बन्ध अनेक स्थानों पर आचार्य द्विवेदी जी से जोड़ा जा सकता है। अघोरभैरव के प्रति बाण की जिस आस्था की अभिव्यक्ति हुई है, वह लेखक की अपनी रुझान का प्रमाण है। 'नाथ सम्प्रदाय' 'कबीर' 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' आदि में लेखक की इस रुझान का अनुमान लगाया जा सकता है। रचना के उपसंहार में लेखक की इस उक्ति से इस अनुमान की पुष्टि हो सकती है कि "इस कथा में अपने गुरु मधु शर्मा की अपेक्षा अघोरभैरव के प्रति बाणभट्ट की आस्था अधिक प्रकट हुई है।"

ऐसी बात नहीं है कि लेखक ने आत्मकथा में केवल समसामयिक बोध ही बिखेरा किया है, प्रत्युत् अपनी अन्तर्कथा भी बाण और निपुणिका के मुख से कहलाने का प्रयत्न किया है। यह ठीक है कि अनेक पात्र और घटनाएँ लेखक के समसामयिक बोध को प्रकाशित करती हैं किन्तु यह भी ठीक है कि बाण और निपुणिका ने अनेक स्थानों पर मानों लेखक की अन्तर्कथा ही सुना-दी है। बाण गल्प सुना-सुना कर ठहाका मारकर हँसता है इस प्रकृति को आचार्य द्विवेदी के इष्ट मित्र उनकी सहचरी के रूप में देख सकते हैं। शब्दों के साथ हँसना एक बात है, किन्तु रस ले-लेकर हँसना दूसरी बात है। आचार्य द्विवेदी का हँसना इसी प्रकार का है और यही बाण की प्रकृति पर आरोपित किया गया है।

कालिदास की साहित्यिक कृतियों के प्रति बाण की रुचि में द्विवेदीजी की निजी रुचि प्रत्यक्ष है। जितना भाव कालिदास की रचनाओं के पढ़ने में बाण को है उतना ही डा० द्विवेदी को है। उनकी पठन-रुचि जितनी कालिदास की कृतियों में रमती है उतनी अन्यत्र नहीं रमती। चिन्तन की भूमिका पर कोई भी वस्तु लेखक को 'अतीत' में निमग्न कर देती है। यह प्रवृत्ति बाण की प्रकृति से भी अभिन्न है।

लेखक भाषण-कला में निष्णात हैं। उनके भाषण चमत्कारी होते हैं। भाषण के बीच-बीच में संस्कृत श्लोकों की गंगा-जमुनी बौछारें अपने प्रभाव का रंग जमाये बिना नहीं रह सकती। उनके भाषण में भावों की हिलोरें उठती जाती हैं, जिनमें काव्य-रस घुलकता प्रतीत होता है। उनका कहना है कि वह लेख या भाषण कैसा जिसमें भावा रमकता नहीं। लेखक की मस्त हँसी भाषण में चार चाँद लगा देती है। इन प्रवृत्तियों को लेखक ने बाण के स्वभाव में भी झलकाया है।

जो लोग डा० द्विवेदी के विचारों से परिचित हैं वे जानते होंगे कि समन्वयवादी दृष्टि लेखक की वैचारिक निधि का प्रमुख अङ्ग है इसीलिए रूढ़ परंपराएँ लेखक के व्यक्तित्व में सम्मानित नहीं हैं। वह किसी भी कल्याणकारी परिवर्तन को स्वीकार कर सकता है। बाण के व्यक्तित्व में भी समन्वयवादी दृष्टिकोण का प्रमुख योग है। इसलिए इन उक्तियों में हम कथा के पात्रों के पीछे डा० द्विवेदी के दृष्टिकोण की झाँकी पा सकते हैं—

(१) "साधारणतः लोग विष उचित-अनुचित के बँधे रास्ते से सोचते हैं उससे मैं नहीं सोचता। (बाण)

(२) 'तू शायद प्रतिज्ञा के सफल होने को बड़ी चीज समझती है। ना बहन, प्रतिज्ञा करना ही बड़ी चीज है।" (भट्टिनी निपुणिका से)

(३) "लोक-कल्याण प्रधान वस्तु है। वह जिससे सधता हो, वही सत्य है। हमारी समाज-व्यवस्था ही ऐसी है कि उसमें सत्य अधिकतर स्थानों में मिथ्या का काम करता है। (कृष्णवर्धन)

इन उक्तियों से लेखक के अपने सिद्धान्तों का दिग्दर्शन तो किया ही जा सकता है साथ ही इनमें उसकी दीर्घ लोकानुभूति और आकांक्षा भी अभिव्यक्त हो गई है।

'सौभाग्य' और 'भट्ट' लेखक की आस्था के प्रमुख प्रतिष्ठान-बिन्दु हैं। इनमें बाणभट्ट के पीछे उसकी अपनी वैष्णव आस्था का प्रतिबिम्ब झलक रहा है। लेखक की मस्ती की आधारशिला वस्तुतः 'सौभाग्य' की माता और 'भट्ट' में विश्वास पर निहित है। यही मस्ती बाणभट्ट में विन्यस्त हुई है।

नारी के संबन्ध में आचार्य द्विवेदी का मत मैं व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ। वे उसके प्रति बड़े सदाशय और उदार हैं। आज से नहीं, छोटेपन से ही वे स्त्री के प्रति आदर भाव रखते हैं और उनके आचरणिक कौटुम्ब में भी वे एक दिव्य शक्ति की झाँकी पाते हैं। जिन परिस्थितियों में नारी को कुलभ्रष्ट समझा जाता है उनको सामने रख कर ही वे नारी के मूल्य को आँकते हैं। दोष परिस्थितियों के सिर पर है नारी के ऊपर नहीं। इसके अतिरिक्त लोक-दृष्टि कुलभ्रष्टा समझी जाने वाली नारियों के अन्तर्भाव पर न पड़ कर उनके वातावरण पर ही पड़ती है जिससे सद्गनिताएँ भी असम्मान की खाई में गिरायी जाती हैं। सच तो यह है कि नारी के संबन्ध में बाण का दृष्टिकोण लेखक का अपना दृष्टिकोण है। बाण कहता है— बहुत छुटपन से ही मैं स्त्री का सम्मान करना जानता हूँ। साधारणतः जिन स्त्रियों को चंचल और कुलभ्रष्टा माना जाता है, उनमें एक दैवी-शक्ति भी होती है यह बात लोग भूल जाते हैं मैं नहीं भूलता। मैं स्त्री-शरीर को देव मंदिर के समान पवित्र मानता हूँ—मैं सदा अपने को सँभाल सकने में समर्थ रहा हूँ। इस बात का मुझे अभिमान है।" इसी स्थापना में बाण का जीवन लेखक के जीवन का दर्पण बना हुआ है। "फलस्वरूप एक ओर लेखक का चरित्र दूसरी ओर महामाया की सौभाग्य छाया और तीसरी ओर उस सामन्त-युग के नैतिक बन्धन मिल-जुल कर 'आत्म कथा' में 'लम्पट' बाण को भी देवोपम अभिभावक' में रूपान्तरित कर देते हैं।' १

बाण नारियों के प्रति कोमल एवं सरस भाव रखता है किन्तु वे बड़े पावन भाव हैं कहीं कालुष्य का नाम नहीं है। बाण स्त्री को देवता समझता है किन्तु देवता समझने की मनोवृत्ति असत् और अति की सीमा तक जा पहुँची है। इससे स्त्रियों की मानसी क्षमा गरिमा से विरत दृष्टिगोचर होती है। बाण पर 'पाषाण-पिंड' और 'प्रस्तरप्रतिमा' शब्दों के प्रहार किये जाते हैं। निपुणिका और भट्टिनी की मानसिक प्रतिक्रिया का स्वरूप स्नायुदौर्बल्य (निपुणिका के पक्ष में) और विरक्तकरुणाकार (भट्टिनी के पक्ष में) के रूप में होती है। बाण का यह आचरण उसे 'दुर्बलता' के कलंक से बचा लेता है। फिर भी उसे 'भोलेपन' के उपहास का भागी तो बनना ही पड़ता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से बाण का स्वभाव एक पहेली है किन्तु एक प्रौढ़तर के चरित्र शिष्टाचार में उसे खोजते हुए हम लेखक के समीप पहुँच सकते हैं। 'प्रेम की इस भावना में आलोकित होने वाला बाण लेखक के व्यक्तित्व की गूढ़ और अनन्त प्रेम की दृष्टि तथा सनातन वैष्णव-मर्यादा

---

१ देखिये आलोचना—नवांक जनवरी १९५४ पृ० १२२

बाला आवरण ग्रहण करके एक मिला-जुला व्यक्तित्व प्राप्त करता है। लेखक तामसिकता से यथासंभव परिशुद्ध है, इसलिए सम्पूर्ण आत्मकथा में कोई भी ऐसा सांसारिक विकृष्ट घृणित दृश्य या तथाकथित अनैतिक संबंध नहीं आ सका है। सारी कृति का यह पक्ष इस लेखक के आवरण की महती देन है। लेखक 'नियति' तथा 'सौभाग्य' पर प्रबल विश्वास करने वाला है। फलस्वरूप बाण का चरित्र तथा उसके साथ-साथ सभी पात्र भी 'नियति-तत्त्व' से प्रभावित हुए हैं। इस प्रकार आत्मकथा में लेखक का सम-सामयिक बोध और उसका अनुभूतिमूलक इतिहास (आत्मकथा) क्रमशः मानवतावाद और नियतिवाद एवं वैष्णव मर्यादा का आयत्तीकरण करता है।'[2]

लेखक की संवेग-भावना के प्रकाश में आत्मकथा के स्थानों का परिचय दे देना भी इसलिए आवश्यक है कि उससे लेखक की आत्मकथा पर भी प्रकाश पड़ता है। लेखक भद्रेश्वर में रम-सा गया है इसलिए इस अंश में लेखक की आत्मकथा अधिक है बाण की कम। इस प्रसंग में उपसंहार इस वाक्य की गुत्थी अपने आप खुल जाती है कि 'स्थाण्वीश्वर और चरणाद्रि दुर्ग (चुनार) का नाम मात्र का उल्लेख है, परन्तु भद्रेश्वर दुर्ग और उसके समीपवर्ती स्थानों का कुछ अधिक वर्णन है, जो काफी संकेतपूर्ण है।" आत्म-कथा के अनेक स्थलों में घूमकर भी लेखक डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने गाँव ओझवलिया और उसके पास-पड़ोस को नहीं भूले हैं। शान्तिनिकेतन का निवास भी ग्राम-मोह से उनकी मुक्ति नहीं कर सका है। *उनकी यशपायी दृष्टि इस क्षेत्र में घूम-फिर कर आये* बिना नहीं रही है। परिचित वातावरण के वर्णन और ओझवलिया के आसपास की भौगोलिक स्थिति के चित्रण से यह तथ्य प्रकाश में आ जाता है।

ओझवलिया बलिया जिले में है। इसका डाकघर भड़सर है। यही भड़सर या भरछर 'आत्मकथा' का भद्रेश्वर है। ओझवलिया में आरतदुबे का छपरा लेखक के पितामह ने बसाया था। ओझवलिया दूरी के कारण आत्मकथा के स्थानों में सम्मिलित नहीं हो सका है किन्तु भरछर या भद्रेश्वर के वर्णन का माधुर्य देखते ही बनता है। भरछर गाँव बहुत पुराना है। यहाँ का दुर्ग सम्भवतः गंगा में डूब चुका है। गाँव के पास छोटी सरयू (महासरयू की एक शाखा) बहती है जो लेखक की कल्पना में महासरयू बन गई है। गाँव की सुरहा झील ही सौरभ झील है जिसमें कादम्बरी के पम्पासरोवर तथा अच्छोद सरोवर के दृश्यों का सौन्दर्य भर दिया गया है। 'मधुतीर्थ' गंगा के किनारे का *'बजरहा'* गाँव है। *कृष्णगिरि की स्थिति* चुनार से चार मील दूर विन्ध्याचल पर्वत में है। कल्प प्रीतिकूट का संकेत करता है। इस प्रकार इस उपन्यास में बाण की प्रिय विन्ध्याटवी के बजाय लेखक के ग्रामांचल के दृश्य ही सामने आते हैं।

---

२. देखिये, आलोचना—नवांक, जनवरी, १९५४, पृ० १२१

८. वातावरण

आत्मकथा हर्षकालीन वातावरण लेकर निर्मित हुई है। हर्षचरित और कादम्बरी के अनेक सूत्रों से वातावरण का यह पट तैयार हुआ है किन्तु कल्पना के उपयुक्त सहयोग से इतिहास को अपने ढंग से सजाया है। इसमें राजनीति, धर्म समाज संस्कृति और प्रकृति के पृथक्-पृथक् रंग दृष्टिगोचर होते हैं।

राजनीतिक वातावरण

राजनीतिक वातावरण भी विविध रंग का दिखायी देता है। इनमें से विदेशी आक्रमण प्रमुख हैं। जिन म्लेच्छों से लोहा लेने के लिए समुद्रगुप्त ने अपने पूर्ण बल से काम लिया, जिनको दबाने के लिए चन्द्रगुप्त की रण-हुंकारें सागर की भांति उमड़ीं, मौखरियों की दुर्दान्त वाहिनी प्रलय-मेघों की भांति घुमड़ती रही वे अभी तक जीवित थे। प्रच्छन्न दस्युओं के रूप में वे अब भी आक्रमण कर रहे थे।

हूण

(बाणभट्ट की आत्मकथा में हूणों के लिए ही सम्भवतः 'म्लेच्छ' शब्द का प्रयोग किया गया है।)[1] स्वर्गीय डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने 'मध्य एशिया में रहने वाली एक आर्य जाति को हूण' कहा है। उनका अनुमान तो यह भी है कि 'कुशन और हूण दोनों एक ही वंश की भिन्न शाखाओं के नाम होने चाहिये। कुमाऊँ के लोग अब तक तिब्बत वालों को 'हूणिया' कहते हैं जिससे अनुमान होता है कि कुशन और हूणवंशियों के पूर्वज तिब्बत से विजय करते हुए मध्य एशिया में पहुँचे और वहाँ उन्होंने अपना आधिपत्य जमाया। वहाँ से उन्होंने फिर, भिन्न-भिन्न समय में हिन्दुस्तान में आकर अपने राज्य स्थापित किये।'[2]

"हूणों के पंजाब से दक्षिण में बढ़ने पर गुप्तवंशीय राजा कुमारगुप्त से उनका युद्ध हुआ, जिसमें कुमारगुप्त मारा गया; परन्तु उसके पुत्र स्कन्दगुप्त ने वीरता से लड़ कर हूण राजा को परास्त किया। फिर राजा बुधगुप्त के समय वि० सं० ५५६ (ई० सन् ४९९) से कुछ पीछे हूण राजा तोरमाण ने गुप्त साम्राज्य का पश्चिमी भाग अर्थात् गुजरात काठियावाड़, राजपूताना मालवा आदि छीन लिए और वहाँ पर अपना राज्य

१ देखिए, रा० पू० इति०, भाग १, पृ० ११६

२ देखिए, वही, पृ० १२८

स्थिर[1] किया। हूण वंश में दो ही राजा हुए—एक तो तोरमाण और दूसरा उसका पुत्र मिहिरकुल या मिहिरगुप्त। मिहिरकुल का एक शिलालेख ग्वालियर से मिला है, जिस पर एक ओर उसका नाम और दूसरी ओर 'जयतु वृषध्वज' लिखा है जिससे उसका शिव भक्त होना प्रकट होता है।''

यशोधर्मा से हार जाने पर भी हूण लोग अपना अधिकार बना रखने के लिये लड़ते रहे। यह बात पिछले राजाओं के साथ हुई, उनकी लड़ाइयों से स्पष्ट है। थानेसर और कन्नौज के वैसवंशी राजा प्रभाकरवर्द्धन और राज्यवर्द्धन हूणों से लड़े थे, किन्तु उस समय हूणों का कोई राज्य नहीं था। वे अब लूटमार करने के लिए कभी-कभी आक्रमण कर देते थे। जिन प्रचण्ड दस्युओं का आत्मकथा में उल्लेख है वे यही हूण हैं। वे लोग न केवल धन ही लूट कर ले जाते थे वरन् स्त्रियों को भी उठा ले जाते थे।

थानेसर का राजवंश

इस समय देश के अनेक टुकड़े हो रहे थे। यहाँ अनेक छोटे-छोटे राज्य और जागीरें कायम थीं जो आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे। इस समय सबसे बड़ा राज्य थानेसर का था जिसमें कन्नौज भी सम्मिलित था। आत्मकथा में इसको 'मध्यकुल' राज्य कहा है। इसकी राजधानी थानेसर या स्थाण्वीश्वर थी। थानेसर के राजवंश का इतिहास इस प्रकार है—'पुष्पभूति श्रीकंठ प्रदेश (थानेसर) का स्वामी था जो परम शिवभक्त था। उसके पुत्र नरवर्द्धन की रानी वज्रिणीदेवी से राज्यवर्द्धन उत्पन्न हुआ जो सूर्य का परम उपासक था। राज्यवर्द्धन की रानी अप्सरादेवी से आदित्यवर्द्धन का जन्म हुआ। वह भी सूर्य का भक्त था। उसकी रानी महासेना गुप्ता से प्रभाकरवर्द्धन ने जन्म लिया जिसको प्रतापशील भी कहते थे। आदित्यवर्द्धन तक के नामों के साथ केवल 'महाराज' पद मिलता है अतएव वे स्वतंत्र राजा नहीं अपितु दूसरों के अधीन सामंत थे। प्रभाकरवर्द्धन की पदवियाँ 'परमभट्टारक' और 'महाराजाधिराज' मिलती हैं, जो उसका स्वतंत्र राजा होना प्रकट करती हैं। हर्ष के ताम्रपत्रों में उसको अनेक राजाओं का नमाने वाला, तथा 'हर्षचरित' में हूणों एवं गांधार, सिंधु, गुर्जर और लाट देशों को विजय करने वाला लिखा है। वह भी सूर्य का परम भक्त था और प्रतिदिन 'आदित्य-हृदय' का पाठ किया करता था।

उसकी रानी यशोमती से दो पुत्र राज्यवर्द्धन और हर्षवर्द्धन तथा एक पुत्री राज्यश्री उत्पन्न हुईं, जिसका विवाह कन्नौज के मौखरीवंशी के राजा अवंतिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा के साथ हुआ था। मालवा के राजा ने ग्रहवर्मा को मारकर उसकी रानी राज्यश्री के पैरों में बेड़ियाँ डालकर उसे कन्नौज के कैदखाने में रख दिया। उसी समय प्रभाकर-

---

1 देखिए, रा० पू० इति, खण्ड 1, पृ० 128-129

वर्धन का देहान्त होगया और उसका बड़ा पुत्र राज्यवर्धन थानेसर के राज-सिंहासन पर बैठा।

राज्यवर्धन

राज्यवर्धन अपने पिता के देहान्त के समय उत्तर में हूणों से लड़ने को गया हुआ था। वहाँ वह घायल होकर भी विजय प्राप्त कर ले आया। उसी दशा में वह थानेसर पहुँचा किन्तु पितृस्नेह से सिंहासनारूढ होना पसंद न करके भहन्त (बौद्ध साधु) होने के लिए कटिबद्ध हो गया और अपने छोटे भाई हर्षवर्धन को राज-सिंहासन पर बैठाना चाहा। इतने में राज्यश्री के कैद होने की खबर पाकर राज्यवर्धन ने महन्त होने के विचार को स्थगित कर दस हजार सवारों के साथ मालवा के राजा पर चढ़ाई कर दी और विजय कर धनधान्य के साथ बहुत सी सुन्दर स्त्रियाँ सामन्तों आदि को भी कैद कर लाया। लौटते समय गौड़ (बंगाल) के राजा नरेन्द्रगुप्त (शशांक) ने अपने महल में बैठाकर उसे (राज्यवर्धन को) विश्वासघात करके मार डाला। यह घटना स० ६६३ वि० (सन् ६०६ ई०) में घटी। हर्ष के ताम्रपत्र में राज्यवर्धन का परम सौगत (बौद्ध) होना, देवगुप्त आदि अनेक राजाओं को जीतना तथा सत्य के अनुरोध से शत्रु के घर में प्राण देना लिखा है। उसका उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई हर्षवर्धन हुआ।

श्रीहर्ष

हर्षवर्धन को श्रीहर्ष, हर्ष और शीलादित्य भी कहते हैं। गद्दी पर बैठते ही उसने गौड़ के राजा से बदला लेने का संकल्प कर लिया और अपने सेनापति सिंहनाद को लेकर दिग्विजय को निकल पड़ा। अनुमान से करीब ३० वर्ष तक युद्ध करके उसने कश्मीर से आसाम और नैपाल से नर्मदा तक के सब देश अपने अधीन कर एक बड़ा राज्य स्थापित कर लिया। उसने दक्षिण को भी अधीन करना चाहा किन्तु (बम्बई अहाते के बीजापुर जिले के) बादामी के चालुक्य (सोलंकी) राजा पुलकेशी (द्वितीय) से हार जाने पर उसका वह मनोरथ सफल न हुआ। उसकी राजधानी थानेसर और कन्नौज दोनों थीं।

हर्ष के गुण

हर्ष स्वयं विद्वान् था। कहा जाता है कि उसने रत्नावली प्रियदर्शिका और 'नागानन्द' नाटक लिखे। रत्नावली का नाम तो 'कथासरित्सागर' में भी आया है। उसे धर्मगुरुओं के शास्त्रार्थ को सुनने का बड़ा शौक था। एरणीक होने के साथ-साथ वह जीवहिंसा और मांसभक्षण का विरोधी था। जीवहिंसाकारियों को दण्ड दिया जाता था। चित्रकला में उसकी बड़ी रुचि थी। विद्वानों का सम्मानकर्ता होने से कई बड़े-बड़े विद्वान् उसकी सभा की शोभा बढ़ाते थे जैसे बाणभट्ट, उसका पुत्र पुलिंद (पुलिन) भट्ट मयूर,

१ देखिये राजपूताने का इतिहास भाग १, पृ० १३१

दिवाकर (मातंग), मयूर और मानतुंग आचार्य भी उसी के समय में हुए थे ऐसा भी कुछ विद्वान् मानते हैं। हर्ष पहले शिव भक्त था, फिर बौद्ध हो गया। हर्ष बैसवंशी राजपूत था। अवध में बैसवाड़े का इलाका बैसवंशी राजपूतों का मुख्य स्थान है।

देश की स्थिति

इस ऐतिहासिक विवेचन से 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के वातावरण पर काफी प्रकाश पड़ जाता है। इससे न केवल राजनीतिक स्थिति ही सामने आ जाती है, वरन् धार्मिक स्थिति पर भी पर्याप्त आलोक पड़ जाता है। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि देश के टुकड़े हो रहे थे। इससे भारत की शक्ति खण्डित हो रही थी जो उसके पराभव का प्रमुख कारण थी। स्त्रियाँ अपहृत होती थीं। वैधव्य उनमें से अधिकांश की समस्या थी। वे प्रायः पराजित रहती थीं। प्रजा में मृत्यु का भय छा गया था। इस तथ्य को आत्मकथा में इन शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है—

> अमृत के पुत्रो, बड़ा दुर्दैवकाल उपस्थित है। राजाओं राजपुत्रों और देवपुत्रों की आशा पर निश्चेष्ट बने रहने का निश्चित परिणाम पराभव है। प्रजा में मृत्यु का भय छा गया है। यह अशुभ लक्षण है।"[1]

गिरिसंकट के उस पार अत्यन्त घृणित म्लेच्छ जातियाँ बसती थीं। लूटमार ही उनका व्यवसाय था देवायतनों को भ्रष्ट करना ही उनका धर्म था ब्राह्मणों और श्रमणों का वध करना ही उनका आमोद था, कुलवधुओं और बालिकाओं का धर्षण ही उनका विलास और हत्या तथा ग्राम जलाना ही उनका पावन कर्तव्य था। उन्होंने पुरुषपुर से साकेत तक के सारे जनपद को रौंद डाला था।[1] आक्रमणकारी अत्यन्त दस्यु सीमान्त पर एकत्र होने लगे थे। आर्यावर्त के देवमन्दिरों विहारों पाठशालाओं, साधुओं स्त्रियों, ब्राह्मणों और श्रमणों पर विनाश का आतंक छा रहा था। हूणों का प्रताप अस्त हो गया था, दुर्मद पौरुष उत्पाटितदन्त व्याघ्र की भाँति हतदर्प हो गये थे और मौखरियों का सिंहासन निष्प्रभ हो गया था। जनता केवल कान्यकुब्ज के राज्य की ओर आस्त होकर ताक रही थी। यह बात इतिहास सिद्ध है। यह बात भी सिद्ध है कि उस समय ब्राह्मणों और सामन्तों के राज्य भी थे किन्तु टिड्डियों से भी विपुल भेड़ियों से भी क्रूर हूणों से भी निष्ठुर शृगालों से भी हीन और कुष्माण्डों से भी अधिक बहुरूपी हुए दस्युओं से इस पवित्र भूमि को बचाने की सामर्थ्य कौन रखता था।[2] उस समय तुवरमिलिन्द बहुत पराक्रमशाली सामन्त था, यह आत्मकथाकार की कल्पना है। इतिहास इसका साक्ष्य नहीं देता। तुवरमिलिन्द की प्रशंसा में लेखक ने बाणभट्ट के मुख से

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० १२१

२ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० १९९

ये शब्द कहलवाये हैं— 'देवपुत्र तुवरमिलिन्द × × × जिनके वीर्यदर्प के प्रताप से रोमकपत्तन के उत्तर के देश कांपते हैं, जिनकी खरतर-असिधारा-स्रोतस्विनी में शक-पार्थिव जैसे पार्थिव फेन-बुद्बुद की भांति बह गये जिनकी प्रतापाग्नि ने उद्दण्ड बाह्लीकों को इस प्रकार तोड़ डाला जैसे क्रीड़ा-परायण शिशु कमल-दण्ड को तोड़ देते हैं और जिनकी स्फूर्जित दीप्त कीर्ति-वह्नि में प्रत्यन्त सामन्त स्वयं पतंगायमान हो रहे हैं।'[1] यह विषम समर-विजयी एवं प्रतिस्पर्द्धि-विकट व्यक्ति हैं।

सामन्त लोग और उनकी उच्छृंखलता

राजा और सामन्त न केवल आपस में लड़ते-झगड़ते थे अपितु उनके इस कलह व्यापार से प्रजा भी त्रस्त रहती थी। प्रजा के लोग शत्रु-राजा की सीमा में प्रवेश नहीं कर सकते थे। परिणाम में धन-माल की लूट ही नहीं होती थी वरन् प्राणों पर भी आ बनती थी।

चरणाद्रि दुर्ग कान्यकुब्ज राज्य की उस समय पूर्वी सीमा पर था। इसके आगे के देशों में बड़ी भारी अराजकता थी। उत्तर का काशी और दक्षिण का करूप जनपद न तो मगध के गुप्तों के हाथ में था और न कान्यकुब्ज के राजा हर्ष के। राज्यवर्धन ने बड़ी कुशल नीति से काम किया था। उन्होंने उत्तरी तट के कुछ ब्राह्मणों को भूमि का अग्रहार देकर अपने पक्ष में कर लिया था किन्तु बाद में वे भूमि-अग्रहारभोजी ब्राह्मण समस्त जनपद में प्रधान हो उठे थे। वे ही उधर के सामन्त थे। उनमें वैदिक क्रिया लुप्त होती जा रही थी और वे खुलकर बौद्ध राजा का समर्थन करने लगे थे। दक्षिण के व्याघ्र सरोवर में आभीर सामन्त ईश्वरसेन का जोर था। वह गुप्त सम्राटों का बड़ा ही विश्वासभाजन था। इधर गंगातटीय जनपद पर आभीर सामन्त रुद्रसेन का अधिकार था वह भी मनमानी कर रहा था।

हर्ष की नैतिक दुर्बलता

जिस वंश में यशोवर्मा ने हूणों को बिल्कुल ठंडा कर दिया था और जिसका पराक्रम भारत भर में प्रसिद्ध हो गया था उसी मौखरि-वंश में 'छोटे महाराज' कलंक के रूप में प्रकट हुआ। वह महासम्पन्न व्यक्ति था। उसे पोष कर हर्ष ने नीति-नैपुण्य का परिचय तो अवश्य दिया किन्तु सारे देश में मौखरियों के प्रति घृणा उत्पन्न करा दी। 'छोटे महाराज' के दम्भ-दर्प की कोई मर्यादा नहीं थी। वहाँ वीर्य-शून्य भरपूर पतिता भ्रष्टा नर्तन करती थी। उनका कोई अवलंब न थी। ऐसे राजकुल को अभय देने वाले राजवंश ने अपने को पूजन-स्मरण के अयोग्य सिद्ध कर दिया। महाराजाधिराज हर्षवर्धन राजनीति की जटिलता के कारण अपराधी को अपराध का दण्ड नहीं दे पा

1 बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० ८१

गद्‌गद-भाव प्रकट हो रहा था। आसन के ठीक सामने एक वेदी पर कलश स्थापित था। मैंने आश्चर्य के साथ देखा कि भाव और तन्तुस से एक ऊर्ध्वमुख त्रिकोण को पार्श्व भाव से बिद्ध करके अधोमुख त्रिकोण-चक्र ठीक उसी प्रकार अंकित था जिस प्रकार शाक्त तांत्रिकों का बीजक हुआ करता है। उस चक्र के मध्य में प्रफुल्ल शतदल देखकर तो और भी आश्चर्य-चकित रह गया। मैंने अब तक यही समझा था कि ऊर्ध्वमुख त्रिकोण शिव तत्त्व का प्रतीक है और अधोमुख त्रिकोण शक्ति-तत्त्व का। भागवत सम्प्रदाय से तो इसका दूर का सम्बन्ध भी नहीं है। और यह पद्म तो किसी प्रकार यहाँ नहीं बस सकता क्योंकि पद्म के साथ वज्र होना चाहिये। ऐसा होता तो इसे सौगत तंत्र ही मान लेते; परन्तु यह तो अद्‌भुत मिश्रण है। मगध का साधारण मनुष्य भी इस अनुष्ठान का विरोध किये बिना न रहता परन्तु कान्यकुब्ज विचित्र देश है। यहाँ आचारों में तो तिलमात्र भी परिवर्तन सहन नहीं किया जाता पर धार्मिक अनुष्ठान में प्रतिदिन नये-नये उपादान मिश्रित होते रहते हैं।[१] इससे स्पष्ट है कि धर्मों की कुछ साधनात्मक विशेषताएं थीं, जो प्रदेश-भेद से प्रतिष्ठित थीं, जैसा कि मगध और कान्यकुब्ज के उदाहरणों से प्रकट होता है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि हर्ष के राज्य में धार्मिक स्वतन्त्रता थी और इसी कारण साधना-समन्वय भी सम्भव था। मगध में वैष्णव-धर्म किसी साधनात्मक परिवर्तन को स्वीकार नहीं कर सकता था।

उस समय धार्मिक विकास स्पर्धा के साथ होता था उदाहरण के लिए, जो श्रीपर्वत उस समय वामाचारियों और कापालिकों की साधना-भूमि था वही वैष्णव साधना की रम्य स्थली भी था। बुद्ध और बाण का अधोलिखित प्रश्नोत्तर इसका साक्ष्य देता है—

'मैंने बीच ही में टोका— क्या कह रही है, आर्ये ? श्रीपर्वत तो वामाचारियों और कापालिकों की साधना भूमि है। वहाँ वैष्णव तांत्रिक साधना भी है यह बात तो नई सुन रहा हूँ।" वृद्ध ने मन्द-स्मितपूर्वक उत्तर दिया— 'कान्यकुब्ज में आये हो तो बहुत सी नई बातें सुनोगे भद्र। ये वेंकटेश भट्ट पहले उड्डियान पीठ में सौगत तंत्र की उपासना करते थे। वहाँ से न जाने क्या बात हुई ये श्रीपर्वत पर चले आये और अब तो कान्यकुब्ज को ही पवित्र कर रहे हैं।'

कान्यकुब्ज के धार्मिक वातावरण में स्त्रियों की भक्ति प्रमुख है। "शुरू-शुरू में कुछ चपलस्वभावा स्त्रियां ने ही उनसे दीक्षा ली थी। फिर तो यह हालत हो गई कि नगर का अन्तःपुर संध्या के समय निःसंकोच भाव से उमड़कर भक्ति-आयोजन में शामिल हो जाता था। श्रावकों में अधिकांश स्त्रियाँ होती थीं। कांस्य और करताल के साथ संमादक वाद्य उन्माद का वातावरण पैदा करता था। इसी वातावरण में नारायण की स्तुति का गान होता था और नारायण की स्तुति सहस्रों नर-नारियों के कंठों से वर्षा

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० २२६–२३०

ी सरिता की भाँति उमड़ती थी। संगीत और वाद्य का मधुर मिश्रण भक्ति के वाता-रण को मोहक बना देता था। गुरु की आज्ञा से सब लोग चुप हो जाते थे। फिर ीर्तन के प्रारम्भ की सूचना देने के लिए कोई स्त्री ताल बजाती थी। यह भजन-आपम व प्रकार से विचित्र था। कीर्तन में 'नाम'—जाप प्रमुख था। संगीत की मधुर शीतल ।दाकिनी में समस्त जनमंडली डूब जाती थी।

भक्त लोग प्रायः कुशास्तरण पर बैठते थे। गोपाल वासुदेव की मनोहारी मूर्ति ामने होती थी और पार्श्व में धूप-वर्तिका जलती थी। वासुदेव की त्रिभंगी मूर्ति की भी उपासना की जाती थी। उसके गले में माला होती थी।

भक्त लोग शरीर को बैकुंठ मानते थे क्योंकि "इसी को आश्रय करके नारायण अपनी आनन्द-लीला प्रकट कर रहे हैं। आनन्द से ही यह भुवन-मंडल उद्भासित है। आनन्द से ही विधाता ने सृष्टि उत्पन्न की है। आनन्द ही उसका उद्गम है, आनन्द ही उसका लक्ष्य है। आनन्द-लीला ही इस सृष्टि का प्रयोजन है।"[1] 'नारायण मनुष्य के बाहर नहीं हैं। तुम प्रसन्न हो तो निश्चय ही नारायण प्रसन्न हैं। तुम नारायण के हो तो रूप हो।[2]

सूर्य और शिव की उपासना भी होती थी, किन्तु वैष्णव भक्ति का वातावरण ही आत्मकथा में प्रमुखता से आया है। वासुदेव के साथ वराह का भी बहुत अधिक महत्त्व था। धर्म के इतिहास में भी वराह की भक्ति को हर्षकाल में प्रमुख बतलाया गया है। सम्भवतः हर्षकालीन जनता पर गुप्तकालीन संस्कार चले आ रहे थे।

ब्राह्मण जाति के प्रति इतर धर्म वालों की सद्भावनाएँ नहीं थीं। उनके प्रति बौद्धों की प्रबल घृणा थी। वे लोग ब्राह्मण जाति को डरपोक झूठी और पाखंडी कहते थे। वे उसे ठेंठी जाति बतलाते थे। फिर भी ब्राह्मण का समाज में ऊँचा स्थान था। ब्राह्मण को भू-देव समझा जाता था। उसका आशीर्वाद कल्याणमय समझा जाता था। उसके बताये हुए अनुष्ठान मांगल्यप्रद या जप-होम में बड़ी शक्ति मानी जाती थी।[3] हर्षकाल में कान्यकुब्ज ब्राह्मण पंडितों की गद्दी था। सामनेर के शब्दों में "ऐसे तर्क-कुक्कुटों को नमस्कार कर ही वहाँ का राजा सौगत बना रह सकता था।[3] बौद्धों को भय था कि "इस नीति का फल विपरीत न हो। यदि किसी दिन सद्धर्म को नीचा देखना पड़ा, तो कान्यकुब्ज से ही उस अशुभ दिन का प्रारम्भ होगा।[4]

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० २४०

२ वही, पृ० २४१

३ वही, पृ० ८६

४ वही पृ० ७३

मङ्गल-भाव प्रकट हो रहा था। आसन के ठीक सामने एक वेदी पर कलश स्थापित था। मैंने आश्चर्य के साथ देखा कि आप और उन्मुख से एक ऊर्ध्वमुख त्रिकोण को आड़े भाव से विद्ध करके अधोमुख त्रिकोण-चक्र ठीक उसी प्रकार अङ्कित था जिस प्रकार शाक्त तांत्रिकों का बीजक हुआ करता है। उस चक्र के मध्य में प्रफुल्ल शतदल देखकर तो और भी आश्चर्य-चकित रह गया। मैंने अब तक यही समझा था कि ऊर्ध्वमुख त्रिकोण शिव तत्त्व का प्रतीक है और अधोमुख त्रिकोण शक्ति-तत्त्व का। भागवत सम्प्रदाय से तो इनका दूर का सम्बन्ध भी नहीं है। और यह पद्म तो किसी प्रकार यहाँ नहीं बन सकता क्योंकि पद्म के साथ चक्र होना चाहिये। ऐसा होता तो इसे श्रीमत तंत्र ही मान लेते परन्तु यह तो अद्भुत मिश्रण है। मगध का साधारण मनुष्य भी इस अनुष्ठान का विरोध किये बिना न रहता; परन्तु कान्यकुब्ज विचित्र देश है। यहाँ आचारों में तो तिलमात्र भी परिवर्तन सहन नहीं किया जाता पर धार्मिक अनुष्ठान में प्रतिदिन नये-नये उपादान मिश्रित होते रहते हैं। [1] इससे स्पष्ट है कि धर्मों की कुछ साधनात्मक विशेषताएँ थीं, जो प्रदेश-भेद से प्रतिष्ठित थी, जैसा कि मगध और कान्यकुब्ज के उदाहरणों से प्रकट होता है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि हर्ष के राज्य में धार्मिक स्वतन्त्रता थी और इसी कारण साधना-समन्वय भी सम्भव था। मगध में वैष्णव-धर्म किसी साधनात्मक परिवर्तन को स्वीकार नहीं कर सकता था।

उस समय धार्मिक विकास स्पर्धा के साथ होता था; उदाहरण के लिए, श्रीपर्वत उस समय वामाचारियों और कापालिकों की साधना-भूमि था वहीं वैष्णव साधना की रम्य स्थली भी था। वृद्ध और बाण का अधोलिखित प्रश्नोत्तर इसका साक्ष्य देता है—

'मैंने बीच ही में टोका— क्या कह रहे हैं, आर्य? श्रीपर्वत तो वामाचारियों और कापालिकों की साधना-भूमि है। वहाँ वैष्णव तांत्रिक साधना भी है, यह बात तो नई सुन रहा हूँ।" वृद्ध ने मन्द-स्मितपूर्वक उत्तर दिया— कान्यकुब्ज में आये हो तो कुछ सी नई बातें सुनोगे भद्र! ये वेंकटेश भट्ट पहले उड्डियान पीठ में श्रीमत तंत्र की उपासना करते थे। वहाँ से न जाने क्या बात हुई ये श्रीपर्वत पर चले आये और अब तो कान्यकुब्ज को ही पवित्र कर रहे हैं।'

कान्यकुब्ज के धार्मिक वातावरण में स्त्रियों की भक्ति प्रमुख है। 'कुछ-कुछ में कुछ चपलस्वभावा स्त्रियों ने ही उनसे दीक्षा भी ली। फिर तो यह हालत हो गई कि नगर का अन्तःपुर संध्या के समय निःक्षेप भाव से उमड़कर भक्ति-आयोजन में शामिल हो जाता था। भागवतों में अधिकांश स्त्रियाँ होती थीं। कांस्य और करताल के साथ मादक वाद्य उन्माद का वातावरण पैदा करता था। इसी वातावरण में नारायण की स्तुति का गान होता था और नारायण की स्तुति सहस्रों नर-नारियों के कंठों से वर्षा

---

[1] बाणभट्ट की आत्मकथा पृ २२९–२१०

की सरिता की भाँति उमड़ती थी। संगीत और वाद्य का मधुर मिश्रण भक्ति के वातावरण को मोहक बना देता था। गुरु की आज्ञा से सब लोग चुप हो जाते थे। फिर कीर्तन के प्रारम्भ की सूचना देने के लिए कोई स्त्री शंख बजाती थी। यह भजन-साधन सब प्रकार से विचित्र था। कीर्तन में 'नाम'—जाप प्रमुख था। संगीत की मधुर शीतल मन्दाकिनी में समस्त जनमंडली डूब जाती थी।

भक्त लोग प्रायः कुशास्तरण पर बैठते थे। गोपाल वासुदेव की मनोहारी मूर्ति सामने होती थी और पार्श्व में धूप-वर्तिका जलती थी। वासुदेव की त्रिभंगी मूर्ति की भी साधना की जाती थी। उसके गले में माला होती थी।

भक्त लोग शरीर को बैकुण्ठ मानते थे क्योंकि 'इसी को आश्रय करके नारायण अपनी आनन्द-लीला प्रकट कर रहे हैं। आनन्द से ही यह भुवन-मंडल उद्भासित है। आनन्द से ही विधाता ने सृष्टि उत्पन्न की है। आनन्द ही उसका उद्गम है, आनन्द ही उसका लक्ष्य है। आनन्द-लीला ही इस सृष्टि का प्रयोजन है।[१] 'नारायण मनुष्य के बाहर नहीं हैं। तुम प्रसन्न हो तो निश्चय ही नारायण प्रसन्न हैं। तुम नारायण के ही तो रूप हो।[२]

सूर्य और शिव की उपासना भी होती थी, किन्तु वैष्णव भक्ति का वातावरण ही आत्मकथा में प्रमुखता से आया है। वासुदेव के साथ वराह का भी बहुत अधिक महत्व था। धर्म के इतिहास में भी वराह की भक्ति को हर्षकाल में प्रमुख बतलाया गया है। सम्भवतः हर्षकालीन जनता पर गुप्तकालीन संस्कार चले आ रहे थे।

ब्राह्मण जाति के प्रति इतर धर्म वालों की सद्भावनाएँ नहीं थीं। उनके प्रति बौद्धों की प्रबल घृणा थी। वे लोग ब्राह्मण जाति को डरपोक, झूठी और पाखंडी कहते थे। वे उसे टेढ़ी जाति बतलाते थे। फिर भी ब्राह्मण का समाज में ऊँचा स्थान था। ब्राह्मण को भू-देव समझा जाता था। उसका आशीर्वाद कल्याणमय समझा जाता था। उसके बताये हुए अनुष्ठान मांगल्यव्रत या जप-होम में बड़ी शक्ति मानी जाती थी।[३] हर्षकाल में कान्यकुब्ज ब्राह्मण पंडितों की गढ़ी था। सामन्तों के मर्मों में 'ऐसे तर्क-कुक्कुटों को नमस्कार कर ही वहाँ का राजा जीवित बना रह सकता था।' बौद्धों को भय था कि 'इस नीति का फल विपरीत न हो। यदि किसी दिन सद्धर्म को नीचा देखना पड़ा तो कान्यकुब्ज से ही उस अशुभ दिन का प्रारम्भ होगा।'[४]

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० २४०
२. वही, पृ० २४१
३ वही पृ० ८१
४ वही पृ० ७१

कान्यकुब्ज में बाहरी आचार को बहुत महत्त्व दिया जाता था और भीतरके महत्त्व को समझने का प्रयत्न नहीं किया जाता था। क्या ब्राह्मण और क्या श्रमण सभी बाह्य कार्यों को ही अनुमान देते थे। स्वयं महाराज हर्ष भी इस बात से असम्पृक्त नहीं कहे जा सकते थे। उनका सबसे अधिक सम्मान यद्यपि सात्त्विक अनुभूति के प्रति था पर आचार्य प्रभाकर की तुलना में यह कितना दिखता था इसे केवल बुद्धिमान समझ सकते थे।

बौद्ध-विहारों की निर्माण-शैली बड़ी रहस्यमय होती जा रही थी। वे लोग सभी बातों को रहस्यमय बनाते जा रहे थे। विहारों में अब तीसरे तल्ले पर जाने के लिए सीढ़ी होती थी और दूसरे तल्ले पर जाने का रास्ता भीतर की ओर होता था। बिना तल्ले पर गये कोई नीचे के तल्ले में नहीं जा सकता था। भिक्षुक लोग भिक्षाहार करते थे।

उस समय ज्योतिषियों का भी काफी सम्मान होता था। बौद्ध और ब्राह्मण, दोनों ही ज्योतिषी हो सकते थे। उनकी बात पर काफी विश्वास किया जाता था।

सामाजिक वातावरण

उस समय नारियों की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। शक्ति के नाम पर वे विकृत बौद्धों की काम-तृष्णा का शमन-साधन बनी हुई थीं। लुटेरे धन के साथ स्त्रियों को भी लूट ले जाते थे। राजान्तःपुरों में उनको बन्दी बना कर रखा जाता था और वहाँ उन्हें अपनी पवित्रता की बलि देनी पड़ती थी। जीविकोपार्जन के लिये पानादि का व्यवसाय करने वाली स्त्रियों के चरित्र को अच्छा नहीं समझा जाता था। उस समय स्त्रियाँ पान बेचती थीं या नहीं यह कहना तो ऐतिहासिक प्रमाण के बिना कठिन है; किन्तु लेखक पर वर्तमान समाज की भावना का संस्कार स्पष्ट है। अपने पौरुष-दर्प में पुरुष नारी का अपमान करता चला आ रहा था। उस समय स्त्रियों के क्रय-विक्रय का भी व्यवसाय होता था।

बाणभट्ट की आत्मकथा के सामाजिक वातावरण में स्त्रियों के अनेक स्तर थे। एक तो उच्च-स्तरीय नारियाँ थीं जैसे राज्यश्री। वे पढ़ी-लिखी होती थीं और सार्वजनिक कार्यों में भी भाग लेती थीं। दूसरी कोटि की स्त्रियाँ कुल-वधुएं होती थीं जो घरों की चहारदीवारी में रहती थीं। तीसरी कोटि की स्त्रियाँ साधिकाएं होती थीं जैसे महामाया। चौथी कोटि की स्त्रियों में निपुणिका-जैसी स्त्रियाँ सम्मिलित थीं। पाँचवीं कोटि की स्त्रियों में गणिका वेश्या आदि होती थीं। इनके अतिरिक्त राजान्तःपुरों में अवरुद्धाएं भी होती थीं जैसे भट्टिनी। गणिकाओं का गृह बहुत सजा हुआ होता था किन्तु वह अनुओं विटों लम्पटों और लौंडों की रंगभूमि होता था।

जिस प्रकार स्त्रियों के अनेक स्तर होते थे उसी प्रकार पूर्ण मानव समाज में मानव के अनेक स्तर होते थे। धनी-निर्धनी ब्राह्मण-अब्राह्मण बौद्ध-अबौद्ध शिष्ट-अशिष्ट आदि भेदों से समाज-सागर में अनेक लहरें दिखलायी पड़ती थीं।

जन से कितने ही भेद कृत्रिम और भेदक थे जो समाज को निर्बल बना रहे थे। ये आज भी चले आ रहे हैं, यद्यपि इस वैज्ञानिक युग में इनको मिटाने के अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं। वरन् आज तो एक रंग-भेद और बढ़ गया है।

समाज के उन्मेषन एवं उद्भेदन में धर्म के अनेक भेदों और विकृतियों को नहीं भुलाया जा सकता। वर्गों और वर्णों के भेदों में धर्म प्रमुख कारण था। एक धर्म का सदाचरण दूसरे का दुराचरण था। कौलाचार और वाममार्ग में मधु-पान धर्म था और वैष्णव-धर्म में यह दुराचरण होने के नाते वर्जित था। बौद्धों और वैष्णवों में बड़ी भारी प्रतिस्पर्धा चल रही थी। एक की पीठ पर राज्यशक्ति थी और दूसरे की हथेली में प्रजा का विद्रोह। विरतिवज्र का बौद्ध से वैष्णव होना ही मानों संसार की सबसे बड़ी घटना थी। धर्म-मत का डिंडिम पीटना ही मानों उस समय के धार्मिकों का कर्तव्य था। मनुष्य चाहे भूखे मर न जाये जय-पराजय की प्रतिद्वन्द्विता में मनुष्य का चाहे सत्यानाश ही क्यों न हो जाये परन्तु धर्म प्रतिद्वन्द्वी स्वार्थों के संघात की भूमिका से टलने वाला नहीं था।

समाज के भेदीकरण का दूसरा कारण राजनीति थी। उस समय कोई ऐसा शक्तिशाली राज्य नहीं था जो समस्त देश को एक सूत्र में रखकर समाज के फूलने-फलने के लिए प्रयत्न करता। कान्यकुब्ज का राजा ही उस समय सबसे बड़ा राजा था किन्तु उसके चारों ओर अनेक छोटे-मोटे राजा और सामंत लोग या तो स्वतन्त्र थे या स्वतन्त्र होने की चेष्टा कर रहे थे। अतएव समाज की समग्रता राजनीति की संकीर्ण सीमाओं में जकड़ गयी थी। राजनीतिक दाव-पेचों के कारण समाज भय और आतंक से दब रहा था। समाज का आवागमन और शादी-सम्बन्ध तक सीमित एवं नियंत्रित हो रहे थे।

निरीह बहू-बेटियों के अपहरण होते थे और उनके विक्रय का व्यवसाय चलता था। इस घृणित व्यवसाय के प्रधान आश्रय सामन्तों और राजाओं के अन्तःपुर थे। और तो और, महाराजाधिराज की चामरधारिणियाँ और करंकवाहिनियाँ तक खरीदी हुई और भगायी हुई कन्याएँ होती थीं।[1] प्रजा में इसके कारण भारी क्षोभ था। महामाया के व्याख्यान का अधोलिखित अंश इसको प्रकट कर सकता है— "धिक्कार है, आर्य सभासदो जो उत्तरापथ के विद्वान् और धीमान् नागरिक इन राजाओं का मुँह जोह रहे हैं। मैं पूछती हूँ, यदि महाराजाधिराज ने आपकी प्रार्थना का प्रत्याख्यान कर दिया तो आप क्या करेंगे?"[2] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा, महाराजा और सामन्त स्वार्थ के गुलाम बनते जा रहे थे। प्रजा भीरु और कायर होती जा रही थी। विद्वान् और धीमान् नागरिकों की बुद्धि इन परिस्थितियों में कुंठित होती जा रही थी। धर्माचरण

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० २२२

२ वही पृ० २२७

व्याहत हो रहा था, इसलिए कि राजा को स्वार्थ ने प्रजा को भय ने और विद्वानों को राजप्रिय बनने की लिप्सा ने अन्धा कर दिया था। यह एक बहुत बड़ा अशुभ लक्षण था।[1]

राजा लोग प्रजापालन और प्रजानुरंजन छोड़कर राजनीति के दलदल और विलास में फंसे जा रहे थे और यह स्पष्ट था कि भारतीय गौरव पतन का मुंह जोह रहा था। आचार कर्तव्य और शील को छोड़कर, दंभ और पाखण्ड में और भ्रम तर्कविडम्बना में प्रविष्ट हो गया था। ब्राह्मणाचार समाज का धार्मिक परिचय बन गया था और मनुष्यता ब्राह्मण और श्रमण दोनों से विरत हो गयी थी।[2]

कुछ उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाये जाते थे। त्यौहारों के सिवा वसन्तोत्सव को बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था। राजपुत्र-जन्मोत्सव पर एक राजकीय सवारी निकलती थी जिसमें छोटे-बड़े सब लोग भाग लेते थे। उत्सवों के अवसर पर शासन और धर्म के विधानों की छुट्टी रहती थी।

सांस्कृतिक वातावरण

इस वातावरण के निर्माण में कला, शिक्षा शिष्टाचार, उत्सव मनाने की विधि आदि का प्रमुख हाथ था। कला सौन्दर्य की अभिव्यंजना मात्र नहीं थी अपितु मनोविनोद का साधन और हृदय के अपूर्व भावों का अवलम्बन भी थी। नाट्य काव्य संगीत चित्र नृत्य और मूर्ति आदि सभी कलाओं की प्रतिष्ठा थी। अच्छे-अच्छे नाटक लिखे जाते थे और उनका अभिनय भी किया जाता था। अभिनय के लिए नाट्यशालाएं होती थीं और नाट्य-मण्डलियों द्वारा अभिनय की व्यवस्था की जाती थी। अनेक खम्भों पर टिके हुए विराट् पटवास से प्रेक्षाशाला बनती थी। उसका धरातल अत्यन्त मनोहर होता था। सभापति का आसन प्रफुल्ल शतदलों से सजाया जाता था। सभापति की दाहिनी ओर संस्कृत के तथा बाईं ओर प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों के लिए आसन निर्दिष्ट होते थे। सभापति के पीछे करणाधिपों (अफसरों) के लिए स्थान होता था। दाहिनी ओर के एक पार्श्व में पर्दे के पीछे सम्भ्रान्त महिलाओं के लिए स्थान होता था। सभापति के सामने और बाम ओर के पार्श्व में समस्त नागरिकों के लिए स्थान होता था। रंग-भूमि ठीक बीच में होती थी। महाराजा हर्ष कला-प्रेमी ही नहीं वरन् स्वयं कलाकार भी थे। उनकी 'रत्नावली' ने काफी ख्याति प्राप्त कर ली थी। उस समय साहित्य-भाषा प्रायः संस्कृत और प्राकृत ही थी किन्तु अपभ्रंश का भी प्रचलन था। राज-दरबार में संगीत नृत्य और काव्य कला का बहुत सम्मान था। चाटुकार-दरबारी राजा के लोक-रंजन करने के लिए राजा के विविध चित्र बनाते थे। जनता के लोग भी इन कलाओं का समादर करते थे। चित्रांकन प्रायः भित्ति-पटों या काष्ठ-पटों पर किया जाता था। भित्ति-पटों को या तो

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ २५८
२ वही पृ० ८१

धूल से पाटकर और महिषचर्म को घोट कर उससे उसे चीपन की प्रथा थी या वज्र-लेप से वह तैयार किया जाता था क्योंकि वह हवा में जल्दी सूख जाता था। तुली-कूर्चक बछड़ों के कानों के रोमों से बनते थे और रंग, मोम तथा भात में कायम रगड़कर बनाया जाता था। कान्यकुब्ज के लोग बड़े कलाप्रिय और चित्र-प्रवीण थे। वे मयूर और पद्म नृत्यों जैसी कला को बड़े भी सिखाये हुए थे। मगध में मयूर-नृत्य देखने के लिए जनता में इतनी आतुरता नहीं होती थी जितनी कान्यकुब्ज में। कान्यकुब्ज के लोग लास्य की अपेक्षा ताण्डव में अधिक रुचि रखते थे और मनोभावों की अपेक्षा उसके करण-कौशल को अधिक महत्त्व देते थे।

मूर्तियाँ प्रायः संगमर्मर या बलमूसा की बनायी जाती थीं। उस समय बौद्ध मूर्तियों में शिल्प के प्रमुखतः दो भेद होते थे—एक तो गन्धार-शिल्प और दूसरा कुषाण शिल्प। एक तीसरा भारतीय शिल्प भी था। गन्धार-शिल्प में भारतीय और यावनी शिल्प का मिश्रण था, जिससे सुन्दर मूर्तियाँ तैयार होती थीं। वे न तो मूर्ति के अर्थ-पुरुष की गहराई में जाती थीं न प्रमेय-पाटव में। उनमें एक तरफ यावनी प्रतिमाओं की भाँति अंग प्रमाण की ओर बेतरह ध्यान दिया जाता था और दूसरी तरफ हाथ और पैर की मुद्राओं में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ को प्रधानता दे दी जाती थी।

कुषाण-शिल्प में भारतीय शिल्प का अनुकरण होता था। उसके अनुसार बुद्ध के चरणतल उसी प्रकार बनते थे जैसे वे वास्तव में होते हैं। भारतीय शिल्पियों के अनुकरण पर कुषाण-शिल्पियों ने ऊर्ध्वमुख चरणतल वाले पद्मासन ही बनाये थे। प्रमाण-पाटव वाली यावनी मूर्तियों में ऐसा पद्मासन अर्णातन्तु से सिले हुए चीनांशुक के समान बेढब लगता था।[1]

कुषाण-शिल्प में बुद्ध का मस्तक मुंडित बनाया गया था जब कि गन्धार-शिल्प में सिर पर दक्षिणावर्त कुंचित केश गुच्छ बँधते नहीं दीख पड़ते थे। कुषाण-शिल्प की मूर्ति बैठे हुए बुद्ध भगवान् की प्रतिमा होती थी। उनके मन्द-स्मित वदन के ऊपर भ्रूलताएँ पाठ-यन्त्र की ऊर्ध्व-विक्षिप्त पयोरेखाओं की वक्रिमता लिए हुए नहीं होती थीं, बल्कि इस प्रकार खड़ी हुई होती थीं कि वे भाराधर के मन का भ्रम देती थीं। हाथ की अंगुलियाँ स्वाभाविक होती थीं।

गुप्तों की मूर्ति-कला के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। समाधि और निद्रा में एक भेद होता है। अधिकांश कुषाण-मूर्तियाँ उस भेद को स्मरण भी नहीं होने देती थीं। फिर भी कुछ मूर्तियों में वास्तविकता प्रकट होती थी। वराह, वासुदेव एवं शिवादि की मूर्तियों का भी बहुत प्रचलन था।

संगीत और नृत्य कला में सामान्य जनता दक्ष होती थी। उत्सवों त्योहारों

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० ११०

आदि के अवसर पर इसका प्रदर्शन किया जाता था। नाट्यशालाओं में इसका प्रदर्शन किसी भी समय किया जा सकता था। नृत्य और संगीत में प्रमुख भाग स्त्रियों का होता था। स्त्रियाँ तो नाटकों में भी अभिनय करती थीं किन्तु अभिनेत्रियों का विशेष सम्मान नहीं होता था।

उस समय काव्य-कला का भी एक प्रमुख स्थान था। उसमें 'कला कला के लिए' का स्वर प्रखर नहीं था। वह जीवन के लिए मानी जाती थी। 'नरलोक से लेकर किन्नर-लोक तक व्याप्त एक ही रागात्मक हृदय की अनुभूति कराने का सहज किन्तु अमोघ साधन कविता ही समझी जाती थी। मनुष्य की दुर्मद वासनाओं अनियन्त्रित कामनाओं और अविचारित धारणाओं की भीषणता कम करने के लिए भी कविता सत्य-प्रचार का प्रबल साधन मानी जाती थी।[1] सामाजिकों की धारणा थी कि काव्य से मनुष्य की दयाहीन, विवेकहीन और मर्महीन वृत्तियाँ उच्चतर कार्य में नियोजित हो सकती थीं।

बाणभट्ट की आत्मकथा के वातावरण में शिक्षा का भी एक प्रमुख स्थान है। तत्कालीन राजदरबारों में ही नहीं, समाज में भी विद्वानों का आदर होता था। धर्म गुरुओं के सामने राजा भी विनयपूर्वक उपस्थित होता था। बैठने के लिए कुशासन होते थे। आचार्यों की अध्यापन-शैली प्रेमपूर्ण एवं स्पष्टतामयी होती थी। प्रश्नोत्तर की शैली से अध्यापन होता था जिससे शंका-समाधान सरलता से हो जाता था। आश्रमों और विहारों में विनय और संयम की शिक्षा दी जाती थी। कुतर्क, को कुधर्म और असद्विचारों की दावाग्नि समझा जाता था किन्तु शिक्षाश्रमों के शिवा अन्यत्र कुतर्क का बोलबाला था।

शिष्टाचार शिक्षा का एक प्रमुख अङ्ग समझा जाता था किन्तु राजदरबारों और धर्म-सभाओं में भी शिष्टाचार को प्रामुख्य दिया जाता था। जिस प्रकार शिष्य लोग श्रद्धा-विनत होते थे वैसे ही धर्म-सभाओं में श्रोता लोग शिष्टता एवं मर्यादाओं का पूर्ण पालन करते थे। राजदरबार में भी शिष्ट मर्यादाओं का अनुपालन होता था। इस प्रकार शिष्ट व्यवहार नीति का एक अङ्ग बन गया था। विद्वान् को, राजसभा में आने पर, राजा की ओर से आसन दिया जाता था और ताम्बूलादि से उसका सत्कार किया जाता था। अमात्यादि जब आश्रमों या विहारों में जाते थे तो वहाँ उनको कुशासन देकर सत्कार किया जाता था और वे लोग आचार्य का यथोचित सम्मान करते थे।

आत्मकथा के वातावरण में युवकों की उच्छृंखलता भी दिखाई गई है। सुच रिता को खोजते हुए बाणभट्ट के शब्दों में इस वातावरण का संकेत मिल जाता है—"सुचरिता के पास जाने में बाधा क्या है? किसी के अप्रसन्न होने की चिन्ता नहीं है परन्तु सुचरिता कहाँ रहती है? उसे यहाँ कौन पहिचानता है? किसी से उसके बारे में

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० १४२

पूछना क्या उचित है ? इतना तो निश्चित है कि वह नहीं कहीं रहती है। किसी वृद्ध भद्र पुरुष से पूछना ही उचित है। कान्यकुब्ज के युवकों को मैं जानता हूँ। वे प्रश्न को उपहास का साधन समझते हैं, पूछने वाले को मूर्ख बनाने में रस पाते हैं।

इस वातावरण के एक कोने में भक्ति का रंग भी जमा हुआ दीख पड़ता है। यह तीन मास की धार्मिक क्रान्ति का परिणाम है। बाण को उत्तर देते हुए वृद्ध के शब्दों में इस के चित्र की एक झाँकी इस प्रकार पा सकते हैं— 'तीन महीनों में स्थाण्वीश्वर में बहुत परिवर्तन हुआ है। सामने जो विशाल आयोजन देख रहे हो तीन महीने के भीतर ही यह इतना व्यापक हो गया है। आज नगर में ऐसी स्त्री नहीं है, जो इस विचित्र धर्माचार की भक्ति-धारा में न बह गई हो। पुरुषों का एक दल भी इस आयोजन में शामिल है। कान्यकुब्ज विचित्र देश है, आयुष्मन्, काशी के लोग धर्म के नाम पर इस तरह उतरा कर नहीं बहते।'[2] इन शब्दों से कान्यकुब्ज के लोगों के 'संस्कार' का भी कुछ पता चल जाता है, जिससे उनकी प्रकृति हमारे सामने अपना सामान्य रूप लेकर खड़ी हो जाती है।

आत्मकथा के वातावरण में प्रकृति का भी अपना योग है। कथाप्रवाह में आत्मकथा के प्राकृतिक वातावरण से भले ही असहयोग दिखलाया हो किन्तु परिस्थितियों के चित्रण में उससे बड़ा सहयोग मिला है। इसमें विशेषता यही है कि संस्कृत का अनुकरण है।

आत्मकथा की कुछ समस्याएँ—

इस रचना में लेखक ने कुछ समस्याओं को प्रस्तुत करके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उनके हल की ओर भी संकेत किया है। ये समस्याएँ लेखक के अपने युग की समस्याएँ हैं। इनका सम्बन्ध समाज के किसी एक पहलू से नहीं है वरन् ये अनेक पक्षों का स्पर्श करती हैं। इनमें से प्रमुख समस्या नारी-समस्या है। आज नारी के माता पिता ही नहीं, वह स्वयं भी अपने को एक अभिशाप मानती है : "क्या स्त्री होना ही मेरे सारे अनर्थों की जड़ नहीं है ?"[3] "निपुणिका सामान्य अपमानित नारी है।"[4] 'नारी का जन्म पाकर केवल लाञ्छना पाना ही सार नहीं है।'[5] "नारी का जन्म किस के लिए ही हुआ है।"[6] 'नारी आनन्द-भोग के लिए है। वह पुरुष की वासना की तृप्ति है।" इन अनेक वाक्यों में नारी की अनेक समस्याएँ उलझी हुई हैं।

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० २२७
२ वही पृ० २२७-२८
३ वही, पृ० १०९
४ वही, पृ० १०९
५ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० १०९
६ वही पृ० ११२

आत्मकथा का लेखक अपने कौशल से इन समस्याओं के हल को सामने लाने का प्रयत्न करता है। उसकी प्रथम मान्यता यह है कि नारी को अबला मानना ही भूल है। वह शक्ति की प्रतिमा और प्रेरणा का स्रोत है। पुरुष की सीमाहीन महत्त्वाकांक्षा के अनेक परिणाम हैं यथा, राज्य-गठन सैन्य-संचालन, मठ-स्थापन और निर्जनवास। इनको नियंत्रित करने की एकमात्र शक्ति नारी है। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि इस शक्ति की उपेक्षा से साम्राज्य ध्वस्त हो गये मठ पतित हो गये और ज्ञान-वैराग्य विलुप्त हो गये।[1] केवल पौरुष-दर्प की प्रचुरता ने संसार की सबसे बहुमूल्य वस्तु को अपमानित कर रखा है। पुरुष द्वारा नारी के अपमान का क्या यह सिलसिला इसी तरह बढ़ता ही चला जायेगा।

नारी को जिस रूप में विघ्नरूपा समझा जाता है वह उस रूप में विघ्नरूपा नहीं है। हाँ दूसरे रूप में वह विघ्नरूपा अवश्य है। 'इतिहास कहता है कि पुरुषों के समस्त वैराग्यों के आयोजन तपस्या के विधान मठ, मुक्ति-साधना के अतुलनीय आश्रम नारी की एक बंकिम दृष्टि में ही तो बह चुके हैं। क्या यह दृष्टि सत्यानाशिनी नहीं है। नारी विहीन होकर पुरुष तपस्या करता है, किन्तु यह उसकी बड़ी भूल है। सच तो यह है कि धर्म, शासन सामाजिक कार्य—सभी में नारी का सहयोग आवश्यक है। अब तक यह समझा जाता था कि इन कार्यों में नारी की कोई आवश्यकता नहीं है किन्तु लेखक प्राचीन को सामने लाकर वर्तमान को सजग कर रहा है। उसका मत है कि नारी का सहयोग न पाकर यह *सारा ठाट-बाट संसार में केवल अशान्ति पैदा करेगा।*"

नारी-तत्त्व उत्सर्ग में निहित है। जहाँ कहीं अपने आपको उत्सर्ग करने की अपने आप को खपा देने की भावना प्रधान है वहीं नारी है। जहाँ कहीं दुःख-सुख की लाख-लाख धाराओं में अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है, वहीं 'नारी-तत्त्व' है। नारी निषेधरूपा है। वह आनन्द-भोग के लिए नहीं आती, आनन्द लुटाने के लिए आती है।

आज के अनेक आयोजनों में दूसरों के लिए अपने आप को गला देने की भावना दृष्टिगोचर नहीं होती, इसीलिए वे मध्यम पर बह जाते हैं, एक स्थिति पर टिक जाते हैं। वे सब अस्थिर हैं। जब तक उनमें अपने आपको दूसरों के लिए मिटा देने की भावना नहीं आती तब तक वे ऐसे ही रहेंगे। उन्हें जब तक पूजाहीन दिवस और सेवाहीन रात्रियाँ अनुकम्पित नहीं करतीं और जब तक निष्फल अर्घ्यदान उन्हें कुरेद नहीं देता तब तक उनमें निषेधरूप नारी-तत्त्व का अभाव रहेगा और तब तक वे केवल दूसरों को दुःख दे सकती हैं।

नारी के प्रति सबसे अधिक अत्याचार हुआ है। यदि समाज में कोई सबसे अधिक अपमानित रहा है तो वह नारी है। उसने समाज की कुत्सित रुचि पर छिन्न-छिन्न करके

१ वही पृ० १४५

अपने को खोता है। नारी के विराट् दैन्य के अन्तःस्पन्दनहीन ठूंठ पर यह साम्राज्य की नयनहारी रंगशाला बसी जा रही है, किन्तु यह न भुला देना चाहिये कि वह इस ठूंठ की नगण्य दग्धिका मात्र होकर भी भभक कर किसी भी क्षण इस समूचे उपवन को भस्म कर सकती है। पुरुष स्त्री को शक्ति समझ कर ही पूर्ण हो सकता है यद्यपि स्त्री अपने को शक्ति समझकर अधूरी रह जाती है। स्त्री को ठीक समझ कर उसका उचित सहयोग पाकर ही पुरुष मुक्त हो सकता है।

स्त्री में आसक्ति रखना भी अनुचित है और उससे घृणा करना भी अनुचित है। न तो वैरागियों जैसी घृणा ही पुरुष को मुक्ति दे सकती है और न नारी के चित्र-रूप में वासना रखने वाले ही कृतकार्य होते हैं। उसके शरीर का देव-मन्दिर समझकर साक्षात् पुरुष को उसमें प्रेम के देवता की भावना करनी चाहिये। पुरुष अपने दर्प-मद में शक्ति-रूपा नारी को भूल जाता है उसके समुचित सम्मान की अवहेलना करके अपने को संकट में डाल लेता है।

इस प्रकार लेखक ने संकेत रूप से यह हल प्रस्तुत किया है—

(१) नारी का सम्मान करना चाहिये।

(२) उसकी शक्ति का समुचित उपयोग करना चाहिये।

(३) उसका सौन्दर्य आदर की वस्तु है और उसका हृदय पूज्य है।

एक दूसरी समस्या है, क्या प्रेम अपने शुद्धतम रूप में व्यवहार्य है। मनोवैज्ञानिकों ने प्रेम के मूल में यौन-सम्बन्ध की कल्पना की है, किन्तु आत्मकथाकार की व्याख्या दूसरी है। वह नर-नारी के प्रेम में यौन-संबंध को सर्वथा अनिवार्य नहीं मानता। वह तो उनके बीच में एक विशुद्ध प्रेम की कल्पना भी करता है जिसमें किसी प्रकार का स्वार्थ या कलुष नहीं है। बाणभट्ट और भट्टिनी के मध्य इसी प्रकार का प्रेम है। इसमें वासना का कहीं नाम तक नहीं है। इसमें न तो वासना की दुर्गन्ध है और न रूप का सम्मोहन है। बाणभट्ट भट्टिनी के रूप का उपासक है, किन्तु आदर के लिए, यौन भावना से प्रेरित होकर नहीं।

आत्मकथा के इस प्रेम में आज के प्रेम-साहित्य को एक बहुत बड़ी चुनौती दी है। आज का साहित्यिक वातावरण सामाजिक कुरुचियों का अखाड़ा बनता जा रहा है जिससे समाज की रुचि उठने के स्थान पर गिरती चली जा रही है। आत्मकथा के लेखक ने इस भयंकर परम्परा को रोकने का अपूर्व एवं ऐतिहासिक प्रयत्न किया है। बहुत से आलोचक आत्मकथा के प्रेम को अव्यवहार्य एवं अमनोवैज्ञानिक कह सकते हैं, किन्तु उनका यह निष्कर्ष लोक की वर्तमान रुचि के ऊपर ही आधारित होगा। आदर्श प्रेम का यह रूप अनश्वर एवं अव्यवहार्य नहीं है। इस प्रेम की पीठिका में 'नर-लोक से किन्नर-लोक तक एक ही रागात्मक हृदय का प्रसार है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आदर्श प्रेम के प्रश्न का यह कृति एक सफल उत्तर है।

आत्मकथा का लेखक अपने कौशल से इन समस्याओं के हल को सामने लाने का प्रयत्न करता है। उसकी प्रथम मान्यता यह है कि नारी को अबला मानना ही भूल है। वह शक्ति की प्रतिमा और प्रेरणा का स्रोत है। पुरुष की मृ आशाहीन महत्वाकांक्षा के अनेक परिणाम हैं यथा राज्य-गठन सैन्य-संचालन मठ-स्थापन और निर्जनवास। इनको नियमित करने की एकमात्र शक्ति नारी है। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि इस शक्ति की उपेक्षा से साम्राज्य ध्वस्त हो गये, मठ पतित हो गये और ज्ञान-वैराग्य विमुख हो गये।[1] केवल पौरुष-दर्प की प्रचुरता ने संसार की सबसे बहुमूल्य वस्तु को अपमानित कर रखा है। पुरुष द्वारा नारी के अपमान का क्या यह घिनौना दृश्य बढ़ता ही चला जायेगा।

नारी को जिस रूप में विघ्नरूपा समझा जाता है वह उस रूप में विघ्नरूपा नहीं है। हाँ दूसरे रूप में वह विघ्नरूपा अवश्य है। 'इतिहास कहता है कि पुरुषों के समस्त वैराग्यों के मस्तोत्सव, तपस्या के विशाल मठ, मुक्ति-साधना के अतुलनीय आश्रय नारी की एक बंकिम दृष्टि में ही ढह चुके हैं। क्या यह दृष्टि सत्यानाशिनी नहीं है। नारी विहीन होकर पुरुष तपस्या करता है किन्तु यह उसकी भारी भूल है। सच तो यह है कि धर्म, शासन, सामाजिक कार्य—सभी में नारी का सहयोग आवश्यक है। अब तक यह समझा जाता था कि इन कार्यों में नारी की कोई आवश्यकता नहीं है किन्तु लेखक प्राचीन को सामने लाकर वर्तमान को सजग कर रहा है। उसका मत है कि नारी का सहयोग न पाकर यह सारा ठाट-बाट संसार में केवल अशान्ति पैदा करेगा।'

नारी-तत्त्व वात्सल्य में निहित है। जहाँ कहीं अपने आपको उत्सर्ग करने की अपने आप को खपा देने की भावना प्रधान है वहीं नारी है। जहाँ कहीं दुःख-सुख की लाख-लाख धाराओं में अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है, वहीं 'नारी-तत्त्व' है। नारी निषेधरूपा है। वह आनन्द-भोग के लिए नहीं आती, आनन्द लुटाने के लिए आती है।

आज के अनेक आन्दोलनों में दूसरों के लिए अपने आप को गला देने की भावना दृष्टिगोचर नहीं होती इसीलिए वे प्रयास पर ढह जाते हैं एक स्थित पर टिक जाते हैं। वे सब अनित्य हैं। जब तक उनमें अपने आपको दूसरों के लिए मिटा देने की भावना नहीं आती तब तक वे ऐसे ही रहेंगे। उन्हें जब तक पूजाहीन दिवस और सेवाहीन रात्रियाँ अनुतप्त नहीं करतीं और जब तक निष्फल अर्घ्यदान उन्हें कुरेद नहीं देता तब तक उनमें निषेधरूपा नारी-तत्त्व का अभाव रहेगा, और तब तक वे केवल दूसरों को दुःख दे सकते हैं।

नारी के प्रति सबसे अधिक अत्याचार हुआ है। यदि समाज में कोई सबसे अधिक अपमानित रहा है तो वह नारी है। उसने समाज की कुत्सित रुचि पर तिल-तिल करके

---

१ वही, पृ० १४२

अपने को खोता है। नारी के विराट् वैभव के अन्तःस्पन्दनहीन हृद पर यह साम्राज्य की नयनहारी रचयात्रा चली आ रही है, किन्तु यह न भुला देना चाहिये कि वह इस हृद की अगम्य गणिका मात्र होकर भी भभक कर किसी भी समय इस समूचे जंगल को भस्म कर सकती है। पुरुष स्त्री को शक्ति समझ कर ही पूर्ण हो सकता है यद्यपि स्त्री अपने को क्षति समझकर अधूरी रह जाती है। स्त्री को ठीक समझ कर उसका उचित सहयोग पाकर ही पुरुष मुक्त हो सकता है।

स्त्री में आसक्ति रखना भी अनुचित है और उससे घृणा करना भी अनुचित है। न तो वैरागियों की-सी घृणा ही पुरुष को मुक्ति दे सकती है और न नारी के पिण्ड-रूप में वासना रखने वाले ही कृतकार्य होते हैं। उसके शरीर को देव-मन्दिर समझकर आपातः पुरुष को उसमें प्रेम के देवता की भावना करनी चाहिये। पुरुष अपने दर्प-मद में शक्ति-रूपा नारी को भूल जाता है उसके समुचित सम्मान की अवहेलना करके अपने को संकट में डाल लेता है।

इस प्रकार लेखक ने संक्षेप रूप में यह हल प्रस्तुत किया है—

(१) नारी का सम्मान करना चाहिये।

(२) उसकी शक्ति का समुचित उपयोग करना चाहिये।

(३) उसका सौन्दर्य आदर की वस्तु है और उसका हृदय पूज्य है।

एक दूसरी समस्या है, क्या प्रेम अपने शुद्धतम रूप में व्यवहार्य है। [illegible] लियो ने प्रेम के मूल में यौन-सम्बन्ध की कल्पना की है, किन्तु आत्मकथाकार की [illegible] दूसरी है। वह नर-नारी के प्रेम में यौन-संबंध को सर्वथा अनिवार्य नहीं [illegible]। [illegible] उनके बीच में एक विशुद्ध प्रेम की कल्पना भी करता है जिसमें किसी प्रकार [illegible] या कलुष नहीं है। बाणभट्ट और भट्टिनी के मध्य इसी प्रकार का प्रेम है। [illegible] का कहीं नाम तक नहीं है। इसमें न तो वासना की दुर्गन्ध है [illegible] है। बाणभट्ट भट्टिनी के रूप का प्रशंसक है किन्तु [illegible] होकर नहीं।

आत्मकथा के इस प्रेम में आज के प्रेम-[illegible] है। आज का साहित्यिक वातावरण सामाजिक [illegible] है जिससे समाज की रुचि [illegible] है। आत्मकथा के लेखक ने इस भयंकर परंपरा को रोकने का [illegible] है। [illegible] आलोचक आत्मकथा के प्रेम को अव्यवहार्य [illegible] है, किन्तु [illegible] यह निष्कर्ष लोक की वर्तमान रुचि [illegible] रूप असंभव एवं अव्यवहार्य नहीं है। [illegible] तक एक ही रागात्मक हृदय का [illegible] है। [illegible] के प्रश्न का यह कृति एक उत्तर है।

कुछ दिन पहले एक भारतीय समाज कुछ रूढ़ियों को पोषित कर रहा था किन्तु आधुनिक परिस्थितियों में उन को केवल बन्धन समझा गया उन की आवश्यकता नहीं समझी गयी। प्रेम के संबंध में वर्ण और धर्म का संबंध भी बिल्कुल बेतुकी बात है जिसमें मानवीय मौलिक गुणों की नितान्त उपेक्षा की गयी है। प्रेम किसी परिमिति को स्वीकार नहीं करता और परिमित प्रेम निष्कलुष एवं विशुद्ध नहीं हो सकता। सारा विश्व प्रेम की रंगस्थली है। इसी रंगस्थली का दूसरा भारतीय नाम 'वसुधैव कुटुम्बकम्' है। बाणभट्ट और भट्टिनी या निपुणिका के प्रेम में यही आदर्श है। यह प्रेम किसी स्वार्थ की टेक पर टिका हुआ नहीं है। इसका आधार सहानुभूति, करुणा एवं कृतज्ञता है। अतएव आत्मकथा ने साहित्यिक मार्ग से लोकधर्म की भावना को एक अनुपम गति प्रदान करने की चेष्टा की है। मैं समझता हूँ कि तुलसी के 'सियाराममय सब जग जानी' में भी प्रेम का आदर्श तो यही है किन्तु मानस में वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप प्रेम की व्यवस्था नहीं हुई है। आज का समाज जिन परिस्थितियों में फंसा हुआ है, मानसके रचयिता ने उस प्रेम की कभी कल्पना भी नहीं की होगी। इसके अतिरिक्त मानस की प्रेम-व्यवस्था भक्ति के वातावरण में हुई है, जबकि आत्मकथा की प्रेम-व्यवस्था सहानुभूति, करुणा एवं कृतज्ञता बौद्धिक एवं व्यावहारिक वातावरण में हुई है। मानस का प्रेम भक्तिमूलक अलौकिकता के पुट से किसी निर्वर्ग वर्ग का संग्रह न कर सके यह सम्भव है, किन्तु आत्मकथा के प्रेम में किसी वर्ग की अवधि के लिए शायद ही कोई अवकाश रहा हो।

मनुष्य और उसका आराध्य भी समाज की एक समस्या है। क्या वह प्रतिमा में सीमित है? नहीं वह सीमित नहीं है वह किसी एक पिंड या प्रतिमा की परिधि में निहित नहीं है। कोई देश या कोई समाज विशेष भी उसकी सीमा नहीं है। सच तो यह है कि प्रेम ही आराध्य और अराध्य ही प्रेम होता है। दोनों में अभेद है। इस उक्ति की पुष्टि रहीम के दोहे से भी होती है—

> प्रेम हरी को रूप है त्यों हरि प्रेम सरूप।
> एकहि ह्वै द्वै मैं लसैं ज्यों सूरज अरु धूप॥

प्रेम दंभ और पाखंड में निवास नहीं करता। करुणा सहानुभूति और क्षमा प्रेम की पावन भूमि है, ईर्ष्या नहीं है। प्रेम एक ओर अविभाज्य है। उसे केवल असूया और ईर्ष्या ही विभाजित करके छोटा कर देते हैं।

धर्म और मानव का संबंध भी आज एक समस्या बना हुआ है। आत्मकथा के माध्यम से लेखक धर्म को एक विशेष व्याख्या करता है जिसमें वर्गों का पार्थक्य मिट जाता है। बँधे-बँधाये नियम और आचार धर्म को बाँध नहीं सकते। वह उनसे बड़ा है। जिनको मनुष्य धर्म समझता है वे सब समय और सभी अवस्था में धर्म कहलाने के अधिकारी नहीं है।

धर्म का समन्वय मानव की समस्या रहा है। बाणभट्ट के इन शब्दों में लेखक समन्वय की ओर ही संकेत करता है— 'मुझे भैरवी चक्र के चिह्नों को पृष्ठभूमि में महावराह की वेदी ऐसी अद्भुत दिखायी पड़ी कि एक क्षण के लिए मैं उसे भविष्य का निमित्त निर्देशक समझे बिना न रह सका। यह एक दिन के लिए दो परस्पर विरोधी प्रतीकों का समन्वय हुआ है यह आकस्मिक हो सकता है, पर अकारण निश्चय ही नहीं है इसमें किसी भावी विरोधाभास की सूचना है।'

सत्य को धर्म कहा जाता है अथवा वह धर्म का आधार है किन्तु सत्य स्वयं समाज की समस्या है। क्या झूठ के बिना भी समाज का काम चल सकता है ? नहीं' जो समाज व्यवस्था झूठ को प्रश्रय देने के लिए ही तैयार की गयी है, उसे मान कर अगर कोई कल्याण कार्य करना चाहते हैं, तो आपको झूठ का ही आश्रय लेना पड़ेगा। इस समाज-व्यवस्था में सत्य प्रच्छन्न होकर वास कर रहा है। देखी-सुनी बात को ज्यों का त्यों कह देना या मान लेना सत्य नहीं है। सत्य वह है, जिससे लोक का आत्यन्तिक कल्याण होता है, भले ही ऊपर से वह झूठ जैसा ही दिखायी देता हो।

कुछ लोगों की कल्पना में निःशस्त्रीकरण और राज्यहीन समाज ही नहीं है, वरन् असैन्य-समाज भी है। वर्तमान परिस्थितियों में यह कल्पना एक समस्या बन बैठी है। यों तो महापुरुषों ने करुणा और मैत्री के अनेक उपदेश दिये हैं भ्रातृ-भाव और जीव-दया के बहुत ग्रन्थ लिखे हैं; पर उन्हें सफलता नहीं मिली है। कभी-कभी मनुष्य निराशा से कातर हो उठता है। वह सोचता है कि जब तक सैन्य संगठन रहेंगे पौरुष दर्प का प्राचुर्य रहेगा, तब तक ये अमानवीय कार्य होते ही रहेंगे किन्तु यह एक प्रश्न है कि क्या मनुष्य सम्पत्ति के मोह को त्याग सकेगा क्या सैन्य-संगठन न हों यह संभव होगा ? शायद दर्पहीन मनुष्य ही राज्यहीन समाज का निर्माण कर सकेगा।

अन्याय को रोकने के लिए क्या समाज राजाओं का मुँह ताकता रहे अथवा मृत्यु के भय से मानव को गतिहीन एवं अकर्मण्य बन जाना चाहिये। नहीं, इससे अन्याय नहीं रुकता, मृत्यु नहीं टलती। न्याय स्वयं बहुत कम आता है। वह जहाँ भी मिले उसे छीन के आना चाहिये। न्याय पाना मनुष्य का धर्म सिद्ध अधिकार है और उसे न पाना अधर्म है। धर्म के लिए प्राण देना किसी जाति का पेशा नहीं है वह मनुष्य मात्र का उत्तम लक्ष्य है।

क्या राजनीति न्याय की उपेक्षा कर सकती है ? क्या राजनीतिक कटिलता दल से अपराधियों की रक्षा कर सकती है ? यह आज की समस्या है। आत्मकथा में इसके हल का संकेत है। अन्याय की उपेक्षा से उसकी वृद्धि होती है न्याय का हनन होता है समाज पतित होता चला जाता है और दुष्कर्म बढ़ते चले जाते हैं। इसलिए राजनीति के न्याय को सुरक्षित एवं मर्यादित रखना चाहिये। न्याय पात-विशेष या किसी

स्तर-भेद को स्वीकार नहीं कर सकता। न्याय की दृष्टि में सब समान हैं, किन्तु क्या स्तर भेद मिट सकता है।

वह अवश्य मिट सकता है। वह केवल वर्णों और धर्म में ही नहीं सेना में भी है। यह स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले भी था और अब भी है। गोरी जातियां काला के प्रति, बड़ा छोटे के प्रति भेद-भाव रखता है। यह अशुभ लक्षण है। इससे एकता खंडित होती है, आत्मरक्षा की शक्ति क्षीण होती है। इसीलिए आत्मकथा में ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक की एकता की पुकार है।

यह अभेद-भाव ही किसी जाति की शक्ति है। भारत की अनेक जातियाँ शत्रुओं के सामने जो घुटने टेक गयी उसका कारण स्तर-भेद था। उसके विपरीत बाहर से आक्रमण करने वाली सेनाओं में यह स्तर-भेद कभी नहीं रहा। उन्होंने मिथ्या को कभी प्रश्रय नहीं दिया। प्रबल प्रतापी गुप्त राजाओं ने इस मिथ्या समाज-भेद के साथ उदात्त भावनाओं का समन्वय करना चाहा था। यह गलती थी। गोविन्दगुप्त ने इस रहस्य को समझा था पर गुप्त सम्राट इसे नहीं समझ सके। इसलिए वे पराजित हो गये।

स्तर भेद से भारत ने अपने को अनेक बार संकट में डाला। बाहर के लोग यहाँ राज करते रहे। क्यों? इसीलिए कि यहाँ स्तर भेद ने समाज की एकता को खोखला कर दिया। यहाँ किसी यवन-कन्या से विवाह करना एक सामाजिक विद्रोह माना जाता है। क्या यवन-कन्या मनुष्य नहीं है अथवा ब्राह्मण युवा मानवीय ऊँचाई की कौनसी सीढ़ी पर आसीन है? भारत में यह ऊँच-नीच का भाव बहुत भयंकर है। यहाँ जो ऊँचे हैं वे बहुत ऊँचे हैं जो नीचे हैं उनकी निचाई का अनुमान सामाजिक लज्जा का कारण है। यहाँ की स्त्रियों में भी रानी से लेकर परिचारिका तक और गणिका से लेकर दार विलासिनी तक सैकड़ों भेद हैं। जब तक निकृष्ट सामाजिक कटिलता यहाँ से हटायी नहीं जाती तब तक वास्तविक शान्ति असम्भव है। जहाँ एक जाति दूसरी को म्लेच्छ समझती हो एक मनुष्य दूसरे को नीच समझता हो वहाँ इससे बढ़ कर अशान्ति का और क्या कारण हो सकता है? जिस समाज में इतने स्तर-भेद नहीं हैं, वहीं स्वर्ग की झलक मिल सकती है। यह दुःख-ताप निर्वासन पर्यटन परदाराभिमर्श आदि विकृत समाज-व्यवस्था के विकृत परिणाम हैं।

वेतन-भोगी सेना या किसी एक जाति द्वारा देश की रक्षा का प्रश्न भी बड़ा विचित्र है। यहाँ के लोग राजाओं या राजपूतों की सेना का मुँह ताका करते थे। उन्होंने आत्मरक्षा का भार उन्हीं पर छोड़ रखा था। अब भी कुछ लोगों ने यह काम सेना का ही मान रखा है। यह बड़ी मूर्खता है। वस्तुतः यह काम देश के सभी युवकों का है। उस देश के युवक ही इस भार को अच्छी तरह संभाल सकते हैं जहाँ एक समाज और एक धर्म है और जहाँ देश रक्षा को उनका समान धर्म समझा जाता है।

भारत में विधवा भी समाज की एक समस्या है। विवाह के बाद ही पति की मृत्यु एक नवयुवती पर अकस्मात् वज्रपात नहीं तो क्या है? भारत देश में यह समस्या अभी तक सुलझ नहीं पायी है। विधवा को यहाँ भिन्न-भिन्न भीतरी-बाहरी कष्टों का सामना करना पड़ता है यह देखकर किसी भी विचारक का मन तिलमिला उठता है। अनेक पारिवारिक और सामाजिक अत्याचार उसे अनेक बार न केवल घर छोड़ भागने के लिए ही विवश कर देते हैं अपितु आत्म-हत्या तक के लिए मजबूर कर देते हैं। धार्मिक दृष्टि से परतन्त्र स्त्रियों की कितनी दुर्दशा होती है, यह समाज के लिए बड़ी लज्जा की बात है। इसलिए लेखक ने विधवा-विवाह की ओर भी एक सूक्ष्म संकेत किया है।

आज भारत में जिस असंयम की शिकायत की जाती है उसके मूल म यहाँ के युवक-समाज का कर्तव्य के प्रति प्रमाद है। जब तक युवक-समाज सचेत नहीं होता अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक नहीं होता यह शिकायत दूर नहीं हो सकती। युवक-समाज किसी भी देश की 'रीढ़' होता है। उसके सँभलने पर देश का उद्धार हो जाता है उसके गिरने पर देश गिर जाता है। इसीलिए लेखक ने महामाया के मुख से इस 'उद्बोधन मन्त्र' का उच्चारण करवाया है— आर्यावर्त के तरुणो जीना सीखो मरना सीखो इतिहास से सीखना सीखो।" "जिस आधार पर खड़े होने जा रहे हो वह दुर्बल है। "सम्मुख आओ जवानों" "आंधी की भाँति नहीं" "शत्रुओं को तिनके की भाँति उड़ा ले जाओ।" संकट के भय से कातर होना तरुणाई का अपमान है। १

देश को जगाने का काम कौन करे? यह एक प्रश्न है। अब तक कविता का प्रयोजन एक समस्या रहा है। 'कला कला के लिए' का नारा कलावादियों की ओर से बड़ी प्रखरता से आता रहा है। पश्चिम में इस नारे की बड़ी धूम रही है, किन्तु 'कला जीवन के लिए है' की धारणा भी एक प्रौढ़ पक्ष धारण करती रही है। इसलिए लेखक ने आत्मकथा के कुछ पात्रों को कविता का क्षेत्र और प्रयोजन अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया है। भट्टिनी का कहना है— "श्लोक बनाना ही तो कविता नहीं है। "छंद और अलंकार तो कविता के प्राण नहीं हैं। प्राण है रस विशुद्ध सात्त्विक रस। जो कविता के द्वारा रस बरसा सकता है वही सच्चा कवि है सच्ची कविता की स्रोतस्विनी विगतकल्मष चित्त में उदित होती है। चारित्र्यपूत हृदय ही में सरस्वती का निवास होता है। पवित्रवासिनी वाक्-स्रोतस्विनी ही धरा का कल्मष धो सकती है उसी से शान्ति का आविर्भाव हो सकता है। २ स्तोत्र-वाक्यों में कविता जीवित नहीं रह सकती। ऐसे वातावरण में कविता स्वतः समाप्त हो जाती है। कविता का निवास विटों और विदूषकों की भौंडी रसिकता में भी नहीं होता। कविता बन्धन विलासिनी या संकोचशीला नहीं होती। वह मुक्त हृदय के सहज स्पन्दन में निहित होती है। वही एक ही रागात्मक हृदय

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० ११७-११८

२ वही पृ १४१

स्तर-भेद को स्वीकार नहीं कर सकता। न्याय की दृष्टि में सब समान हैं, किन्तु क्या स्तर भेद मिट सकता है।

वह अवश्य मिट सकता है। वह केवल वर्ण और वर्गों में ही नहीं, सेना में भी है। यह स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले भी था और अब भी है। गोरी जातियाँ कालों के प्रति, बड़ा छोटे के प्रति भेद भाव रखता है। यह अशुभ लक्षण है। इससे एकता खंडित होती है आत्मरक्षा की शक्ति क्षीण होती है। इसीलिए आत्मरक्षा में ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक की एकता की पुकार है।

यह अभेद भाव ही किसी जाति की शक्ति है। भारत की अनेक वाहिनियाँ शत्रुओं के सामने भी घुटने टेक गयी उसका कारण स्तर भेद था। उसके विपरीत बाहर से आक्रमण करने वाली सेनाओं में यह स्तर-भेद कभी नहीं रहा। उन्होंने मिथ्या को कभी प्रश्रय नहीं दिया। प्रबल प्रतापी गुप्त राजाओं ने इस मिथ्या समाज-भेद के साथ उदात्त भावनाओं का समन्वय करना चाहा था। यह गलती थी। गोविन्दगुप्त ने इस रहस्य को समझा था पर गुप्त सम्राट् इसे नहीं समझ सके। इसलिए वे उन्मिलत हो गये।

स्तर भेद से भारत ने अपने को अनेक बार सङ्कट में डाला। बाहर के लोग यहाँ राज करते रहे। क्यों? इसीलिए कि यहाँ स्तर भेद ने समाज की एकता को खोखला कर दिया। यहाँ किसी यवन-कन्या से विवाह करना एक सामाजिक विद्रोह माना जाता है। क्या यवन-कन्या मनुष्य नहीं है अथवा ब्राह्मण युवा मानवीय ऊँचाई की कौनसी सीढ़ी पर आसीन है? भारत में यह ऊँच-नीच का भाव बहुत भयंकर है। यहाँ जो ऊँचे हैं वे बहुत ऊँचे हैं जो नीचे हैं उनकी निचाई का अनुमान सामाजिक सभ्यता का कारण है। यहाँ की स्त्रियों में भी रानी से लेकर परिचारिका तक और गणिका से लेकर वार विलासिनी तक सैकड़ों भेद हैं। जब तक निकृष्ट सामाजिक भिन्नता यहाँ से हटायी नहीं जाती तब तक वास्तविक शान्ति असम्भव है। जहाँ एक जाति दूसरी को म्लेच्छ समझती हो, एक मनुष्य दूसरे को नीच समझता हो वहाँ इससे बढ़ कर अशान्ति का और क्या कारण हो सकता है? जिस समाज में इतने स्तर-भेद नहीं हैं, वहीं स्वर्ग की झलक मिल सकती है। यह कुल-ताप निर्वासन दर्पण पत्नाग्निमर्श आदि विकृत समाज-व्यवस्था के विकृत परिणाम हैं।

वैतन-भोगी सेना या किसी एक जाति द्वारा देश की रक्षा का प्रश्न भी बड़ा विचित्र है। यहां के लोग *राजाओं या राजपुत्रों की सेना का मुँह ताका करते हैं।* उन्होंने आत्मरक्षा का भार उन्हीं पर छोड़ रखा था। अब भी कुछ लोगों ने यह काम सेना का ही मान रखा है। यह बड़ी भूलता है। वस्तुतः यह काम देश के सभी युवकों का है। उस देश के युवक ही इस भार को अच्छी तरह सँभाल सकते हैं जहाँ एक समाज और एक धर्म है और जहाँ देश रक्षा को सबका समान धर्म समझा जाता है।

भारत में विधवा भी समाज की एक समस्या है। विवाह के बाद ही पति की मृत्यु एक नवयुवती पर भयंकर वज्रपात नहीं तो क्या है? भारत देश में यह समस्या अभी तक सुलझ नहीं पायी है। विधवा को यहाँ किन-किन भीतरी-बाहरी संकटों का सामना करना पड़ता है यह देखकर किसी भी विचारक का मन तिलमिला उठता है। अनेक पारिवारिक और सामाजिक अत्याचार उसे अनेक बार न केवल घर छोड़ भागने के लिए ही विवश कर देते हैं अपितु आत्म-हत्या तक के लिए मजबूर कर देते हैं। धार्मिक दृष्टि से परतन्त्र स्त्रियों की कितनी दुर्दशा होती है यह समाज के लिए बड़ी लज्जा की बात है। इसलिए लेखक ने विधवा-विवाह की ओर भी एक सूक्ष्म संकेत किया है।

आज भारत में जिस असंयम की शिकायत की जाती है उसके मूल में यहाँ के युवक-समाज का कर्तव्य के प्रति प्रमाद है। जब तक युवक-समाज सचेत नहीं होता, अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक नहीं होता यह शिकायत दूर नहीं हो सकती। युवक-समाज किसी भी देश की 'रीढ़' होता है। उसके सँभलने पर देश का उद्धार हो जाता है उसके गिरने पर देश गिर जाता है। इसीलिए लेखक ने महामाया के मुख से इस 'उद्बोधन मंत्र' का उच्चारण करवाया है— आर्यावर्त के तरुणो जीना सीखो, मरना सीखो इतिहास से सीखना सीखो।' 'जिस आधार पर खड़े होने जा रहे हो वह दुर्बल है।' "सम्हल जाओ जवानों" "आँधी की भाँति बहो' 'शत्रुओं को तिनके की भाँति उड़ा ले जाओ।" संकट के भय से कातर होना तरुणाई का अपमान है।'[1]

देश को जगाने का काम कौन करे? यह एक प्रश्न है। अब तक कविता का प्रयोजन एक समस्या रहा है। 'कला कला के लिए' का नारा कलावादियों की ओर से बड़ी प्रबलता से आता रहा है। पश्चिम में इस नारे की बड़ी धूम रही है किन्तु 'कला जीवन के लिए है' की धारणा भी एक प्रौढ़ पक्ष धारण करती रही है। इसलिए लेखक ने आत्मकथा के कुछ पात्रों को कविता का क्षेत्र और प्रयोजन अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया है। भट्टिनी का कहना है—'श्लोक बनाना ही तो कविता नहीं है। "रस और चमत्कार तो कविता के प्राण नहीं हैं। प्राण है रस विशुद्ध सात्त्विक रस। जो कविता के द्वारा रस ढाल सकता है, वही सच्चा कवि है सच्ची कविता की स्रोतस्विनी विमलतन्मय चित्त में उदित होती है। शान्तिपूत हृदय ही में सरस्वती का निवास होता है। प्रतिभाशालिनी वाक्-स्रोतस्विनी ही जगत का कल्याण कर सकती है उसी से शान्ति का आविर्भाव हो सकता है।"[2] स्त्रैण-वातावरण में कविता जीवित नहीं रह सकती। ऐसे वातावरण में कविता स्वतः समाप्त हो जाती है। कविता का निवास विटों और विदूषकों की भीड़ी रसिकता में भी नहीं होता। कविता बन्धन-विलासिनी या छन्दोबद्धता नहीं होती। वह मुक्त हृदय के सहज स्पन्दन में निहित होती है। वही एक हो रसात्मक हृदय

१ बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० ११७-११८

२ वही, पृ० १४१

और एक ही करुणावृत्ति को हृदयंगम करा सकती है। लोभ मोह और द्वेष से विकृत पाशविक मानव मन को संवेदनशील और कोमल कविता ही बना सकती है। संसार के इस शुष्क कांतार में अन्तस्सलिला सरिता भी बह रही है, इस लोभ-पूजा के कल्मष के नीचे निर्मोह वैराग्य का देवता स्तब्ध है यह संवाद कवि के सिवा और कौन दे सकता है? कविता सत्य का रसात्मक प्रचार है जिससे मनुष्य की दुर्मद वासनाएँ अनियंत्रित कामनाएँ और अविचारित धारणाएं कुछ कम वीभत्स हो सकती हैं। काव्य से मनुष्य की दयाहीन-विवेकहीन-धर्महीन वृत्तियां उच्चतर कार्य में नियोजित हो सकती हैं।१

इन समस्याओं के अतिरिक्त आत्मकथाकार ने कुछ अन्य प्रश्नों को सामने लाकर उनका उत्तर देने का प्रयत्न किया है जिनमें प्रमुख यह है—क्या उन्मत्त उत्सव रास नाच मृदंग सीत्कार अबीर-गुलाल, चर्चरी और पटह मनुष्य के स्वस्थ चित्त के अभिव्यंजक हैं? इसका उत्तर लेखक ने निषेधात्मक वाक्य में दिया है। ये मनुष्य की निर्मम मानसिक दुर्बलता को छिपाने के लिए हैं, ये दुःख भुलाने वाली मदिरा हैं ये हमारी मानसिक दुर्बलता के पर्दे हैं। इनका अस्तित्व यही सिद्ध करता है कि मनुष्य का मन रोगी है, उसकी चिन्ता धारा मलिन है, उसका पारस्परिक संबंध दुःखपूर्ण है।२

इस प्रकार लेखक ने इन समस्याओं के पीछे आधुनिक मानव के मन की ग्रन्थियों को प्रस्तुत करके उसकी सुलझन की ओर भी संकेत किया है।

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० १४४

२ वही पृ० १२२।

९. जीवन—दर्शन

जीवन-दर्शन

आत्मकथा का लक्ष्य भारतीय संस्कृति में विश्वास पैदा करना है। आज एक विचित्र हवा चल रही है जिसके प्रबल झोंके साहित्य में होकर आ रहे हैं—प्रमुखतः कथा साहित्य में होकर। आज के बहुत-से कहानीकार और उपन्यासकार अपनी इच्छा से जिधर चाहे चले जा रहे हैं। उनको किसी अनुशासन की प्रतीति नहीं हो रही है। समाज में भी ऐसा तत्त्व उपस्थित है जो उनकी गति और कृति को टोकने के स्थान पर प्रोत्साहित करता है। दूसरे प्रकार का समाज ऐसे उपन्यासों से जो भारतीयता को ध्वस्त कर रहे हैं, कुढ़ रहा है क्षोभ व्यक्त कर रहा है; फिर भी इनकी संख्या कम नहीं हो रही है। आत्मकथाकार ने बड़े संयम और कौशल से भारतीय संस्कृति को उद्बुद्ध करने का प्रयत्न किया है। छठी-सातवीं शताब्दी के सामाजिक, धार्मिक और नैतिक तत्त्वों को ही नहीं वरन् उसने राजनीतिक परिस्थितियों को भी सामने ला रखा है। इन सब परिस्थितियों में सांस्कृतिक गौरव की रक्षा का प्रयास है। समाज का विगलित पक्ष भी उपेक्षित नहीं रहा है किन्तु कलाकार की प्रशस्ति का बल स्वस्थ पक्ष की ओर ही रहा है। भारतीय संस्कृति के स्वस्थ पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए लेखक की आनुमानिक प्रतिभा अशेष सतर्क रही है। बाणभट्ट के मुख से आर्यों की यज्ञ-संस्कृति के प्रति उत्साह व्यक्त करते हुए लेखक ने इसी प्रतिभा का परिचय दिया है—

"फिर मेरा गृह यज्ञभूमि की कालिमा से दिशाओं को श्यामल बना देगा। फिर मेरे द्वार पर वेद-मन्त्रों का उच्चारण करती हुई शुक सारिकाएँ बटुओं को पद-पद पर टोका करेंगी।[1]"

लेखक ने भाग्य को बड़े ध्यान से देखा है। उसने देखा है कि मनुष्य चाहे लाख प्रयत्न करे वह भाग्य का विपर्यय नहीं कर सकता। अदृष्ट के कण्टक में उलझ कर उसके कष्टों से बचना मनुष्य के वश की बात नहीं है। जो होना होता है वह होकर रहता है और जो होना चाहिये उसके सम्बन्ध में निश्चय रूप से कुछ कहना असम्भव है। इसीलिए बाणभट्ट को कहना पड़ा है—

'भाग्य को कौन बदल सकता है? विधि की प्रबल लेखनी से जो कुछ लिख दिया गया है, उसे कौन मिटा सकता है? अदृष्ट के पारावार को उलीचने में अब तक कौन समर्थ हुआ है?"[2]

मनुष्य अपने बल रूप पर गर्व करने लगता है। वह अपने को किसी का आश्रय

---

१ बा० आ० क० प्रथम संस्करण पृ० १५

२. बा० आ० क० प्रथम संस्करण, पृ० १५

ाता समझने की भूल कर सकता है। महामाया की उपासना करती हुई मधु-सिक्त निपु-
णिका ने बाणभट्ट की आँखें खोल दीं। वह क्षुब्ध होकर कहने लगा—

"किसे आश्रय देने की बात मैं कह रहा था? निपुणिका को जो आश्रय मिला
उसकी तुलना में मेरा आश्रय कितना तुच्छ, कितना नगण्य और कितना अकिंचन है?
रे पुरुषत्व का गर्व कौलीन्य का गर्व और पाण्डित्य का गर्व क्षण भर में भरभरा के
गर गये।'[१]

आत्मकथा का लेखक सत्कृति का पक्षपाती है किन्तु उसकी विकृतियों का सम
क नहीं है। निपुणिका को दिये हुए बाणभट्ट के उत्तर से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

'साधारणतः लोग जिस उचित-अनुचित के बँधे रास्ते से सोचते हैं, उससे मैं नहीं
सोचता। मैं अपनी बुद्धि से अनुचित-उचित की विवेचना करता हूँ। मैं मोह और लोभ-
स किये गये समस्त कार्यों को अनुचित मानता हूँ।'[२]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि लेखक को गतानुगतिकता अभिप्रेत नहीं है। वह बुद्धि
ो बाँध कर नहीं सोचता वह उसको खोलकर सोचने के पक्ष में है। इस विचार में
क नवीनता है, रूढ़ विचारों को तोड़ने का संकल्प है। सद्बुद्धि की प्रेरणा से उचित
ार्ग पकड़ना मनुष्य का पावन कर्त्तव्य है। इस दिशा में आने वाले अन्तरायों या संकटों
ी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। बाण की उक्ति में इसी तथ्य की अभिव्यक्ति है।

"मैं अपने को इन दो रिपुओं (मोह और लोभ) से बचा नहीं सका हूँ। आज ही
ने एक महान् संकल्प किया है। मैं नहीं जानता कि इसमें मैं कहाँ तक सफल हूँगा।
नुचित कार्यों से मैं अपने को सदा बचा नहीं पाया हूँ पर उचित कर्मों को अवसर माने
र करने के लिए मैंने अपने प्राणों तक की परवाह नहीं की है।।[३]

इस उक्ति में प्रयत्न पक्ष-पर विशेष बल दिया गया है, सफलता की चिन्ता को
यर्थ बतलाया गया है। इसमें 'कर्मण्येवाधिकारस्तेम मा फलेषु कदाचन' के सिद्धान्त का
कितना स्पष्ट समर्थन है।

निर्भीकता और विश्वास मानव के प्रमुख सहायक भाव हैं। इनसे गति और कृति
ढ़ता एवं सौष्ठव का समावेश होता है। अघोर भैरव के उपदेश में इन्हीं भावों का
मर्थन है—

डरना नहीं चाहिये। जिस पर विश्वास करना चाहिये उस पर पूरा विश्वास
रना चाहिये चाहे परिणाम जो हो। जिसे मानना चाहिये उसे अन्त तक मानना
ाहिये।'[४]

---

१ बा० आ क० पृ० २५ २६
२ बा० आ क पृ० २७
३ वही, पृ० २७
४ बा आ० क० पृ० ६६

इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक साहित्य में नारी के पद को ऊँचा किया गया है किन्तु साहित्यकार ने नारी के प्रति सहानुभूति व्यक्त की है या उसकी दशा पर अनुराग की चेष्टा करते हुए करुणा व्यक्त की है। साहित्य की इस चेष्टा में समाज में क्षोभ भी है और ग्लानि भी है। आत्मकथा के लेखक ने नारी में सौंदर्य को प्रमुख रूप से देखा है। कथाओं की अभिव्यक्ति-परंपरा में नारी के सौंदर्य की अभिव्यंजना वासना से असंपृक्त नहीं रह पाई है। जहाँ कहीं पुरुष ने उसे देखा है वासना के द्वार से देखा है, किन्तु आत्म कथाकार ने इस सौंदर्य को भावना के बड़े ऊँचे स्तर से देखा है। इसी से तो बाणभट्ट कहता है—

"मैं नारी-सौंदर्य को संसार की सबसे अधिक प्रभावोत्पादिनी शक्ति मानता रहा हूँ। मेरे मन में रह-रह कर यही ध्वनि निकलती रही है कि नारी सौंदर्य यहाँ अगम्य है निष्फल है ऊसर है। क्यों ऐसा हुआ? इस महान् शक्तिशाली तत्त्व से बड़ी भी कोई शक्ति है क्या जिसने इसे इस तरह हतदर्प बना दिया है। १"

नारी के इस सौंदर्य को मनुष्य नहीं देख पाया है। इसका कारण लेखक की सम्मति में ठीक पड़ता है। भोगिलप्सावादी दृष्टिकोण ने पुरुष की सौंदर्य-दर्शिनी दृष्टि कुण्ठित कर दी है। इसी कारण को भट्ट इस प्रकार व्यक्त करता है—

'जिसने इसे हतदर्प बना दिया है + + वह शक्ति सम्पत्ति ही हो सकती है। २'

जिस प्रकार नारी-सौंदर्य पर दृष्टिपात करके आत्मकथा के लेखक ने एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है उसी प्रकार उसने सत्य के संबंध में भी एक व्यावहारिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। जो सत्य व्यवहार्य नहीं है, वह सत्य नहीं है। सत्य समाज की धारणा है। वह समाज के लिए कल्याणकारी होना चाहिये। झूठ घृणा की वस्तु है। किन्तु कभी कभी सत्य के स्थान पर झूठ का उपयोग सामाजिक व्यवस्था में कल्याणकर सिद्ध होता है। कुमार कृष्णवर्धन बाण को समझाते हुए इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं—

'सत्य अविरोधी होता है। ३'

बौद्ध दार्शनिकों ने संवृति-सत्य (व्यावहारिक सत्य) और परमार्थ-सत्य कह कर उसे विभक्त करने का दम फैलाया है मानों ये दोनों परस्पर विरुद्ध हों। जो मेरा सत्य है यदि वह वस्तुतः सत्य है तो वह सारे जगत् का सत्य है, व्यवहार का सत्य है परमार्थ का सत्य है—त्रिकाल का सत्य है। ४'

"तुम मन से इसका घृणा करते हो मैं भी करता हूँ परन्तु समाज व्यवस्था झूठ को प्रश्रय देने के लिये ही तैयार की गई है उसे मानकर अगर कोई कल्याण कार्य

१ बा० आ० क० पृ० ११९

२ वही पृ० ११९

३ वही पृ० १०८

४ बा० आ० क०, पृ० १५१।

करना चाहो, तो तुम्हें झूठ का ही आश्रय लेना पड़ेगा। सत्य इस समाज व्यवस्था में प्रच्छन्न होकर वास कर रहा है। तुम उसे पहचानने में भूल न करना। इतिहास साक्षी है कि देखी-सुनी बात को वर्षों का त्यों कह देना या मान लेना सत्य नहीं है। सत्य वह है जिससे लोक का आत्यन्तिक कल्याण होता है। ऊपर से वह कैसा भी झूठ क्यों न दिखाई देता हो वही सत्य है।१"

लेखक ने इसको सिद्ध करने के लिए महाभारत के शान्ति-पर्व से यह उद्धरण दिया है—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम॥

—(म॰ भा॰ शां॰ प॰, ३२९, १३)

सत्य की व्याख्या करते हुए कुमार कृष्णवर्धन आगे कहते हैं—

"लोक-कल्याण प्रधान वस्तु है। वह जिससे सधता हो वही सत्य है। आचार्य आर्यदेव ने सबसे बड़े सत्य को भी सर्वत्र बोलने का निषेध किया है। औषध के समान अनुचित स्थान पर प्रयुक्त होने पर सत्य भी विष हो जाता है।२ —

सत्यता पुण्यकामेन वक्तव्या नैव सर्वदा।
औषधं मुक्तमस्थाने गरलं न तु जायते॥

—(चतुःशतक ८।१८)

'हमारी समाज-व्यवस्था ही ऐसी है कि उसमें सत्य अधिकतर स्थानों में विष का काम करता है।३ + + 'भट्ट! इस समय इतना याद रखो कि झूठ बोलना सर्वदा अनुचित नहीं होता।४'

सामान्य समाज प्रतिष्ठा की सफलता को महत्त्व देता है किन्तु हमारे लेखक की दृष्टि में सफलता का मूल्य नहीं है। प्रतिष्ठा के पीछे—उसके आधार के रूप में जो भूमि है वह प्रमुख है। प्रयत्नों को प्रेरणा वहीं से मिलती है। बाधाएं सफलता का बाधित कर सकती हैं और अनेक बार बाधाओं के कारण सफलता पर मनुष्य का अधिकार नहीं रहता। फिर मनुष्य के मूल्य को प्रतिष्ठा की सफलता से आँकना उचित कैसे हो सकता है? निउनिया को भिखारिणी हुई भट्टिनी के शब्दों में इसी भाव की अभिव्यक्ति हुई है—

"निपुण मेरे पहले भी थे पर ऐसा वेशीसम अभिभावक मुझे पहले नहीं मिला

---

१ बा॰ भा॰ क॰ पृ॰ १२८।१२९।
२ वही, पृ॰ १२९।
३ वही पृ॰ १२९।
४ वही पृ॰ १३१।

था। तू केवल प्रतिज्ञा के सफल होने को बड़ी चीज समझती है। ना, बहन, प्रतिज्ञा करना ही बड़ी चीज है।''१

नारी के स्वर से एक निराशाभरी हूक भी निकलती है। नारी के साथ क्या-क्या नहीं हुआ और क्या-क्या नहीं हो रहा है। उसने सब कुछ सहा है और सब कुछ सहती जा रही है। भट्टिनी के स्वर में वही हूक इस प्रकार व्यक्त होती है—

'भगवान् की बनाई और लाखों कन्याओं की भाँति मैं भी एक मनुष्य-कन्या हूँ। उन्हीं की भाँति सुख-दुख का पात्र मैं भी हूँ। उन्हीं की भाँति मेरा जन्म भी अपनी सार्थकता के लिए नहीं है। मेरा अहङ्कार मर चुका है, अभिमान नष्ट हो गया है, कौलीन्य-गर्व विलुप्त हो चुका है। मैं धर्षिता अपमानिता कलङ्किनी सौ-सौ मानवियों की भाँति सामान्य नारी हूँ। जगत् के दुःख-प्रवाह में फेन-बुद्बुद के समान मैं भी नष्ट हो जाऊँगी और प्रवाह अपनी मस्तानी चाल से चलता जायेगा।२"

दुःख की बात तो यह है कि 'नारी के विरोध में उच्छृंखल पौरुष खड़ा हुआ है जिसने नारी के गौरव को भुला रखा है। उसकी महिमामयी शक्ति की उसने उपेक्षा कर रखी है। वह नहीं जानता कि उसकी निर्मर्याद महत्त्वाकांक्षा कितने दोषों को जननी है। राज्य-गठन, सैन्य-संचालन, मठ-स्थापन और निर्जन-वास पुरुष की समताहीन, मर्यादाहीन अनुशासनहीन महत्त्वाकांक्षा के परिणाम हैं। और नारी? नारी इनको नियमित करने की एकमात्र शक्ति है। इस रहस्य को महाकवि कालिदास ने पहचाना था। इतिहास भी साक्ष्य देता है कि इस महिमामयी शक्ति की उपेक्षा करने वाले मठ विध्वस्त हो गये हैं, ज्ञान और वैराग्य के जंजाल फेन-बुद्बुद की भाँति क्षण भर में विलुप्त हो गये हैं। ३

इस कृति में नारी को परम आराध्या के रूप में देखा गया है। वह देव-प्रतिमा है। इस तथ्य को पुष्टि बाण के हृदय में की है— वे हाड़-माँस की नारी हैं—न होती तो बाणभट्ट आज इस पवित्र देव-प्रतिमा के सामने अपने-आपको निःक्षेप भाव से उँडेल देने में अपनी सार्थकता क्यों मानता? हाय! इस संसार ने इस हाड़-माँस के देव-मन्दिर की पूजा नहीं की।"४ संसार को अपने आराध्य का पता नहीं चला। "वह वैराग्य और शक्ति-मद की बालू की दीवार खड़ी करता रहा। उसे अपने परम आराध्य का पता नहीं चला।"५

---

१ बा० भा० क० पृ० ११९।
२ वही, पृ० १४१।
३ देखिये बा० भा० क० पृ० १५५।
४ वही, पृ० २०७।
५. वही पृ० २०७।

पुरुष के वैराग्य में नारी को त्यागने की भावना ने प्रतिष्ठा पाई और भक्ति-मत ने नारी की शक्ति को देखने से इन्कार कर दिया। एक ओर वह त्याज्य समझी गई और दूसरी ओर उस से प्राप्त करने योग्य विलास की सामग्री समझी गई। उसके हृदयगत सौंदर्य को किसी ने पहचानने का प्रयत्न नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि संसार की साधना अधूरी रही। खेद यही है कि 'शोभा और कांति' विभ्रम और विच्छित्ति पर बिकती रही और माधुर्य तथा लावण्य के स्थान पर हेला और बिब्बोक का अधिक सम्मान किया गया।"

लेखक लौकिक दृष्टि में विरोधी-भावों को देखता हुआ भी पर्दे के पीछे एक सामरस्य का साक्षात्कार करता है। इसीलिए वह बाण के मुख से कहलाता है—"मैं यह भी जानता हूँ कि इन सारे आपाततः परस्पर-विरोधी दिखने वाले आचरणों में एक सामरस्य है—निरन्तर परिवर्तमान बाह्य आचरणों के भीतर एक परम मंगलमय देवता स्तब्ध है। उस देवता को नहीं देखने वाले ही *यौवन को मत्त गजराज कहा करते हैं, मधुराग को* मानस-अन्धकार बताया करते हैं सहजभाव को वंकिम लीला का नाम दिया करते हैं। माधवी लता को घेरकर जब मधुकर-श्रेणी गुंजार करती रहती है तो मैं स्पष्ट ही पुष्पों के भीतर सौरभ के रूप में स्तब्ध उस महादेवता को देख पाता हूँ नदी जब उन्मत्त वेग से अपने सर्वस्व को दोनों हाथों लुटाते हुए समुद्र की ओर दौड़ती रहती है, तो उस महा रागमय देवता का मुझे साक्षात्कार होता है मेघ के श्यामल-मेदुर वक्ष स्थल में क्षण भर के लिए जब विभ्रमवती विद्युत् चमक कर छिप जाती है तो उस समय भी मैं उस व्याकुल वेदना के देवता को देखना नहीं भूलता।"[1]

कभी-कभी लोगों को कुछ भ्रान्तियाँ हो जाती हैं किसी के विषय में कोई गलत धारणा बन जाती है। जब तक उसकी प्रामाणिकता सिद्ध न हो जाये उस धारणा की अभिव्यक्ति नहीं मिलनी चाहिये क्योंकि ऐसी अभिव्यक्ति से सम्बन्धित व्यक्ति के हृदय को कठोर आघात पहुँचता है। बाण का हृदय ऐसे ही आघात से व्याकुल होकर उसे यह कहने के लिए प्रेरित करता है।

'अपराध क्षमा हो देव आप चक्रवर्ती राजा हैं। आपके श्रीमुख से निकली हुई यह बात पक्षपातहीन तत्त्वज्ञ की-सी नहीं है।"[2] + + + 'महाराजा होने मात्र से किसी को किसी विषय में अनर्गल विचार रखने का अधिकार नहीं हो जाता।[3] "राजराजेश्वर को क्या इस प्रकार *निर्णयात्मक दोषारोपण* करना उचित है। न जाने किस दुर्जन ने मेरे विरुद्ध आप से क्या कह रखा है उसी के आधार पर मुझे आत्मदोष को जानने दिये बिना आप ऐसी बात कह रहे हैं।"[4]

---

१ बा० आ० क० पृ० २०७-२०८।
२ वही, पृ० २२५।
३ वही पृ० २२४।

जिस प्रकार बाणभट्ट नारी-शरीर को देव-मन्दिर मानता है उसी प्रकार सुचरिता भी मानव-देह को नारायण का पवित्र मन्दिर मानती हुई कहती है—

'मानव-देह केवल दण्ड भोगने के लिए नहीं बनी है, आर्य ! यह विधाता की सर्वोत्तम सृष्टि है। यह नारायण का पवित्र मन्दिर है।'[1]

मनुष्य यह बड़ी भारी भूल करता है कि वह अपने शरीर में प्रतिष्ठित देवता को नहीं देखता। काश कि वह उसे देख लेता ! तो वह "अपने सत्य को अपना देवता समझ लेता।"[2]

तपस्वियों और सन्यासियों के प्रति लेखक के व्यंग्यों ने समाज की दुर्बलता पर जो प्रहार किया है वह जीवन-दर्शन का बड़ा सुन्दर पक्ष व्यक्त करता है। सुचरिता की सास ने अपने पुत्र के आचरण की जो भर्त्सना की है उससे सन्यास और तपस्या की कलई खुल जाती है। वृद्धा कहती है—

'बेटा, तू मुझ अभागी को रोती-कलपती छोड़ कौन-सा धर्म कमा रहा है ? यह देख, यह तेरी ब्याहता बहू है। अभागे, स्वर्ग में ऐसी कौन-सी अप्सराएँ मिलती होंगी जिनके लिए तू इस मणि-कांचन प्रतिमा को छोड़ कर तपस्या कर रहा है ? ××× फिर दूसरा रूप धारण करके माँ ने उत्तेजित होकर कहा—' अरे ओ मूढ़, रटी हुई बोली बोल रहा है तू ! धन्य है वह धर्माचार, जो अपनी माता को पहचानने में भी लज्जा अनुभव करता है। इस दुःखमय संसार को और भी दुःखमय बना कर ही क्या तेरा सुख का राजमार्ग तैयार होगा ? स्वार्थी है तेरा मार्ग धिक्कार है तेरे पौरुष को।"[3]

दुःख से भागना कायरता है और सुख की लिप्सा मोह है। दुःख और सुख दोनों को स्वीकार करके उन्हें भगवान् के चरणों में अर्पित कर देने से दोनों का प्रभाव नष्ट हो जाता है और मन की शान्ति भंग नहीं हो पाती। सुचरिता की उक्ति में इसी भाव का सन्निवेश है—

"मैं अप्रसन्न क्यों हूँगी आर्य ? उन्होंने सन्यास लिया है, तो उसका लेखा-जोखा वे जानें। मुझे तो जो भी दुःख या सुख मिलेगा उसी से अपने नारायण की पूजा करूँगी।"[4]

यौवन पर मदान्धता का दोष आरोपित किया जाता है किन्तु बाणभट्ट उसमें गुण भी देखता है। उसके प्रश्नोत्तर से यह बात प्रकट हो जाती है—

---

१ बा० आ० क० पृ० २३१।
२ वही, पृ० २३१।
३ बा० आ० क० पृ० २०४–२०५।
४ वही पृ० २८१।

"कौन कहता है, यौवन मान्य और दुर्लक्षित है ? उसमें मधुर्य उपासक गुण भी तो है !' १

कथाकार कोरी वाग्वीरता को हेय समझता है । 'कथनी' के साथ 'करनी' को वह आवश्यक मानता है । अपने दुःख को दुःख समझना क्या बात है ? जब सबके दुःख को अपना दुःख समझा जाये तब समझना चाहिये कि अपने सत्य की अनुभूति हुई । महामाया की त्रुटि को बतलाते हुए अवधूत अघोर भैरव इसी तथ्य को प्रकाशित करते है—

'क्या सचमुच जनता के दुःख को तुमने अपना दुःख समझ लिया है ? मैं कहता हूँ महामाया सत्यवादिनी बनो प्रपंच छोड़ो । तुमने अमृत के पुत्रों को सम्बोधन किया है क्या तुम स्वयं अमृत की पुत्री बन सकी हो ? तुमने जो कहा है वह करके तभी दिखा सकती हो जब तुम अपने आप को निःशेष भाव से उनके चरणों में समर्पण कर दोगी । वाग्वीर होना अपना ही अपमान करना है । यदि त्रिपुरभैरवी की लीला को दूसरे रूप में देखना चाहती हो तो स्वयं त्रिपुरभैरवी बने बिना उपाय नहीं है ।' २

कुछ लोग सिद्धि को ही साधन समझ बैठते हैं किन्तु ऐसी समझ मतान्धता से प्रादुर्भूत होती है । ऐसी समझ के प्रजनन में कच्चे चित्त की कच्ची कल्पना का योग होता है । प्रमाद से वह रूप ग्रहण करती है, जिससे मनुष्य का नाश होता है । बाणभट्ट की निम्नलिखित उक्ति इसी भाव की वाचिका है—

अवधूतपाद ने पहले ही दिन मेरे सम्पूर्ण अस्तित्व को झकझोर कर कहा था कि भट्टिनी ही मेरी देवता है । आज घटना-चक्र ने मेरी सिद्धि को ही साधन बना दिया है । मुझे कहीं से कोई प्रकाश-रेखा नहीं दिखाई दे रही पर सिद्धि को साधन समझना कच्चे चित्त की कच्ची कल्पना है । इसे रूप-ग्रहण करने देना प्रमाद होगा ।' ३

कोई भी व्यक्ति सारे जगत् के कल्याण को अपने भीतर नहीं उतार सकता केवल व्यक्तिगत सत्य ही आचरण में उतारा जा सकता है । '४

मस्ती मनुष्य के अन्तर का एक अद्भुत रस है । वह ऐसा रस-निर्झर है जिससे इतनी उमंग इतना उल्लास इतनी निःसंगता झरती रहती है । न कहीं विरोधी पक्ष की संभावना से आशंका है न किसी पर भले-बुरे प्रभाव से प्रयोजन ।५

यह जीवन अभिनय है । वह पग-पग का बंधन श्वास-श्वास का दमन अभिनय ही तो है । यह बन्धन छूटने वाला नहीं है । वह बंधन ही चारता है संयम है सुरुचि है । इस बाधा के कगारों से बंधी हुई जीवन-सरिता ही गतिशील होती है, सरस होती

१ बा० आ० क० पृ० २८४ ।
२ बा० आ० क० पृ० ३०१ ।
३ बा० आ० क०, पृ ११७ ।
४ देखिये वही पृ० ११८
५ देखिये वही पृ० ११९ ।

है, मधुर होती है। बन्धन ही सौन्दर्य है, आत्म-दमन ही सुरुचि है, बाधाएँ ही माधुर्य
हैं। नहीं तो यह जीवन व्यर्थ का बोझ हो जाता। वास्तविकताएँ नग्नरूप में प्रक
होकर कुत्सित बन जाती हैं।"१

भारतीय समाज में वशीकरण की बात बहुत होती है।१ वशीकरण हँसी-खेल
नहीं है। अपने आप को सम्पूर्ण रूप से उत्सर्ग करने को वशीकरण कहते हैं। जहाँ दूस
को निर्जीव भाव से पाने का प्रयत्न होता है वहाँ भी वशीकरण होता है।२ मनुष्य
जितना देता है उतना ही पाता है। प्राण देने से प्राण मिलता है, मन देने से मन
मिलता है। आत्मदान ऐसी वस्तु है जो दाता और ग्रहीता दोनों को सार्थक करता है
उसमें जो आनन्द निहित है वह लौकिक मापदण्ड से नहीं मापा जा सकता। दुःख
केवल मन का विकल्प ही है मनुष्य तो नीचे से ऊपर तक केवल परमानन्दस्वरूप है
अपने को निर्जीव भाव से दे देने से ही दुःख जाता रहता है परमानन्द प्राप्त होत
है। दुःख को सुख मानना जीवन की बड़ी भारी सिद्धि है।३

प्रेम का सही मूल्य लोगों ने भुला दिया है क्योंकि वे उसके स्वरूप को नहीं सम
सके। प्रेम एक और अविभाज्य है। उसे केवल ईर्ष्या और असूया ही विभाजित कर
खोखला कर देते हैं।४ नर-लोक से किन्नर-लोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है
बलिदान-कर्ता को ही सफलता मिलती है।

प्रेम एक विकार है जो मानव-हृदय का ध्रुव सत्य है। उसे केवल दम्भ से
छिपाने का प्रयत्न किया जा सकता है दूसरों को धोखा दिया जा सकता है किन्तु प्रे
प्रेम है। वह व्यक्तिगत सत्य है। प्रेम देने से बढ़ता है और प्रेम का समर्पयिता प्रेम
अभिन्न हो जाता है।५

प्रवृत्तियों का दमन हमारी धर्म-साधना का अंग माना जाता है। दमन
है। 'प्रवृत्तियों को दबाना भी नहीं चाहिये और उनसे दबना भी नहीं चाहिये। प्रत्ये
व्यक्ति का देवता अलग होता है। देवता का परिचय शायद प्रवृत्तियाँ ही कराती
हम बहुत बार अपने देवता को मन-ही-मन पूजते रहते हैं पर हमें पता भी
होता।७"

उन्माद और उन्माद में प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होती। वह तो अनुपम

---

१ बा० भा० क० पृ० १५६–५७।

२ वही पृ० १६६।

३ वही पृ० १७२–७३।

४ वही, पृ० १७७

५ वही पृ० १८०

६ देखिये वही, पृ० ११०।

७ बा० भा० क० पृ० ११५

औत्सुक्य में ही होती है। उत्सवों को धर्म में सम्मिलित किया जाता है। क्या ये न्याय है? ये मनुष्य समाज की गलती के द्योतक हैं। यह उन्मत्त उत्सव, ये रासक गान ये शृंगकोत्सव, ये अबीर-गुलाल, ये चर्चरी की और ये पद् मनुष्य की किसी मानसिक दुर्बलता को छिपाने के लिए हैं ये दुःख भुलाने वाली मदिरा हैं, ये हमारी मानसिक दुर्बलता के पर्दे हैं। इनका अस्तित्व सिद्ध करता है कि मनुष्य का मन रोगी है, उसको मिथ्याचार भाविष्ट है उसका पारस्परिक सम्बन्ध दुःखपूर्ण है।"[1]

प्रेम बहुत कोमल किन्तु उच्च वस्तु है। वह वैराग्य से दमन करने योग्य नहीं है।"[2]

---

१ बा० भा० क० पृ १२२ २३।

२ वही पृ० २७२।



१० समाज-चित्रण

लेखक या कवि अपने समाज का चित्रकार होता है। जिस प्रकार आड़ी-टेढ़ी रेखाओं से चित्रकार किसी-वस्तु या व्यक्ति का रूप प्रस्तुत कर देता है उसी प्रकार साहित्यकार अपने शब्दों से समाज का चित्र प्रस्तुत करता है। ऐतिहासिक आधार होने पर भी साहित्यकार अपने समय के समाज को नहीं भुला सकता है। उसके समय में समाज का जो रूप चित्र होता है उसकी कुरूपता को वह इतिहास के आश्रय से दूर करता है। भूत और वर्तमान की अनेक समस्याओं में या तो साम्य होता ही है और यदि नहीं भी होता तो साहित्यकार इतिहास में अपने युग की समस्याओं के साम्य की कल्पना करता है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में जिस सामाजिक वातावरण की मीमांसा की गई है उसका कुछ तो ऐतिहासिक आधार है ही। आधार में कादम्बरी और हर्षचरित के योग को नहीं भुलाया जा सकता। इसके अतिरिक्त अन्य रचनाओं का ऐतिहासिक योग भी स्पष्ट है। इस आधार में राजनीति धर्म दर्शन भक्ति, कला, आचार विचार वेश-भूषा रीति-नीति आदि का साक्षात्कार न करना सम्भव नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लेखक का अभिनव प्रयोग है। इसमें शैली का वैलक्षण्य है नवीनता है किन्तु उसके पीछे निहित उद्देश्य से उसमें उपन्यास के रूप को न देखना समीचीन नहीं है। उपन्यास गद्य का महाकाव्य होता है। इसमें लेखक के ऊपर नाटक या कहानी का सा नियन्त्रण नहीं होता। उसकी रुचि के रुचि में जो-जो बातें 'फिट' होती हैं उनको वह स्वतन्त्रता से कहता-कहाता है। इस कृति में वस्तु-कथा का सूत्र बहुत छोटा है, किन्तु लेखक के कौशल ने उसको विस्तार देकर जो औपन्यासिक वैभव प्रदर्शित किया है वह लेखक की कला का ज्वलन्त उदाहरण है। विस्तारों में वर्णनों का प्रमुख योग है। यों तो अनेक प्रकार के वर्णनों की प्रचुरता से आत्मकथा का प्रवाह कुछ शिथिल और बोझिल हुआ है किन्तु शैली की नवीनता औत्सुक्य-जनन की चेष्टा और भावों के अद्भुत सामञ्जस्य ने 'कथा' की रोचकता का ह्रास नहीं होने दिया। यद्यपि उत्सवों का वर्णन तत्कालीन ग्रन्थों पर आधारित है, उस युग को पाठकों के सामने लाकर आधुनिक युग की विकास-सीमा में समाहित कर देता है।

राजपरिवार में पुत्र-जन्म के सबंध से नामकरण आदि का महत्त्व दिखला कर लेखक ने इतिहास का आश्रय लिया है। उससे आधुनिक जन्मोत्सव परम्परा की कड़ी जोड़ी जा सकती है। ऐसे अवसरों पर प्रायः स्त्रियों की ही संख्या अधिक होती है और इसी रीति को लेखक ने बाल-नाम की रीति से संबद्ध करने का प्रयत्न किया है। राज-वधुएँ शिविकाओं पर आरूढ़ होकर जाती थीं। परिचारिकाएँ चँवर चलाती थीं। वे देशों से

नूपुर तथा हाथों में चूड़ी धारण करती थीं। समूह में चलती हुई परिचारिकाओं के नूपुरों और चूड़ियों के क्वणन-रव से एक मोहक संगीत की सृष्टि हो जाती थी। निम्नलिखित वर्णन से परिचारिकाओं की औत्सविक साज-सज्जा का परिचय मिल सकता है—

'जब नगर में पहुँचा तो बड़ी धूमधाम देखी। कूर्मपृष्ठ के समान उन्नतोदर राजमार्ग पर एक बड़ा भारी जुलूस चला जा रहा था। उसमें स्त्रियों की संख्या ही अधिक थी। राजवधुएँ बहुमूल्य शिविकाओं पर आरूढ़ थीं। साथ-साथ चलने वाली परिचारिकाओं के चरण विकटनर्तित नूपुरों के क्वणनाद से दिगन्त ध्वन्यमान हो उठा था। वेगपूर्वक भुजलताओं के उत्तोलन के कारण मणिखचित चूड़ियाँ चंचल हो उठी थीं। इस से मधुलताएँ भी झंकार करने लगी थीं। उनकी ऊपर उठी हथेलियों के देखने से ऐसा लगता था मानों आकाश-गंगा में खिली हुई कमलिनियाँ हवा के झोंकों से विघूर्णित होकर नीचे उतर आई हों। भीड़ के संघर्ष से उनके कानोंके पल्लव खिसक रहे थे। वे एक दूसरी से टकरा जाती थीं। इस प्रकार एक का केयूर दूसरी की चादर में लग कर उसे खरोंच डालता था। पसीने से घुल-घुलकर अंगराग उनके चीनांशुकों को रंग रहे थे। साथ में नर्तकियों का भी एक दल जा रहा था। उनके हँसते हुए वदनों को देख कर ऐसा भान होता था कि कोई प्रस्फुटित कुसुमों का वन चला जा रहा है। उनकी चंचल हार-लताएँ जोर-जोर से हिलती हुई उनके वक्षोभाग से टकरा रही थीं झुकी हुई केशराशि सिन्दूर-बिन्दु पर अटक जाती थी। निरंतर गुलाल और अबीर के उड़ते रहने के कारण उनके केश पिंगल वर्ण के हो उठे थे और उनके मनोरम गान से सारा राजमार्ग प्रतिध्वनित हो उठा था।' १

यह जुलूस राजमार्ग पर चला जा रहा था। राजकन्याएं राजवधुओं के पीछे, जुलूस के मध्य में थीं। जिस प्रकार जुलूस के एक भाग में बौने, कुबड़े, बधिर, षंढ और मूर्ख लोग उन्मत्त नृत्य से विह्वल होकर नाचे जा रहे थे उसी प्रकार राजकन्याओं के साथ भी नृत्य-गान का आयोजन था किन्तु वह उन्मत्त एवं असंयत नहीं था। इसमें संयम, पवित्रता और मनोहारिता थी। राजकन्याएं शिविकाओं में चली जा रही थीं। जुलूस के पीछे के भाग में राजा के चारण और बन्दी लोग विरुद-गान करते हुए जा रहे थे।२

सामाजिक उत्सवों का दूसरा रूप मदनोत्सव, होलिकोत्सव आदि में मिलता है। इस समय भी नृत्य, गीत, वाद्य आदि के आयोजन किये जाते थे। नगर के सब लोग आनन्द-निमग्न होकर उत्सव मनाते थे। स्त्री-पुरुष बाल-वृद्ध आदि सभी लोग इस अवसर पर एकत्र होते थे। ऐसे उत्सवों का आयोजन राजमार्ग पर होता था। मर्दल, वेणु, झल्लरी, कांस्य कोशी, तन्त्री पटह, अलाबु-वीणा आदि की मनोरम ध्वनि से वारविलासिनियों के नृत्य अद्भुत आकर्षक हो जाते थे।

---

१ बा० आ० क०, पृ० १२।

२ तुलना कीजिये कादम्बरी शुकनास-पुत्रोत्सव-कालीन यात्रा-वर्णन।

दूसरे प्रकार के उत्सव धार्मिक होते थे। वे बौद्ध, वैष्णव या शैव धर्म से स
बित होते थे। इन उत्सवों की वेष-भूषा इतर उत्सवों के समय की वेष-भूषा से भिन्न हो
थी। बौद्ध-उत्सवों पर वेष-भूषा बिल्कुल भिन्न होती थी। बौद्धोत्सवों में बुद्ध-जन्मोत्
प्रधान था। यह वैशाखी-पूर्णिमा को मनाया जाता था। इसी दिन तथागत ने ज
ग्रहण किया था और इसी दिन निर्वाण प्राप्त किया था। हर्ष की राजधानी में—
नरपति के नगर में तो यह उत्सव और भी धूमधाम से मनाया जाता था। निम्न
खित वर्णन से उत्सव का एक सूक्ष्म चित्र पाठक के सामने आ सकता है—

'वीथियाँ सुगन्धि से सिक्त थीं और भवनों में मंगल-पताकाएं सुशोभित
रही थीं राजमार्ग की ओर के सभी वातायन मालती-दाम से अलंकृत हो रहे थे और प
जन नवीन वस्त्र-भूषा से सुसज्जित थे।" XXX 'राजमार्ग श्वेत वस्त्रधारी नागरिकों
पूर्ण था। उनके वस्त्र उष्णीष अङ्गराग और माल्य सभी श्वेत थे। ऐसा जान पा
था सब लोगों ने रजत-धारा में स्नान किया है।' 'विहार सबके लिए खुला था, [illegible]
भी बहुत थोड़े लोग भीतर जाने का साहस कर रहे थे। सभास्थल में भिक्षुओं का आधि
था। गृहस्थों में स्वयं महाराज और उनके कई निकटवर्ती पदाधिकारी समासीन
महाराज के शरीर पर कोई उत्तरीय भी नहीं था। सारा शरीर शौभिक अङ्गराग
उपलिप्त था और भुजमूल में केयूर और हृदय में एक मौक्तिक-हार के सिवा और
भी अलंकार उन्होंने नहीं धारण किया था। वे बहुत शान्तमनोरम दिखाई दे रहे
आचार्य के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी, और आचार्य भी अत्यन्त स्नेहपूर्वक उनकी
देख रहे थे। सब मिलाकर वहाँ सब सहस्र व्यक्ति बैठे हुए थे। आधे तो भिक्षु थे
आधे में महाराजाधिराज के सामन्त और अन्तःपुर की देवियाँ थीं। एक महीन [illegible]
स्करिणी (पर्दे) के पीछे देवियों का आसन था।'[1]

धार्मिक और सामाजिक उत्सवों के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार के समारोह
हुआ करते थे। इनका आयोजन किसी विशेष व्यक्ति के अभिनन्दन या स्वागत के [illegible]
किया जाता था। ऐसे अवसरों पर उन्मुक्त विलास को शिष्टाचार की मर्यादा में रखा ज
था। जिस प्रकार आज-कल किसी बड़े अधिकारी को पुलिस या फौज का 'गार्ड आफ आ
दिया जाता है उसी प्रकार उक्त उत्सवों पर सम्मान प्रदर्शित किया जाता था।
उत्सवों का रूप इस वर्णन से अवगत हो सकता है—

"इसी समय एक दासी ने आकर सूचना दी कि महासामन्त लोरिकदेव [illegible]
नी और अनुचरों के साथ द्वार पर खड़े हैं उनके हाथ में पूजा के उपकरण हैं, वे [illegible]
ज भट्टिनी के दर्शन का प्रसाद पाना चाहते हैं।"[2]

शत-शत कन्याओं के प्रवाह में एक विशाल जन-समूह नृत्य गान और [illegible]

1. बा० भा० क०, पृ० २१४
2. वही पृ० २११

से दिङ्मण्डल को मुखरित कर रहा था। सबके आगे घोड़े पर लोरिकदेव थे, उनके पीछे उसी प्रकार के घोड़ों पर मन्त्री और राजपुरोहित थे। उनके पीछे पालकी पर लोरिकदेव की रानी थीं। और भी पीछे मल्लों का एक विशाल यूथ था। वे नाना भाव से व्यायाम कौशल प्रदर्शन कर रहे थे। XXX एक ही साथ सैकड़ों मल्ल नाना अस्त्रों से सुसज्जित होकर विकट भंगिमाओं से अंग मोटन, नाटन उन्मोटन, विकुंचन और संतोलन की क्रिया दिखा रहे थे। उनके अविरल तालोद्घट्टन से रह-रह कर दिगन्त चटचटा उठते थे बाहुआस्फोटन और पट्टिकाओं की झनझनाहट से शून्य प्रकम्पित हो उठता था, उद्दाम अंग-विकुंचन से दर्शकों की आँखें चौंधिया जाती थीं, बार-बार ऐसा मालूम होता था कि एक का अंग मोटन दूसरे के विकुंचन से उलझ जायेगा। पर आश्चर्य तब होता था जब यह सारा सन्धिहीन विशृंखल व्यायाम-व्यापार एक ही साथ बन्द हो जाता था समस्त मल्ल युगपत् उपस्थित होकर एक अद्भुत विरति-निनाद करते थे और क्षणभर में जन-समूह के इस सिरे से उस सिरे तक देवपुत्र तुवरमिलिन्द का जय-निर्घोष भट्टिनी को प्रकम्पित कर देता था। भट्टिनी के हुङ्कार पर मल्लों का दल अपने व्यायाम में ज्यों का त्यों लगा रहने पर भी विचित्र संयम के साथ धनु आकार खड़ा हो गया और बीच में स्त्री-पुरुषों के पचासों घोड़े उसी के समानान्तर धनुराकार फैल गये। उनके हाथ में छोटे-छोटे काष्ठ-खण्ड थे। लोरिकदेव घोड़े से उतर पड़े। साथ ही मन्त्री और पुरोहित भी उतर पड़े।

भट्टिनी के आते ही लोरिकदेव ने तलवार खींचकर अभिवादन किया। साथ ही पुरोहित ने शङ्ख-ध्वनि की। देखते-देखते देवपुत्र-नन्दिनी के जय-निनाद से दिगन्त काँपने लगीXXX। इसी समय लोरिकदेव ने अपनी बत्तीस अंगुलों की विशाल असि को ऊपर उठाया। देखते-देखते मल्लों की लाठियाँ कड़ाकड़ उठीं। XXX पट्टिकाचक्र न सिमटता गया। एक बार तो वह इतना छोटा हो गया कि लाठियों के सिवा और कुछ दिखाई ही नहीं देता था। XXX लाठियों के दो मंच बन गये। कुमारियों ने शृङ्गार-रस से सरोवर त्रिपदीखण्ड का गान गाया। XXX कुमारी-कंठ की सुरीली-तान बहुत मीठी लग रही थी। XX यह नृत्य-कौशल विचित्र था। कुमारियों ने विचित्र सुकुमार भंगिमा से भट्टिनी को घेर लिया। अत्यन्त लघु आयास से उन्हें उठाया और आगे वाले यष्टिमंच पर बैठा दिया। फिर विकट रासक नृत्य चलने लगा।

'भट्टिनी के पीछे वाले मंच पर लोरिकदेव और उनकी रानी समासीन हुईं। एक बार फिर वह नृत्य रुका। पुरोहित ने शंख-ध्वनि की और मन्त्री ने धूप-दीप-नैवेद्य के साथ भट्टिनी को अर्घ्य दिया। लोरिकदेव ने रजत के मनोरम थाल में नारिकेल पूगी-फल और ताम्बूलपत्र भट्टिनी को निवेदन किया।'X

Xबाणभट्ट की आत्मकथा पृ २१६-२८

सामाजिक और धार्मिक उत्सवों एवं समारोहों के वर्णनों के साथ-साथ लेखक ने प्रकृतिवर्णनों में भी बड़े कौशल का परिचय दिया है। यह ठीक है कि प्रकृति-वर्णनों में लेखक ने कादम्बरी हर्षचरित आदि संस्कृत-ग्रन्थों से बड़ी सहायता ली है, किन्तु इन वर्णनों के अनुवाद-सौन्दर्य में भी अपनी विशेषता है बिलकुल उसी प्रकार जिस प्रकार वर्णन-व्यवस्था में। उपयुक्त स्थल देखकर कथा-प्रवाह में उसको 'फिट' करना बड़े महत्त्व की बात है। प्रभात मध्याह्न संध्या, निशा उषा ज्योत्सना आदि वर्णनों के साथ-साथ वन नदी उद्यान पर्वत लता वृक्ष फूल फल आदि के वर्णन भी बड़े आकर्षक हैं। जिस प्रकार उत्सवों के साथ बसन्त ग्रीष्म शीत आदि ऋतुओं के वर्णन भी टँके हुए हैं उसी प्रकार सामाजिक और धार्मिक वर्णनों के साथ नगर, ग्राम आश्रम मार्ग उत्सव मंदिर, पुरुष नारी आदि के वर्णन भी संमिलित हैं। इन वर्णनों के संबंध से वृक्ष फूल, फल लता, वस्त्र वेश पशु, रीति-रिवाज आदि अनेक बातों का परिचय देकर लेखक ने रोमांस में काव्य-सौन्दर्य भर दिया है।

इन आयोजनों से राजा-प्रजा का सम्बन्ध गुरु-शिष्य का भाव आतिथ्य-सत्कार, मदिरा का महत्त्व और दुरुपयोग, नृत्य वाद्य संगीत आदि के अनेक भेद अपभ्रंश भाषा के गीतों का प्रचार, दीनार सिक्के का प्रचलन यात्रा के अनेक साधन काव्य का स्थान कवियों का पद कला का गौरव सूचना देने की पद्धति धर्म-निष्ठा शौर्य नारी-पद शिष्टाचार उद्योगपतियों राजसभा का शिष्टाचार, समाज-सौधीस्य, बन्दीशाला आदि अनेक बातें पाठक के सामने आजाती हैं।

इस समय समाज में विश्रृंखलन पैदा हो गया था। उसका कारण देश की भेद नीति तो थी ही साथ ही विदेशियों का आक्रमण भी था। धर्म और समाज के टुकड़े देश की दुर्बलता के प्रतीक थे। धर्म भेद ने समाज में उत्कट भेद-भाव पैदा कर दिया था। महाराज हर्षवर्धन तक धर्म के फेर में पड़कर एक विचित्र परिस्थिति का सामना कर रहे थे। देश की शक्ति क्षीण हो रही थी। वृद्धों, बालकों बेटियों, बहुओं, देव मन्दिरों और विहारों की रक्षा की शक्ति देश के नौजवानों में कुंठित हो गई थी। विप्रों में स्वतन्त्र चयन-बुद्धि का तिरोभाव-सा लगता था। उत्तरापथ में खास-खास निरीह बहुओं और बेटियों के अपहरण और विक्रय का व्यवसाय चल रहा था। स्त्रियाँ अपमानित लांछित और अकारण दंडित होती थीं और इस घृणित व्यवसाय के प्रधान आश्रय सामन्तों और राजाओं के अन्तःपुर थे।

राजपरिवार के प्रति क्षोभ की भावना ने पनपना आरम्भ कर दिया था। अतएव देश के लोगों में बड़े बड़े उपदेशक शान्ति की धाम बसाने का उपक्रम कर रहे थे। वे उन्हें राजा से भयभीत न होने के लिए जगा रहे थे। आश्रित सामन्तों की भाँति अनेक महाराजा ने अपना कर्तव्य बना लिया था किन्तु उनके कुकर्मों और अत्याचारों की ओर से उन्होंने लोचन बन्द कर लिये थे। राजाओं के ऐसे आचरण के पीछे अन्याय की परम्परा

से दिङ्मण्डल को मुखरित कर रहा था। सबके आगे घोड़े पर लोरिकदेव थे उनके पीछे उसी प्रकार के घोड़ों पर मन्त्री और राजपुरोहित थे। उनके पीछे पालकी पर लोरिकदेव की रानी थीं। और भी पीछे मल्लों का एक विशाल यूथ था। वे नाना भाव से व्यायाम कौशल-प्रदर्शन कर रहे थे। XXX एक ही साथ सैकड़ों मल्ल नाना शस्त्रों से सुसज्जित होकर विकट भंगिमाओं से अंग-मोटन आटन उन्मोटन विकुंचन और संतोलन की क्रिया दिखा रहे थे। उनके अविरत तालोद्घट्टन से रह-रह कर दिगन्त चटचटा उठते थे, अट्टहास्य और अट्टकोलियों की झनझनाहट से शून्य प्रकम्पित हो उठता था उद्दाम अंग-विकुंचन से दर्शकों की आँखें चौंधिया जाती थीं बार-बार ऐसा मालूम होता था कि एक का अंग-मोटन दूसरे के विकुंचन से उलझ जायेगा। पर आश्चर्य तब होता था जब यह सारा छन्दोहीन विशृङ्खल व्यायाम-व्यापार एक ही साथ बन्द हो जाता था समस्त मल्ल युगपद् उत्तम्भित होकर एक अद्भुत विरति-विनाद करते थे और क्षणभर में जन-समूह के इस सिरे से उस सिरे तक वेगपूर्ण तुमुलनिनाद का जय-निर्घोष भट्टिनी को प्रकम्पित कर देता था। भट्टिनी के पुरद्वार पर मल्लों का दल अपने व्यायाम ने ज्यों का त्यों लगा रहने पर भी विचित्र संयम के साथ ऋजु लाकार खड़ा हो गया और बीच में स्त्री-पुरुषों के पचासों घोड़े उसी के समानान्तर ऋजु साकार खड़े हो गये। उनके हाथ में छोटे-छोटे काष्ठ-खण्ड थे। लोरिकदेव घोड़े से उतर गये। साथ ही मन्त्री और पुरोहित भी उतर गये।

"भट्टिनी के आते ही लोरिकदेव ने तलवार खींचकर अभिवादन किया। साथ ही पुरोहित ने शंख-ध्वनि की। देखते-देखते वेगपूर्ण नंदिनी के जय-निनाद से दिशाएं काँपने लगीं XXX। इसी समय लोरिकदेव ने अपनी बत्तीस अंगुलों की विशाल असि को ऊपर उठाया। देखते-देखते मल्लों की लाठियाँ खड़ाखड़ उठीं। XXX अट्टिकावनु न सिमट्टा गया। एक बार तो वह इतना घोर हो गया कि लाठियों के सिवा और कुछ दिखाई ही नहीं देता था। XXX लाठियों के दो मण्डप बन गये। कुमारियों ने मधु पार-रव से सरोवर त्रिपदीखण्ड का गान गाया। XXX कुमारी-कंठ की सुरीली-तान बहुत मीठी लग रही थी। XX यह नृत्य-कौशल विचित्र था। कुमारियों ने विचित्र सुकुमार भंगिमा से भट्टिनी को घेर लिया। अत्यन्त लघु आभास से उन्हें उठाया और आगे वाले यष्टिमंच पर बैठा दिया। फिर विकट रासक नृत्य चलने लगा।

"भट्टिनी के पीछे वाले मंच पर लोरिकदेव और उनकी रानी समासीन हुईं। एक बार फिर वह नृत्य रुका। पुरोहित ने शंख-ध्वनि की और मन्त्री ने धूप-दीप-नैवेद्य के साथ भट्टिनी को अर्घ्य दिया। लोरिकदेव ने रजत के मनोरम थाल में नारिकेल पूगी फल और तांबूलपत्र भट्टिनी को निवेदन किया।"X

Xबाणभट्ट की आत्मकथा पृ० २९१-९८

सामाजिक और धार्मिक उत्सवों एवं समारोहों के वर्णनों के साथ-साथ लेखक ने प्रकृति-वर्णन में भी बड़े कौशल का परिचय दिया है। यह ठीक है कि प्रकृति-वर्णनों में लेखक ने कादम्बरी, हर्षचरित आदि संस्कृत-ग्रन्थों से बड़ी सहायता ली है, किन्तु इन वर्णनों के अनुवाद-सौन्दर्य में भी अपनी विशेषता है, बिलकुल उसी प्रकार जिस प्रकार वर्णन-व्यवस्था में। उपयुक्त स्थल देखकर कथा-प्रवाह में उसको 'फिट' करना बड़े महत्त्व की बात है। प्रभात मध्याह्न सन्ध्या निशा तथा ज्योत्स्ना आदि वर्णनों के साथ-साथ वन नदी उद्यान पर्वत लता वृक्ष फूल फल आदि के वर्णन भी बड़े आकर्षक हैं। जिस प्रकार उत्सवों के साथ वसन्त, ग्रीष्म शीत आदि ऋतुओं के वर्णन भी टँके हुए हैं, उसी प्रकार सामाजिक और धार्मिक वर्णनों के साथ नगर, ग्राम आश्रम मार्ग उत्सव मन्दिर, पुरुष नारी आदि के वर्णन भी संनिहित हैं। इन वर्णनों के माध्यम से वृक्ष फूल फल लता, वस्त्र वेश पशु रीति-रिवाज आदि अनेक बातों का परिचय देकर लेखक ने रोमांस में काव्य-सौन्दर्य भर दिया है।

इन आयोजनों से राजा-प्रजा का सम्बन्ध गुरु-शिष्य का भाव आतिथ्य-सत्कार, मदिरा का महत्त्व और दुरुपयोग, नृत्य, वाद्य संगीत आदि के अनेक भेद, अपभ्रंश भाषा के गीतों का प्रचार, दीनार सिक्के का प्रचलन यात्रा के अनेक साधन काव्य का स्थान, कवियों का पद कला का गौरव सूचना देने की पद्धति वर्ण-निष्ठा, भोज्य नारी-पद शिष्टाचार सम्बोधनशैलियाँ राजसभा का शिष्टाचार, समाज-सौहार्द्य धर्मशाला आदि अनेक बातें पाठक के सामने आ जाती हैं।

इस समय समाज में विघटन पैदा हो गया था। उसका कारण देश की भेद नीति तो था ही, साथ ही विदेशियों का आक्रमण भी था। धर्म और समाज के टुकड़े देश की दुर्बलता के प्रतीक थे। धर्म भेद ने समाज में उत्कट भेद भाव पैदा कर दिया था। महाराज हर्षवर्धन एक धर्म के फेर में पड़कर एक विचित्र परिस्थिति का सामना कर रहे थे। देश की शक्ति क्षीण हो रही थी। पूजों, बालकों, देवियों भक्तों, देव मन्दिरों और विहारों की रक्षा की शक्ति देश के नौजवानों में कुंठित हो गई थी। विद्वानों ने स्वतन्त्र संघटन-बुद्धि का तिरोभाव-सा समझा था। उत्तरापथ में चारों-ओर विद्रोह बाहुओं और देवियों के अपहरण और विक्रय का व्यवसाय चल रहा था। जिसमें [illegible] लांछित और एकान्त रक्षित होते थे और इस दुर्निवार व्यवसाय के प्रधान धारक सामन्त और राजाओं के अन्तःपुर थे।

राजपरिवार के प्रति क्षोभ की भावना ने पनपना प्रारम्भ कर दिया था। [illegible] देश के लोगों में बड़े बड़े उत्तेजक क्रान्ति की भावना उत्पन्न का [illegible] कर रहे थे। वे उन्हें राजा से भयभीत न होने का निर्देश दे रहे थे। [illegible] महाराजा ने अपना सर्वस्व दान दिया था - किन्तु [illegible] उन्होंने शोषण बन्द कर दिये थे। राजाओं के ऐसे [illegible]

रही है। यह पहला अन्याय नहीं था, अन्तिम भी नहीं था। यह दुर्वह सम्पत्ति का विपरिवर्तित रूप था। इसके लिए न्याय की भावना को व्यर्थ बतलाया जा रहा था। धर्म की रक्षा के लिए अपने को मिटा देने की भावना और संकल्प की आवश्यकता थी। अतएव अनुनय-विनय एवं शास्त्र-वाक्यों की संगति लगाने की बात को धर्म-रक्षा में व्यर्थ बतलाया जा रहा था। लोग मान-मर्यादा की ओर से उदासीन हो बैठे थे वे राजाओं, राजपुत्रों और देवपुत्रों की माया पर निश्चेष्ट बने हुए थे। प्रजा में मृत्यु का भय छा गया था, जो एक अशुभ लक्षण था।

वे लोग भूल चले थे कि धर्म के लिए प्राणों की भी आवश्यकता हो सकती है। धर्म के लिए प्राण देना किसी जाति का पेशा नहीं है। यह मनुष्य-मात्र का उत्तम लक्ष्य है। लोगों को न्याय की चिन्ता नहीं रही थी। वे उसे किसी भी स्थान से बलपूर्वक छीन लाने के लिए समर्थ नहीं थे। वे भूल गये थे कि न्याय पाना मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है और उसे न माँगना अधर्म है।

राजाओं, महाराजाओं और सामन्तों को स्वार्थ अपना गुलाम बना रहा था। प्रजा भीरु और कायर होती जा रही थी विद्वान् और धीमान् नागरिकों की बुद्धि कुण्ठित हो रही थी। धर्माचरण में व्याघात उपस्थित होने का प्रमुख कारण यह था कि राजा अन्धा था, प्रजा अन्धी थी और विद्वान् अन्धे थे। ब्राह्मणों और श्रमणों के बीच की एकता छिन्न-भिन्न हो गई थी और समाज में राजपुत्रों की वेतन-भोगी सेना को रक्षा का साधन मान रखा था।[1] इस समय प्रजा में असन्तोष छा रहा था।[2]

नगरों में विलास रसिकों की संख्या बढ़ती जा रही थी। उनका अन्यायानुरोध न कर सकने से ऐसे लोग अनेक स्त्रियों के विषय में अपवाद फैला देते थे। बौद्ध धर्म और सनातन धर्म में बड़े कूट दाव-पेचों का प्रयोग किया जाता था। इन धर्मों ने मानों मनुष्य की चिन्ता छोड़ दी थी। धर्म-गुरुओं को अपने-अपने मत का डिंडिम पीटना ही अभिप्रेत था। एक धर्म के साथ राजा था और दूसरे के साथ प्रजा थी। थोथे-से पण्डित-मानी व्यक्तियों की ईर्ष्याग्नि में, प्रजा ही नहीं, राजा भी जल रहा था और समूचा आर्यावर्त उस ज्वाला के तट पर खड़ा था।

आर्यावर्त के समाज में अनेक स्तर हो गये थे। प्रबल प्रतापी गुप्त नरपतियों ने इस मिथ्या समाज-भेद के साथ उदात्त भावनाओं का समन्वय करना चाहा था। यह जमती थी। देश में आभीरों ने प्रभूत शक्ति संचित करली थी। उनमें किसी स्तर-भेद के लिए अवकाश नहीं दिया गया था।

सामन्त लोग अपनी-अपनी शक्ति के बढ़ाने के उपायों में संलग्न थे। भारतवर्ष

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० २१६-२८।
२ वही, पृ० [illegible]

के समाज में सहस्रों जाति-भेद दृष्टिगोचर हो रहे थे। जो ऊँचे थे वे बहुत ऊँचे थे और जो नीचे थे उनकी निचाई का भी कोई पारावार नहीं था। उनकी स्त्रियों में रानी से लेकर परिचारिका तक के और गणिका से लेकर वारविलासिनी तक के सैकड़ों भेद नहीं थे। वे सब रानी भी सब परिचारिका थीं। उस समय भी निकृष्ट सामाजिक जटिलता के हटाने की आवश्यकता की प्रतीति हो रही थी।

निम्न वर्ग के लोगों की दृष्टि में ब्राह्मण अब भी देवता थे। वृद्ध महिला के ये वाक्य इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं—

"तुम ब्राह्मण हो आर्य पृथ्वी के देवता हो आर्य, तुम्हारे आशीर्वाद से मेरा कल्याण होगा।"[1]

फिर भी ब्राह्मण की कलई खुल चुकी थी। उसे डरपोक मिथ्याचारी दंभी पाखण्डी प्रपञ्ची आदि अनेक विशेषण भी प्राप्त हो चुके थे।[2]

इस समय वेश्या नारी-कमक थी। समाज में उसकी कला की तो प्रशंसा होती थी किन्तु वह स्वयं सम्मानित नहीं होती थी। उसका आवास बहुत सुन्दर होता था। गीत संगीत नृत्य के अतिरिक्त वह चित्रकला में भी प्रवीण होती थी। वह नाटकों में अभिनय भी करती थी। कुछ वेश्याओं को राज्य-प्रश्रय भी मिलता था और उत्सवों के अवसर पर वह प्रासादों की शोभा बढ़ाती थी।

गुरु प्रायः धर्मगुरु के रूप में ही प्रसिद्ध थे। धर्मगुरुओं का उस समय बड़ा ही आदर होता था। भारत में गुरु का आदर बहुत पुराने समय से होता आ रहा था। आध्यात्मक साधनाओं के विकास ने गुरु के महत्त्व को और भी बढ़ा दिया था।

उस समय दो प्रकार के काव्यों की परम्परा थी—देव-काव्य और नर-काव्य। नर काव्य भी दो प्रकार का माना जाता था—मृत व्यक्तियों से सम्बन्धित तथा जीवित व्यक्तियों से सबंधित। जीवित व्यक्तियों से संबंधित काव्य को अशुभ समझा जाता था।

कवियों की वेश-भूषा तथा चरित्र कुछ और ही होती थी। पावक और बाण के वर्णन से उसका पता चल सकता है। "पावक चटुल बीभत्स परिहास का रूप बना हुआ था। चन्दन के अनुलेप से उपलिप्त उसके वक्षस्थल पर मालती-दाम सुशोभित हो रहा था, कुसुमों में मधुना का मनोहर कलाप बड़ी सुकुमार भंगी से सजा हुआ था और सँवारे हुए पुष्पित केशों के पिछले भाग में दुर्लभ जाती-कुसुमों का गुच्छ बड़ा ही अभिराम दिखाई दे रहा था। पान खाने में उसने बड़ी निर्दयता का परिचय दिया था, न मुँह पर ही उसने दया दिखाई थी और न ताम्बूल-पत्रों पर ही। परन्तु पान के इतने पत्ते मिल कर भी उसका आरोप नहीं कर सके थे। वह मुँह को ऊपर उठा कर अधरोष्ठ को

---

१ पा० ता० क० पृ० ८९।

२. पा० ता० क०, पृ० १९–२०।

रही है। यह सहसा अन्याय नहीं था, अन्तिम भी नहीं था। यह दुर्वह सम्पत्ति का विरा-
चरित रूप था। इसके लिए न्याय की भावना को व्यर्थ बतलाया जा रहा था। धर्म की
रक्षा के लिए अपने को मिटा देने की भावना और संकल्प की आवश्यकता थी। अतएव
अनुनय-विनय एवं शास्त्र-वाक्यों की संगति लगाने की बात को धर्म-रक्षा में व्यर्थ बत-
लाया जा रहा था। लोग मान-मर्यादा की ओर से उदासीन हो बैठे थे। वे राजाओं, राज-
पुत्रों और देवपुत्रों की आशा पर निश्चेष्ट बने हुए थे। प्रजा में मृत्यु का भय छा गया था,
जो एक अशुभ लक्षण था।

वे लोग भूल गये थे कि धर्म के लिए प्राणों की भी आवश्यकता हो सकती है। धर्म के लिए प्राण देना किसी जाति का पेशा नहीं है। यह मनुष्य-मात्र का उत्तम लक्ष्य है। लोगों को न्याय की चिन्ता नहीं रही थी। वे उसे किसी भी स्थान से बलपूर्वक खोज लाने के लिए समर्थ नहीं थे। वे भूल गये थे कि न्याय पाना मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है और उसे न पाना अधर्म है।

राजाओं महाराजाओं और सामन्तों को स्वार्थ अपना गुलाम बना रहा था। प्रजा भीरु और कायर होती जा रही थी विद्वान् और शीलवान् नागरिकों की बुद्धि कुण्ठित हो रही थी। धर्माचरण में व्याघात उपस्थित होने का प्रमुख कारण यह था कि राजा अन्धा था प्रजा अन्धी थी और विद्वान् अन्धे थे। ब्राह्मणों और सामन्तों के बीच की एकता बिल्कुल खत्म हो गई थी और समाज ने राजपुत्रों की वेतन-भोगी सेना को रक्षा का साधन मान रखा था।[१] इस समय प्रजा में असन्तोष छा रहा था।[२]

नगरों में विदग्ध रसिकों की संख्या बढ़ती जा रही थी। उनका कन्यानुरोध न कर सकने से ऐसे लोग अनेक स्त्रियों के विषय में अपवाद फैला देते थे। बौद्ध धर्म और सनातन धर्म में बड़े कूट दाव-पेचों का प्रयोग किया जाता था। इन धर्मों ने मानों मनुष्य की जिह्वा खींच ली थी। धर्म-गुरुओं को अपने-अपने मत का डिंडिम पीटना ही अभिप्रेत था। एक धर्म के साथ राजा था और दूसरे के साथ प्रजा थी। दोनों-से पण्डित-मानी व्यक्तियों की ईर्ष्याग्नि में, प्रजा ही नहीं, राजा भी जल रहा था और समूचा आर्यावर्त उस ज्वाला के तट पर खड़ा था।

आर्यावर्त के समाज में अनेक स्तर हो गये थे। प्रबल प्रतापी गुप्त नरपतियों ने इस मिथ्या समाज-भेद के साथ उदात्त भावनाओं का समन्वय करना चाहा था। यह जनता थी। देश में आभीरों ने प्रभूत शक्ति संचित करली थी। उनमें किसी स्तर भेद के लिए अवकाश नहीं दिया गया था।

सामन्त लोग अपनी-अपनी शक्ति के बढ़ाने के उपायों में संलग्न थे। भारतवर्ष

---

१ बाणभट्ट की आत्मकथा, पृ० २६१-६९।
२ वही पृ० २८१

के समाज में सहस्रों जाति-भेद दृष्टिगोचर हो रहे थे। जो ऊँचे थे वे बहुत ऊँचे थे और जो नीचे थे उनकी निचाई का भी कोई पारावार नहीं था। उनकी स्त्रियों में रानी से लेकर परिचारिका तक के और महिला से लेकर वारविलासिनी तक के सैकड़ों भेद नहीं थे। वे सब रानी भी सब परिचारिका थीं। उस समय भी निकृष्ट सामाजिक जटिलता के हटाने की आवश्यकता की प्रतीति हो रही थी।

निम्न वर्ण के लोगों की दृष्टि में ब्राह्मण अब भी देवता थे। वृद्ध महिला के ये वाक्य इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं—

'तुम ब्राह्मण हो आर्य, पृथ्वी के देवता हो आर्य, तुम्हारे आशीर्वाद से मेरा कल्याण होगा।' १

फिर भी ब्राह्मण की कलई खुल चुकी थी। उसे डरपोक मिथ्याचारी, दंभी, पाखण्डी प्रपञ्ची आदि अनेक विशेषण भी प्राप्त हो चुके थे।२

इस समय वेश्या नारी-कलंक थी। समाज में उसकी कला की तो प्रशंसा होती थी किन्तु वह स्वयं सम्मानित नहीं होती थी। उसका आवास बहुत सुन्दर होता था। गीत संगीत नृत्य के अतिरिक्त वह चित्रकला में भी प्रवीण होती थी। वह नाटकों में अभिनय भी करती थी। कुछ वेश्याओं को राज्य-प्रश्रय भी मिलता था और उत्सवों के अवसर पर वह प्रासादों की शोभा बढ़ाती थी।

गुरु प्रायः धर्मगुरु के रूप में ही प्रसिद्ध थे। धर्मगुरुओं का उस समय बड़ा ही आदर होता था। भारत में गुरु का आदर बहुत पुराने समय से होता आ रहा था। रहस्यात्मक साधनाओं के विकास ने गुरु के महत्व को और भी बढ़ा दिया था।

उस समय दो प्रकार के काव्यों की परम्परा थी—देव-काव्य और नर-काव्य। नर काव्य भी दो प्रकार का माना जाता था—मृत व्यक्तियों से सम्बन्धित तथा जीवित व्यक्तियों से संबंधित। जीवित व्यक्तियों से संबंधित काव्य को प्रमुख समझा जाता था।

कवियों की वेश-भूषा तथा रहन सहन कुछ और ही होती थी। धावक और बाण के वर्णन से उसका पता चल सकता है। "धावक बहुत कीमती परिहास का रूप बना हुआ था। चन्दन के अंगराग से उपलिप्त उसके वक्षःस्थल पर मालती-दाम सुशोभित हो रहा था। भुजमूलों में अगुरु का मनोहर वलय बड़ी सुकुमार भंगी से सजा हुआ था और सँवारे हुए धूपित केशों के पिछले भाग में दुर्लभ जाती-कुसुमों का गुम्फ बड़ा ही मनोरम दिखाई दे रहा था। पान खाने में उसने बड़ी निर्दयता का परिचय दिया था, न मुँह पर ही उसने दया दिखाई थी और न ताम्बूल-पत्रों पर ही। परन्तु पान के इतने पत्ते मिल कर भी उसका बाग्रोप नहीं कर सके थे। वह मुँह को ऊपर उठा कर अधरोष्ठ को

१ बा० आ० क० पृ० ८१।
२. बा० आ० क० पृ० ११–२०।

माकाश के समानान्तर करके बोल रहा था परन्तु फिर भी निर्बाध अनर्गल कवित्व-धारा इस प्रकार बरस रही थी मानों कोई धर्म-मुख धारायन्त्र (फव्वारा) हो।' १ 'भावक का वही मस्त चोला वही सदा प्रफुल्ल मुख, वही फहराता मनचैली छवि। ×× भावक ने बाहुमूल कण्ठदेश और चूड़ा में जमकर मालती दाम का व्यवहार किया है। कस्तूरिका धूपित उत्तरीय के साथ जाती-कुसुमों के मिश्रित आमोद से भावक ने अपने इर्द-गिर्द एक मद्भुत सुगन्धित वातावरण तैयार कर लिया था।"२ बाणभट्ट की वेश-भूषा३ से भी कवियों के वेश का संकेत मिल सकता है। कवियों का वेश आज भी निराला ही है।

ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में वेश-भूषाओं के भी वर्ग थे। बारनारियों या वेश्याओं की वेश-भूषा किसी भी कुल-नारी से भिन्न होती थी। उसी प्रकार आभीर नारी की वेश-भूषा राज-वधू की वेश-भूषा से भिन्न होती थी। बौद्धों का वेश अघोर पंथियों के वेश से भिन्न होता था। उसी प्रकार वैष्णव पुरुषों की वेश-भूषा भी अन्य धर्म-पुरुषों से भिन्न होती थी। देवी के पुजारियों का वेश भी अपने आप में प्रसिद्ध होता था।

वर्ग-भेद से खान-पान भी भिन्न होता था किन्तु कुछ की बनी हुई मिठाइयाँ सामान्य थीं। इस कृति में भोजनादि का वर्णन बहुत कम किया है। धर्मानुष्ठानों और उत्सवों के समय मदिरा-पान का उल्लेख आया है। कौलाचार और वामाचार में मदिरा धर्म-प्रतिष्ठित थी। उत्सवों के समय स्त्रियाँ भी मदिरा पीती थीं। मदिरा पीने वाली स्त्रियों में परिचारिकाओं का ही उल्लेख किया गया है।

नाच-गानों के आयोजन बड़े सामान्य थे। सामाजिक एवं धार्मिक उत्सवों पर *गीत संगीत और नृत्य के आयोजनों से उनके माधुर्य की वृद्धि की जाती थी।* राज-परिवारों में ऐसे आयोजन दैनिक चर्या में सम्मिलित थे। वेश्यावासों में भी ऐसे आयोजनों का प्रबन्ध होता था। उत्सवों पर भी दो प्रकार के आयोजन होते थे—सामान्य और विशेष। सामान्य आयोजनों के प्रबन्ध में सामान्य लोगों का हाथ होता था तथा विशेष आयोजन राजा के आदेश तथा प्रश्रय से होते थे।

लोक-गीतों की भाषा संस्कृत नहीं अपभ्रंश होती थी। अभी तक गीतों की पद पद्धति भली-भाँति विकसित नहीं हुई थी। फिर भी टेक की परम्परा गीतों में विकसित हो चली थी। इन गीतों को अनेक रागों में गाया जाता था। चर्चरी आदि अनेक राग *विकसित होचले थे।*

---

१ बा० आ० क०, पृ० २५६।

२. वही, पृ० १७०।

३ बा आ० क० पृ० १४—"शुक्ल म मराल धारण किया शुक्ल पुष्पों की माला धारण की धाशुल्क धुक्ल धौत उत्तरीय धारण किया यही मेरा प्रिय वेश था।

आयुर्वेद और ज्योतिष में जनता की रुचि ने अधिक प्रवेश पा लिया था। ज्योतिषी भविष्य को प्रकाशित करते थे भाग्य की अन्धी कोठरी का परिचय देते थे। उस समय सिद्धान्तों में जिन यावनी सिद्धान्तों को पैठ मिल गई थी उससे तत्कालीन ज्योतिष विद्या का स्वरूप कुछ का कुछ हो गया था। कर्म-फल और पुनर्जन्म सिद्धान्त का संबंध इस यावनी विद्या से बिल्कुल नहीं था, किन्तु उसके प्रभाव से भारतीय ग्रह-देवताओं ने वर्ण स्वभाव और लिङ्ग तक में अद्भुत विरोध स्वीकार कर लिया था। बाणभट्ट की इस उक्ति से इस परिवर्तन पर कुछ प्रकाश पड़ सकता है।

"इधर हाल ही में यवन लोगों ने जिस होराशास्त्र और प्रश्नशास्त्र नामक ज्योतिष विद्या का प्रचार इस देश में किया है, वह यावनी पुराण-गाथा के आधार पर रचा हुआ एक अटकलपच्चू विधान है। भारतीय विद्या ने जिस कर्म-फल और पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, उसके साथ इसका कोई मेल ही नहीं है। यहाँ तक कि हमारे पुराण-प्रथित ग्रह-देवताओं की जाति स्वभाव और लिंग तक में अद्भुत विरोध स्वीकार कर लिये गये हैं। हमारे पुराण-प्रसिद्ध शुक्र और चन्द्रमा इस ज्योतिष में स्त्री-ग्रह मान लिये गये हैं क्योंकि यवन-गाथाओं की वीनस और सिलीना देवियाँ हैं और वे ही इन ग्रहों की अधिष्ठात्री देवी मान ली गई हैं। ग्रह-मैत्री का तो अद्भुत विधान है। आर्ष-पुराण ग्रन्थों से इस मैत्री-क्रम का कोई समर्थन नहीं होता। इस विद्या ने देश के शिक्षित जन-समूह को खूब प्रभावित किया है और चोरे-चोरे यह विद्या कुसंस्कार के रूप में राजाओं और पंडितों में फैलती जाती है। सबसे आश्चर्य तो यह है कि भगवान् बुद्ध के प्रवर्तित सौगत-मार्ग में भी इसका प्राधान्य स्थापित हो गया है।"[1]

इससे स्पष्ट है कि यावनी ज्योतिष शास्त्र को पहले-पहल अशिक्षितों ने अपनाया फिर कुसंस्कार रूप यह विद्या राजाओं और पंडितों में भी फैलने का उपक्रम कर रही थी। स्त्रियों ने इसे अपनाया यही आश्चर्य की बात नहीं थी वरन् सौगत लोग भी इसे अपना रहे थे। ज्योतिष के योग से सामाजिकों का मन ऐसी आशंकाओं से पीड़ित हो सकता था— "ऊपर वृश्चिक राशि पश्चिमाकाश में ढलने जा रही थी। उसके पार्श्व में मंगल-ग्रह की लाल तारिका दिखाई दे रही थी। वृश्चिक की पीठ पर मंगल-ग्रह एक विचित्र भय का भाव पैदा कर रहा था, कैसा विचित्र योग है? तो क्या संहिताओं में जो कहा है कि वृश्चिक राशि पर मंगल के संक्रमण से धरित्री रक्तकर्दम से पिच्छिल हो उठेगी यह सत्य है?"[2]

आयुर्वेद भी जनता में बहुत लोकप्रिय बन गया था। आयुर्वेद के घरेलू इलाज बहुत लोकप्रिय हो गये थे। साधारण व्यक्ति भी कुछ उपचार कर सकता था। बाण का निपुणिका से सम्बन्धित उपचार इसी प्रकार का था।—

---

१ बा० आ० क० पृ० ११८–२१।

२ वही पृ० १००।

"भट्टिनी ने चतुरतापूर्वक मेरा ध्यान दूसरी ओर खींचा। मुझे वह औषध याद आई जिसे अपराजिता पुष्प के रस में मिलाकर निपुणिका को देने के लिए अवधूतपाद ने दिया था।"[1]

जल पथ दोनों पर यात्राएं होती थी। जल-यात्रा का एक मात्र साधन नौका थी (सागरों में पोतों से भी यात्राएं होती थीं)। स्थल पर यातायात के अनेक साधन थे। हाथी घोड़े शिविका पालकी आदि के उल्लेखों से यह न समझ लिया जावे कि रथादि का अभाव था। रथ-यात्रा का उल्लेख रथ के अस्तित्व को प्रमाणित करता है। संभवतः रथों में घोड़ों के स्थान पर बैलों का प्रयोग कभी इसी समय के आसपास हुआ हो। जब आभीरों और गुर्जरों के गो-पालन के कारण देश में बैलों की संख्या बढ़ी होगी तभी कभी उनका प्रयोग गाड़ी में भी किया गया होगा। वैसे बैल सवारी और लादने के काम में पहले से ही आता था।

लेखक ने नारी-समाज में जागृति दिखलाने का प्रयत्न किया है। अत्याचारों के विरुद्ध आवाज बुलन्द करने और देश की रक्षा में अपना योग देने के लिए महामाया आदि नारियों ने जो प्रयत्न दिखलाये हैं-वे-संभवतः (कहा नहीं जा सकता) लेखक की कल्पना से प्रसूत हैं। नारी के अबलापन से क्षुब्ध और उसकी दुर्दशा से विकल होकर सुधारवादी दृष्टिकोण सतर्क हो उठा प्रतीत होता है।

नारी की दशा उस समय भी बहुत अच्छी नहीं थी। धर्म की आड़ में नवयुवक तक अपनी नवयुवती पत्नियों का छोड़कर न जाने किन-किन वन-पर्वतों में भागते फिरते थे यह बात सुचरिता के चरित से स्पष्ट हो सकती है। कभी-कभी स्त्रियों को जीविका की खोज में घर छोड़ना पड़ता था। अवश्य ही मनुष्य के सामाजिक बन्धनों का इसमें कहीं बहुत बड़ा दोष था। अनेक दुखिया परित्यक्ताओं को ज्ञानमार्ग या भक्तिमार्ग के सिवा और कहाँ शरण थी? निपुणिका और सुचरिता की स्थिति कुछ ऐसी ही थी। वे धर्म के आश्रय में अपने मन को भुला देती थीं।

समाज में सामान्य और विशेष शिष्टाचार की कुछ प्रणालियाँ थीं जिनका अनुपालन उचित समय पर आवश्यक होता था। राजा अपनी सभा में विद्वान् का आदर करता था। अन्य वर्णों के लोग ब्राह्मण को प्रणति-दान करते थे। धर्म-गुरुओं के समीप जाने वाले लोग भी विशेष शिष्टाचार का पालन करते थे। कंचुकी आदि वृद्धों को अभिवादन करने की एक सामान्य प्रथा थी। राजप्रासादों में परिचारक-वर्ग में भी अनेक श्रेणियाँ होती थी और उनमें शिष्टाचार की विशेष पद्धति का निर्वाह होता था। मंदिरों देवस्थानों आश्रमों आदि में विशेष शिष्टाचार का अनुपालन किया जाता था। फिर भी उच्छृंखलता का अभाव तो तब भी नहीं था। उस समय के युवक समाज को भी किसी अपरिचित वृद्ध या आगन्तुक की मजाक बना देना बाएं हाथ का खेल था। कुछ धर्म—

१ बा० भा० क० पृ० २६०।

दासियों से तो युवक-वर्ग घुलकर मजाक करते थे। चण्डी-मंडप के पुजारी के साथ बढ़ी हुई धन्नामा मे कुछ तो युवकों द्वारा भी लड़ाई गई थी।

समाज में सम्बोधन करने की जैसी शिष्ट-परम्पराएं आज हैं वैसी ही तब थीं, आज केवल शब्द बदल गये हैं। हला, भद्र, महादेवि, भद्र भद्रे, आर्ये, देवि, शुभे, आयुष्मान् वत्स, भदन्त अम्ब माता, आर्य वत्से बेटी, आचार्यपाद, भट्टारक, महाराज आदि नामों से संबोधन की परम्परा सांस्कृतिक इतिहास की एक कड़ी है। शास्त्रों में इन संबोधनों की विशद मीमांसा की गई है।

बाणभट्ट की आत्मकथा हमारी प्राचीन शिक्षा-पद्धति की भी एक हल्की-सी झांकी दे देती है। विद्यार्थी लोग कैसे पढ़ते थे और उनकी क्या मर्यादाएं थीं बौद्ध विहार का वर्णन इनको सहसा हमारे सामने ले आता है। आचार्य-लोग विषय को समझाने के लिए कितना श्रम करते थे और कैसे-कैसे दृष्टान्त देकर उन्हें विषय समझाते थे, इस बात पर कथाकार ने थोड़ा-सा प्रकाश तो डाला ही है। छात्र लोग आसनों पर बैठते थे। कुछ स्थलों पर स्थण्डिलों का उल्लेख भी आया है किन्तु आश्रमों या विहारों में नहीं।

सूचना देने या पत्र भेजने के साधन बड़े-विचित्र थे। हरकारे पत्र लाते-ले जाते थे। पत्र को वस्त्र की सुन्दर प्रसेविका में भेजा जाता था। उस पर भेजने वाले की मुद्रा लगाई जाती थी। पत्रिकाएं जिस प्रकार लपेटी जाती थीं या व्यवस्थित की जाती थीं उससे भेजने वाले के अभिप्राय की सूचना मिल सकती थी। निम्नलिखित उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो सकती है— 'तीन पत्र एक नील वस्त्र की सुन्दर प्रसेविका में लिपटे हुए थे। मैंने सावधानी से प्रसेविका को खोला। भीतर कर्पूर काष्ठ की मनोहर पाटी थी जिसके चारों ओर लाक्षा-रस से कल्पवल्ली अंकित की गई थी। मध्य भाग में महाराजाधिराज श्री हर्षदेव की मुद्रा थी। मैं आश्चर्य और औत्सुक्य से अभिभूत हो गया। पाटी के नीचे भूर्जपत्र की पंचभंगी (पांच तहों में लपेटी हुई) पत्रिका थी। पांच तह देख कर ही मैं समझ गया कि पत्रिका मित्रता स्थापित करने के उद्देश्य से लिखी गई है।'[1] + + + 'चार भांज का पत्र तो अधीनस्थ सामन्त का पद-गौरव बढ़ाने के लिए लिखा जाता है।[2]

इस समय प्रचार के साधन भी इतने सरल नहीं थे। धन और सौजन्य के बल पर प्रचार-कार्य सम्पन्न कराया जाता था। किसी एक स्थान पर या कुछ स्थानों पर धन भेज दिये जाते थे और उनसे प्रचार के लिए सौजन्य से पत्र लिखवाये जाते थे। उदाहरण के लिए इस पत्र को देखिये—

'स्वस्ति। पुरपुर से सामवेद की कौथुम-शाखा का अध्यायी जैमिनी गोत्रोत्पन्न कान्यकुब्ज भट्ट धर्मा ब्राह्मणों और श्रमणों के नाम पर, देवमन्दिरों और विहारों के

---

१ बा० आ० क० पृ० २४२।

२ वही पृ० २४२।

नाम पर, स्त्रियों और बालकों के नाम पर समस्त आर्यावर्त के निवासियों को आवेदित करता हूँ। १

+ + + +। 'अपरंच मैं अप्रीति पर क्रुद्ध हूँ। मैं सामाध्यायी कान्यकुब्ज ब्राह्मण हूँ। मैं मौखरियों का गुरु हूँ—मैं अपनी ही शपथ देकर निवेदन करता हूँ कि जो कोई इस पत्र को पढ़े, वह इसकी दस प्रतियाँ लिखकर अन्य लोगों को दे दे। यह क्रिया तब तक चलती रहे जब तक देवपुत्र की प्राणाधिका कन्या का पता न लग जाय। इति शुभमस्तु।'

उस समय की बन्दीशालाओं का उल्लेख भी आया है। उनकी दशा भी कुछ दिन पहले की जेलों की सी थी। वह पत्थरों का भवन होता था जिसकी ऊँचाई अधिक नहीं होती थी। उसकी छोटी-छोटी गुहा जैसी कोठरियों में बन्दियों को रखा जाता था। नीचे लिखे वर्णन से बन्दीगृह के चित्र की मानसिक अवगति कीजिये—

"बन्दीशाला पत्थरों का बना हुआ एक सुदृढ़ भवन था, ऊँचाई इतनी कम थी कि कठिनाई से कोई उसके भीतर खड़ा हो सकता था। सारा भवन एक विराट् शिला की भाँति लग रहा था। द्वार पर विशाल अश्वत्थ-वृक्ष उसकी भयंकरता को और भी बढ़ा रहा था। प्रहरियों ने एक बार मेरा नाम पूछा और द्वार खोल दिया। भीतर घुसने पर मैं एक बड़े आँगन में उपस्थित हुआ। इस आँगन के चारों ओर छोटी गुहाकृति कोठरियाँ थीं। मुझे उन्हीं में से एक के द्वार पर ले जाया गया। उसमें हवा या प्रकाश आने का कोई मार्ग नहीं था। द्वार खुलने पर चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से वह छोटा-सा घर उद्भासित हो गया। कुट्टिम भूमि पत्थर से पटी हुई थी, परन्तु एक प्रकार की दुर्गन्ध से सारा कक्ष असह्य-सा लग रहा था। उसी में सुचरिता निवात-निष्कम्प दीपशिखा की भाँति पद्मासन बाँधकर बैठी हुई थी। + + + उसके हाथ और पैर लौह-शृंखला से बँधे थे।'२

जिस आर्यधर्म की नींव बड़ी गहरी डाली गई थी इस समय तक उसमें भी शिथिलन पैदा हो गया था। इसका एक कारण तो यही था कि बाह्य तत्त्वों ने इसकी मौलिकता को भ्रष्ट कर दिया था, चाहे वह थोड़े ही अंश तक क्यों न हुई हो। दूसरा कारण था वैदिक-धर्म में से निकले हुए इतर धर्मों का उदय जो इस समय स्वयं विकारग्रस्त होकर अपनी प्राण-रक्षा के लिए भटक रहे थे। वैसे तो इस समय जैन-धर्म भी था किन्तु लेखक ने उसका कहीं उल्लेख नहीं किया। लेखक ने उसको भुला दिया है ऐसा तो नहीं लगता किन्तु उसकी विकृतियों में उसने किसी भयंकरता का साक्षात्कार न किया हो यह संभव है।

पाठक के सामने बाणभट्ट की आत्मकथा में वास्तव में दो ही धर्म आते हैं—सनातन-धर्म और बौद्ध-धर्म। इन दोनों की शाखा-प्रशाखाएँ इनकी मौलिकता को नष्ट

१ बा आ क., पृ १९७-१९९।
२ वही पृ २११।

करने के लिए पर्याप्त थी। महात्मा बुद्ध ने जिस धर्म को सत्य और अहिंसा के ऊपर खड़ा किया था उसमें इस समय हिंसा वेग से बढ़ रही थी। अनेक मत-मतान्तरों के धर्मों को तर्क-वितर्कों की कंटीली बाड़ में घसीटा जा रहा था। सनातन धर्म भी बौद्धों की विकृतियों के योग से शक्ति, शिव और विष्णु के अवतारों का सहारा लेकर अनेक रूप-कुरूपों में प्रकट हो रहा था। कौलाचार, वामाचार या दक्षिणाचार आदि में धर्मों की सम्मिलित विकृतियों को न देखना आलोचक या शोधक के वश की बात नहीं है। डा० हजारीप्रसाद जी ने धर्मों को बड़ी गहराई में घुसकर उनको उचित दृष्टिकोण की दृष्टि से देखा है, किन्तु ऐसी बात नहीं है कि ऐसे धार्मिक विगलन से वे व्याकुल नहीं हुए।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में सभी ललित कलाओं का परिचय मिलता है। इसके अनुसार वास्तु कला मूर्तिकला चित्रकला, संगीतकला और साहित्यकला के साथ-साथ नृत्यकला और नाट्यकला का काफी विकास हो चुका था। अनेक उत्सवों के अवसर पर इनमें से कुछ कलाओं का प्रदर्शन किया जाता था। उनमें से 'मदनोत्सव' प्रधान उत्सव था। जिस प्रकार साहित्य की अनेक शैलियाँ और रूप प्रचलित थे उसी प्रकार संगीत और नृत्य के भी अनेक प्रकार प्रचलित थे। ऐसे अवसरों पर अनेक प्रतियोगिताएं होती थीं। नाना दिग्देश से समागत कवि कलाकार और गणिकाएं नृत्य-गीत की प्रतियोगिता में उतरती थीं। आत्मकथा के अनुसार काव्य-क्षेत्र में काव्य समस्याओं की पूर्ति का रिवाज भी था। नानाविधि काव्य-समस्याएं मानसी काव्य क्रिया पुस्तक-वाचन, दुर्वाचक योग अक्षर-मुष्टिक, पद्म बिन्दुमती आदि कलाओं से समस्त नागरिकों का मनोविनोद होता था।

इन आयोजनों के लिए प्रेक्षागारों का निर्माण किया जाता था जहाँ सामाजिकों के बैठने के लिए स्थान नियत थे। नाटकाभिनयों में नाट्यमण्डलियों का योग ही प्रमुख था अधिकतर अभिनेता राजाश्रित नहीं होते थे, बाणभट्ट की आत्मकथा से ऐसी ही ध्वनि निकलती है। नाटक-मण्डलियाँ व्यक्तिगत प्रयास के रूप में ही चलती थीं। कालिदास शूद्रक आदि प्रसिद्ध नाटककारों के नाटकों के अभिनय ही अधिक लोकप्रिय थे। महाराजा हर्षवर्धन भी उस समय के प्रसिद्ध साहित्यकारों में गिने जाते थे। उनकी रत्ना वली नामक नाटिका का उस समय भी काफी सम्मान था। स्वयं बाणभट्ट ने उसका अभिनय किया करता था।

प्रेक्षागृह की बनावट का परिचय इस प्रकार दिया गया है—"विराट पटवास प्रासप्रांशु सोलह खम्भों पर टिका हुआ था। वह समग्र मनोहर भूमि को घेरे हुए था। सभापति का आसन प्रद्युम्न प्रस्तरों से सजाया गया था। सभापति की दाहिनी ओर संस्कृत के कवियों के लिए आसन निर्दिष्ट थे और बाईं ओर प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों के लिए। सभापति के पीछे करणाधिपों (अफसरों) के लिए स्थान निर्दिष्ट था और दाहिनी ओर के एक पार्श्व में तिरस्करिणी (परदा) के पीछे अभिजात महिलाओं के लिए स्थान बनाया गया था सभापति के सामने और वाम ओर के पार्श्व में समस्त नागरिकों के लिए

स्थान निर्दिष्ट था। रंगभूमि ठीक बीच में थी। उसमें अभ्रक से मिला हुआ पिष्टातक चूर्ण बिछा हुआ था। वह मयूर-नृत्य या पद्म-नृत्य का आधार था।"१

"जो प्रथा है वह इस चित्र में नहीं दिखाई देती थी क्योंकि ऐसे भित्तिपट्टों के लिए वज्रलेप के लगाने की प्रथा है जो हवा में ठंडा होकर सूखता है। ऐसे पट्ट बांस की नली में लगे हुए ताम्र-बिन्दुओं के उन तुली-कूर्चकों के योग्य ही होते हैं जो बछड़ों के कान के रोमों से बनते हैं। इस चित्र में स्पष्ट ही ऐसी रोम-तूलिकाएँ व्यवहृत नहीं हुई थीं फिर भी भाव-प्रकाश की कैसी मनोहर कला थी। पहले भाग और भाव में व्यक्त रगड़ कर बनाये हुए रंगों से कैसा स्वर्गीय भाव फूट उठा है।"२

इससे यह प्रतीति कराई गई है कि तत्कालीन (बाणकालीन) चित्र भित्तिपट्टों पर बनाये जाते थे। रंगों और तूलिकाओं के निर्माण में विलक्षणता दृष्टिगोचर होती है। साथ ही बाणकालीन और बाण-पूर्वकालीन चित्रोपकरणों में विकास भेद भी बतलाया गया है। लेखक ने एक स्थान पर ऐसा आभास दिया है जहाँ भित्तिपट्ट के होने की संभावना नहीं है। वहाँ पाठक को किसी तरह पट्ट की कल्पना अवश्य करनी पड़ेगी। उस कल्पना के लिए यह उद्धरण पर्याप्त है—

प्रमोदवन के पूर्वी सिरे पर अशोक और बकुल वृक्षों के बीच माधवी लता का मण्डप था। उसके चारों ओर कुरबक का बेड़ा दिया हुआ था? उसी एकांत कुञ्ज में + + + उज्जयिनी को प्रधान गणिका एकाग्रचित्त से चित्र बना रही है।' १

राजभवनों, मन्दिरों वेश्यागृहों तथा सामान्य गृहों के वर्णनों के आधार पर तत्कालीन वस्तु-कला का अनुमान किया जा सकता है। राजभवन के अनेक नाम जैसे रहे हों वैसे हों किन्तु 'बाणभट्ट की आत्मकथा' अपने ऐतिहासिक आवरण में हमें तत्कालीन राजभवन के दर्शन करा देती है। इसी आवरण में वह पाठक को अन्य भवनों और दुर्गों के सामने खड़ा कर देती है। मदनश्री के प्रासाद सुचरिता और निउनिया के आवास तथा चण्डी-मण्डप के वर्णनवास्तु-कला का आभास देने के लिए पर्याप्त हैं। इससे अधिक पुष्ट प्रमाण की आशा इस कृति से की भी नहीं जा सकती।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में मूर्तिकला के विकास पर भी थोड़ा-सा प्रकाश डाला गया है। भारतीय और यावनी मूर्तिकला में भेद बतलाया गया है। लेखक ने बड़े कौशल से यक्षों कुषाणों और गुप्तों की मूर्ति-कला के अन्तर को प्रकट करके भारतीय संस्कृति के विकास के अध्ययन की प्रेरणा दी है। निम्नलिखित वर्णन से मूर्तिकला का विकास भेद स्पष्ट हो सकता है—

---

१ बा० आ० क० पृ० ११९।
२ वही १२३-२४।

उस समय स्थान-भेद से लोगों के शौक अलग-अलग थे। कान्यकुब्ज के लोग बड़े कृत्रिमप्रिय और चित्र-प्रवण थे। वे मयूर और पद-नृत्य जैसी कला को उस समय तक चिपकाये हुए थे और उनका सम्मान भी करते थे। मगध में मयूर-नृत्य देखने की उतनी लालसा नहीं थी जितनी कान्यकुब्ज में थी। मगध इन बातों को कब का छोड़ चुका था। वास्तव में मयूर-नृत्य ताण्डव का सबसे घटिया भेद है। साथ ही इसमें श्रम प्रधान है। पैरों को इस वेग से ताल देते-देते संचालित किया जाता था कि उससे कुट्टिम-भूमि के प्रस्तर में पत्र-चित्र बन जाता था। यह कोई बड़ी रस-सिद्धि नहीं थी। नृत्य का प्रधान उद्देश्य वस्तुतः रस है। कान्यकुब्ज के लोग लास्य की अपेक्षा ताण्डव में अधिक रुचि रखते थे। वे मनुष्य के मनोभावों की अपेक्षा उसके चरण-कौशल को अधिक महत्त्व देते थे।

आभीर नृत्य भी समाज में स्थान पा चुका था। देव-देवी पूजा के अवसर पर आभीर-युवतियाँ नृत्य-गान करती थीं। उनके साथ भोले से युवक भी थे जो मर्दल मुरज और मुरली बजाते थे। देवी-पूजा इन लोगों में बहुमान्य थी। महानवमी के दिन देवी पूजा का विशेष अवसर होता था।

भक्ति-समारोहों में तथा कीर्तन के समय भी नृत्य होता था किन्तु यह नृत्य सादा वेश में होता था। इस नृत्य में कला का योग अनिवार्य नहीं था, अनिवार्य था भाव। इस समय प्रायः कांस्य, कौड़ी और करताल का प्रयोग किया जाता था। इस समय भक्ति-गीत भी गाये जाते थे। वे भी संगीत की मर्यादा रखते थे।

मृदंग, मुरज, कांस्य, करताल, वीणा आदि वाद्य-यन्त्रों के साथ गीत और नृत्य की आयोजना का प्रचलन था। कभी-कभी गीत वाद्य-यन्त्रों के बिना भी सुने-सुनाये जाते थे। वीणा का सम्मान बहुत था। बाणभट्ट के मुख से वीणा को असमुद्रोत्पन्न रत्न कहला कर 'आत्मकथाकार' ने वीणा को ऐतिहासिक महत्त्व प्रदान किया है। 'चर्चरी' आदि नामों से लेखक ने राग भेद की ओर भी संकेत किया है।

चित्र-कला के सम्बन्ध में कई बातें ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व की सामने आती हैं। बाण के समय की और उससे पहले की—गुप्त काल की—जो चित्रांकन पद्धति थी उसका रूप और भेद भी बाणभट्ट की आत्मकथा में प्रकट किया गया है। इस भेद को समझने के लिए यह उद्धरण पर्याप्त होगा—

"आजकल दीवार को चूने से पोत कर मसि-वर्ण को घोर कर लेप लगाने की शक नरपतियों ने अपनी बुद्ध-भक्ति के आवेग से इस देश में भारतीय और यावनी शिल्प की जो आधी-अधूरी मूर्तियाँ तैयार कराई हैं उन्हें मैं बिल्कुल पसंद नहीं करता। वे न तो मूर्ति के सर्व-गुण की महत्ता में आती हैं न प्रमेय पाठ में। एक तरफ इनमें यावनी प्रतिमाओं की भाँति अंग-प्रमाण की ओर बेतरह ध्यान दिया गया होता है दूसरी तरफ हाथ और पैर की मुद्राओं में लावण्य की अपेक्षा भाव-व्यञ्जना को प्रधानता दे दी गई होती है। + + + प्राचीन शिल्पियों के अनुकरण पर कुषाण नरपतियों ने ऊर्ध्वमुख-चरण

उसमें उसे पद्मासन ही बैठाए हैं। प्रमाण-पाटलवाली पाषाणी मूर्तियों में ऐसा पद्मासन ऊर्ध्वा-लम्बु के लिये बौद्धभिक्षु के समान बैठाए जाते हैं। इस मूर्ति में बुद्ध का मस्तक मुण्डित बनाया गया था जब कि शक-नरपतियों की मूर्तियों में दक्षिणावर्त कुंचित केश कुछ बँधते नहीं दिखते। मूर्तिकार ने ऐसी मूर्ति बनाई थी जिसे देखकर भान होता था कि सचमुच ही बुद्ध बैठे हैं। उनके अर्ध-स्तिमित नयन के ऊपर भ्रू-लताएँ बाण-पत्र की ऊर्ध्व विक्षिप्त रेखाओं की बक्रिमता लिये हुए थीं बल्कि इस प्रकार खाई हुई थीं कि वे नासा-वंश के पास का भ्रम दे रही थीं। हाथ की अँगुलियाँ स्वाभाविक थीं। पुष्पों की मूर्ति बनाके साथ उनका कोई दूर का संबंध भी नहीं था। समाधि और निद्रा में एक भेद होता है। अधिकांश कुषाण-मूर्तियाँ उस भेद को स्पष्ट भी नहीं होने देतीं पर यह मूर्ति ऐसा भोग लिये हुए थी कि उसके रोम-रोम से ध्यानस्थता प्रकट हो रही थी।"[1]

उस समय बुद्ध, वराह, विष्णु, गोपाल वासुदेव की मूर्तियों के अतिरिक्त शंकर, भैरव और देवी की मूर्तियों का अधिक रिवाज था। गोपाल वासुदेव की त्रिभंगी मूर्ति ने तो शृंगार रस की व्यंजना को नया प्रश्रय प्राप्त किया था।

साहित्य या काव्य को इस रचना में बहुत ऊँचा स्थान दिया है। कविता को मनुष्य की बहुत बड़ी उपलब्धि बतलाया है। कविता ही इस सत्य का प्रचार कर सकती है कि 'नरलोक से किन्नर-लोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।' इस सत्य के विचार से मनुष्य की दुर्मद वासनाएँ अनियंत्रित कामनाएँ अविचारित धारणाएँ कुछ कम भीषण हो सकती हैं। काव्य से मनुष्य की दयाहीन विवेकहीन और धर्महीन वृत्तियाँ उच्चतर कार्य में नियोजित हो सकती हैं। म्लेच्छ समझे जाने वाले मनुष्यों के चित्त को कोमल और संवेदनशील बनाने की अमोघ शक्ति कविता या साहित्य में होती है। मनुष्य में लोभ, मोह और द्वेष से जो पशुता भर रही है उसका निवारण कविता ही कर सकती है। कविता अन्तःस्रोता सरिता की सात्त्विक अभिव्यक्ति है। इस लोभ-तृष्णा के बवण्डर के नीचे निर्मोह वैराग्य का देवता स्तब्ध है यह संदेश कवि ही दे सकता है। श्रम और सौन्दर्य की महिमा के प्रसार में भी कविता का बड़ा भारी योग होता है।

सच्चे कवि के चारित्र्यपूत हृदय में ही सरस्वती का निवास होता है। उसकी शक्ति-शालिनी वाक्स्रोतस्विनी इस धरा के कल्मष को धो डालती है। केवल पद्य को ही कविता कहना उचित नहीं है। काव्य-निकष ही गद्य है। छन्द और अलंकार काव्य के प्राण नहीं हैं। प्राण है रस विशुद्ध सात्त्विक रस।

इस प्रकार बाणभट्ट की आत्मकथा जो इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय है, कथा के ऐतिहासिक स्वरूप को पाठक के सामने ला खड़ी करती है। ईंट और रोड़ों से भानुमती का कुनबा जोड़ने में लेखक ने बड़ी कुशलता से काम लिया है।

यह तो अन्यत्र कहा ही जा चुका है कि लेखक की रुचि की विलासस्वामी वर्णन

---

१ बा० आ० क० पृ० ११०—१११।

रहे हैं। वर्णन भी तो उसने अनेक प्रकार के किये हैं। जहाँ उसने उषा, प्रभात मध्याह्न सन्ध्या निशा आदि के मनोहर वर्णन किये हैं, वहाँ बसन्त, ग्रीष्म आदि को भी तो नहीं छोड़ा है। वन पर्वत, नदी सरोवर के रम्य दृश्यों का अवलोकन लेखक की प्रतिभा ने बड़े मनोयोगसे किया है। कुछ स्थानों पर हर्षचरित और कादम्बरी की-सी बड़ी गहन छाया मिलती है, किन्तु इन वर्णनों में कुछ अधिक शीतलता मिलती है। लेखक इन वर्णनों में आलोचक बनकर प्रविष्ट हुआ है, कवि बनकर रमा है और भावुक होकर पाठक के साथ निकलता दृष्टिगोचर होता है। वर्णनों की समाप्ति यहीं नहीं हो जाती कवि की रुचि का विहार तो उसके मानव-मनों स्वभावों आदि में भी उसी तल्लीनता से होता है।

यों तो लेखक ने सभी वर्णन बड़े चमत्कारी रूप में किये हैं किन्तु नर-नारी और स्थान के वर्णन पाठक को समाज से और भी अधिक सम्पृक्त कर देते हैं। इन वर्णनों में वेषभूषा और समाज की धार्मिक और सामाजिक दशा के जो चित्र उतरे हैं वे समाज-चित्रण से विलग नहीं किये जा सकते। अमोलवन वैभवगृह शिक्षायतन धर्मसभा राज सभा वधीशाला युद्ध आदि के वर्णन तत्कालीन समाज को प्रस्तुत करने में बहुत बड़ा योग देते हैं। चण्डी-मंडप का वर्णन पाठक को तत्कालीन समाज में जिस कमाल के साथ ले जाता है उसकी कल्पना दूसरे वर्णनों में भी की जा सकती है। सच तो यह है कि वर्णन समाजके दर्पण हैं। पाठक समाज उनमें अपना मुख देखकर उचित कार्य कर सकता है। यह ठीक है कि आज राजाओं और सामन्तों का वह युग नहीं है जब कुछ होते हुए भी आज का मनुष्य उतना भ्राम्त नहीं है। आज जन-जागरण का युग है ढकोसलों और अनुभूतियों का युग नहीं है किन्तु धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजों के पीछे छिपी हुई विकृतियाँ आज भी आत्मकथा में वर्णित युग से अपना सम्बन्ध जोड़ रही हैं। चण्डी मण्डप के पुजारी का आज चाहे उतना उपद्रव न हो, किन्तु उसका मन न जाने कितनी अज्ञात कुभावों से आकुल न होगा। ग्रामोत्सवों में आज भी देवी-पूजा के दृश्यों को देखा जा सकता है। भारत के गाँव-गाँव में (गाँव से बाहर) भग्न चबूतरों पर देवी की प्रतिष्ठा धर्मोत्सवों का स्मरण कराये बिना नहीं रह सकती। क्या आज देवी पर नर बलि चढ़ाने वालों का एकान्ताभाव ही गया है? आज भी पुलिस सूचना दे सकती है कि अमुक व्यक्ति ने अपने पुत्र का सिर देवी को बलि देने के लिए काट डाला और अमुक व्यक्ति किसी दूसरे बालक को फुसला कर देवी पर चढ़ाने के इरादे से ले गया। अंग्रेजों के आने से पहले तो ये पैशाचिक लीलाएं देश में सामान्य थीं। वज्रतीर्थ के वर्णन को पढ़कर पाठक के रोंगटे खड़े हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है—

'वज्रतीर्थ एक विशाल श्मशान था। चारों ओर नीम के खेत में भुने हुए मधुप के समान चमकते शवों की दुर्गन्ध व्याप्त हो रही थी। सारा श्मशान घाट गिद्धों और स्यारों के पद-चिह्नों से भरा था। हड्डियों और मांस के छिन्न खंडों के ऊपर मंथ्या का धूमर अम्बर बड़ा भयावना दिखाई दे रहा था।'

११ प्रेम का स्वरूप

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में प्रेम एक समस्या है। यहाँ न तो प्रेम का उद्भव दीख पड़ता है और न विकास, बल्कि आविर्भाव की स्थिति दृष्टिगोचर होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि भस्मावृत अग्निकणिका की भाँति प्रेम ने तिरोभाव से आविर्भाव प्राप्त किया है। ऐसा क्यों हुआ, यह प्रश्न है। इसी के साथ जुड़े हुए कुछ और प्रश्न भी दृष्टिगोचर होते हैं और इन्हीं सब प्रश्नों में प्रेम की समस्या निहित है। आत्मकथा प्रेम के चार रूपों से सम्बन्धित है। एक तो यह कि नरलोक से किन्नर-लोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है—दूसरा यह कि कथा का जिस ढंग से आरम्भ हुआ है—उसकी स्वाभाविक परिणति शुद्ध और अस्पृष्ट प्रेम में ही हो सकती है, तीसरा यह कि कथा के स्वाभाविक विकास की दृष्टि से इसमें कोई विरोध या दोष नहीं दीखता, पर बाणभट्ट की लेखनी से सम्भवतः अधिक स्पष्ट और अधिक दृप्त अभिव्यक्ति की आशा की जा सकती है और चौथा यह कि आत्मकथा में लज्जा, अवहित्था, जड़िमा आदि मानस-विकारों का प्राचुर्य है। इसका ताल-मेल बाण की प्रकृति और प्रेम-सृष्टि से नहीं बैठता क्योंकि कादम्बरी में अनुभावों, हावों, अयत्नज अलंकारों आदि शारीरिक विकारों का प्राचुर्य है।

उक्त विचार बिन्दुओं से स्पष्ट है कि (१) आत्मकथा में जिस प्रेम का निरूपण है वह सकोचयुक्त व्यापक और एक है (२) कथा का लक्ष्य शुद्ध और अस्पृष्ट प्रेम है और उसके निर्वाह का प्रयत्न प्रारम्भ से अन्त तक दृष्टिगत होता है, (३) बाणभट्ट के प्रति-लोकप्रसिद्ध चरित्र के साथ अस्पृष्ट प्रेम कुछ अटपटा-सा प्रतीत होता है फिर भी उससे कथा का स्वाभाविक विकास अवरुद्ध या दूषित नहीं हुआ, और (४) आत्मकथा में प्रेम मानसिक विकारों के रूप में ही आविर्भूत हुआ है।

प्रेम का जो स्वरूप आज के उपन्यासों में प्रशस्त होने लगा है वह आत्मकथा ने स्वीकार नहीं किया। आज के उपन्यास प्रेम के स्पृष्ट रूप को ही सामने लाते हैं क्योंकि वर्तमान लोक में अस्पृष्ट प्रेम की सत्ता पर संदेह किया जाता है। इसमें शक नहीं कि अस्पृष्ट प्रेम में ही प्रेम का उच्चतम आदर्श पाया जा सकता है किन्तु वह आत्मविसर्जन के पीछे निहित रहता है, अतएव जब तक आत्मविसर्जन का द्वार नहीं खुलता अस्पृष्ट प्रेम की झाँकी नहीं मिल सकती। आत्मकथा में बाणभट्ट के सम्बन्ध से इसी प्रेम की झाँकी दी गयी है। पाठक बाणभट्ट की आत्मा में प्रवेश करके ही नरलोक से किन्नर-लोक तक अस्पृष्ट प्रेम के मधुर रस को देख सकता है।

प्रेम क्या है?

प्रेम एक महान् देवता है और मानव-शरीर इसका पवित्र मन्दिर है। बाण के

प्रेम का देवता नारी-शरीर में प्रतिष्ठित है। इसीलिए वह उसे बहुत पवित्र और पूज्य मानता है। जो प्रेम काम उपेक्षित हो गया है जिसके चारों ओर कुत्साएँ और कुण्ठाएँ आरोपित हो गयी हैं, वह बहुत ऊँची और पावन वस्तु है किन्तु 'अहं' की मादकता से विघूर्ण मानव उसको नहीं देख पाता है। प्रेम मानव को विधाता का सर्वोत्कृष्ट उपहार है। विश्व के बहुत थोड़े लोग इस उपहार को स्वीकार कर पाते हैं क्योंकि यह 'अस्मिता' की आड़ में छिपा हुआ है। विश्व के बड़े-बड़े मनीषियों और कवियों को ही इसका साक्षात्कार हो सका है।

प्रेम मनुष्य की बड़ी बलिष्ठ प्रेरणा भी है। साधारणतः इस प्रेरणा का निग्रह कठिन है किन्तु इसका आधान और निर्वाह संयुक्त रूप में होने पर उस पर कुत्साओं का लेप हो जाता है। बाणभट्ट के सामने सुचरिता का प्रश्न प्रेम का विश्लेषण चाहता है।

सुचरिता बोली— क्यों ऐसा होता है आर्य? क्या पूर्व जन्म का बन्धन है यह या परजन्म का निमित्त है? जिस प्रकार दुर्वार शक्ति के इंगित-मात्र से सदा का आजन्म लालित बन्धन इस प्रकार विच्छिन्न हो जाता है, यह क्या पाप है? उसे राक्षसी शक्ति क्यों समझा जाता है आर्य? मैंने जितने लोगों को यह कहानी सुनाई है उन सबने ही बुद्धिमान की भाँति सिर हिलाकर मुझे पापकारिणी बताया है। दीर्घकाल तक मैं स्वयं अपने इस अकारण आरोपित पाप-भावना की चिताग्नि में जलती रही हूँ। वैराग्य क्या इतनी बड़ी चीज है कि प्रेम के देवता को उसकी नयनाग्नि में भस्म करके गौरव अनुभव करे?"

इस प्रश्न का उत्तर ही प्रेम सम्बन्धी शोधकार्य है। प्रेम सुन्दरता नहीं है सुन्दरता का आधार है। सर्वोनिष्ठ प्रेम ही वास्तविक प्रेम है। तपस्या के भीतर से प्रेम का वास्तविक रूप आविर्भूत होता है। सुचरिता को बाण का उत्तर इसी का साक्ष्य देता है— 'कालिदास ने प्रेम के देवता को वैराग्य की नयनाग्नि से भस्म नहीं कराया है बल्कि उसे तपस्या के भीतर से सौन्दर्य के हाथों प्रतिष्ठित कराया है। पार्वती की तपस्या से सच्चे प्रेम के देवता आविर्भूत हुए थे। जो भस्म हुआ वह आहार निद्रा के समान यह शरीर का विकार धर्म-मात्र था। वह दुर्वार था परन्तु देवता नहीं था। देवता दुर्वार नहीं होता, देवी!

इससे यह न समझ लेना चाहिये कि प्रेम का शरीर से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। शरीर प्रेम की सिद्धि का साधन है। भीतर और बाहर दोनों जगह प्रेम आविर्भूत होता है। हृदय जगते हैं और शरीर ओतप्रोत होते हैं। ब्रज-सुन्दरियों के प्रेम की ऐसी ही अवस्था थी। भीतर से बाहर तक वे प्रेम-विह्वल थीं। निखिलानन्द-सन्दोह मुकुन्द की विग्रह-माधुरी के प्रति उनका जो आकर्षण हुआ वह भी तो प्रेम ही था अन्यथा ब्रजसुन्दरियों का प्रेम ही काम और काम ही प्रेम क्यों होता? जो पार्वती शिखा पर

शयन करती थी, अनिकेतन-वासिनी थी, पुष्प-वर्षा-आँधी-तूफान में स्थिर खड़ी रहती थी और केवल महारात्रि ही अपनी विद्युन्मयी दृष्टि से बीच-बीच में झाँक कर जिसकी महा तपस्या की साक्षी बनी रही, क्या उस पार्वती की आसक्ति बाह्य आडम्बर थी ? कदापि नहीं पार्वती ने तो शिव को अपना सर्वस्व समर्पित किया था, किन्तु शिव ने अपने चित्त विकार के हेतु को दिशाओं के उपान्त भाग में खोजा था।

प्रेम की अविभाज्यता

प्रेम एक और अविभाज्य है। उसे केवल असूया और ईर्ष्या के भाव ही विभाजित करके खोटा कर देते हैं। आत्मकथा में प्रेम की एकता और अविभाज्यता सुरक्षित है। बाणभट्ट का प्रेम निपुणिका और भट्टिनी, दोनों के प्रति है, किन्तु उनके बीच में ईर्ष्या का कहीं नाम तक नहीं है। एक-दूसरी के प्रति आत्मोत्सर्ग के लिए कटिबद्ध हैं। भट्ट के प्रश्न के उत्तर में निपुणिका के ये शब्द बड़े अर्थगर्भित हैं—"भट्ट तुम नहीं देखते कि वासवदत्ता ने किस प्रकार दो विरोधी दिशाओं में जाने वाले प्रेम को एकसूत्र कर दिया है। कहकर ही नहीं निपुणिका ने तो उसे सिद्ध भी कर दिखाया। जिसे बाण भट्ट अभिनय ही समझता रहा 'वह अभिनय से कहीं अधिक था [illegible] था। वहाँ वास्तव में निपुणिका ने अपने को ही खोल कर रख दिया। अन्तिम दृश्य में जब रत्नावली (भट्टिनी) का हाथ राजा (बाण) के हाथ में देने लगी तो वह सचमुच विचलित हो गयी। वह सिर से पैर तक सिहर गयी। उसके शरीर की एक-एक शिरा शिथिल हो गई। भरत-वाक्य समाप्त होते-होते वह धरती पर लेट गयी। नागर जन जब साधुवाद से दिगन्त को ध्वनित करते थे उस समय पर्दे के पीछे निपुणिका के प्राण निकल चुके थे। भट्टिनी ने दौड़कर उसका सिर अपनी गोद में ले लिया और कुररी की भाँति कातर चीत्कार के साथ चिल्ला उठी— 'हाय भट्ट अभागिनी का अभिनय आज समाप्त हो गया। उसने प्रेम की दो दिशाओं को एकसूत्र कर दिया। जिस समय भट्टिनी पछाड़ खाकर निपुणिका के मृत शरीर पर लोट पड़ी उस समय भट्ट स्तब्ध था। उसके प्रेम की मार्मिकता इसी अवसर पर प्रकट होती है जब कि वह अपने ही शब्दों में कहता है— "अभिनय करके जिसे पाया था, अभिनय करके ही उसे मैंने खो दिया।" अनन्य प्रेम का यह ज्वलन्त उदाहरण है।

अव्यक्त प्रेम

प्रेम की अभिव्यंजना की नहीं जाती, स्वतः हो जाती है। जहाँ प्रेम का प्रदर्शन होता है वहाँ दर्प होता है अनन्य प्रेम नहीं हो सकता। बाणभट्ट की आत्मकथा में प्रेम अभिव्यक्त तो हो जाता है, किन्तु वह मुखर होकर पाठकों के सामने नहीं आता। यह कथाकार का कौशल ही नहीं, आदर्श भी है। शुद्ध और अनन्य प्रेम में कथा की स्वाभाविक परिणति दिखाकर कथाकार ने न तो वास्तविकता से ही किनारा किया है और न

प्रेम को दुःख-प्रवाह में ही बहने दिया है। यहाँ करुणात्मक संयोगों के बीच सहानुभूति के रागात्मक वातावरण में मर्मवेदना का जो स्पर्श होता है वही तो प्रेम की व्यथा का यथार्थ होता है। निपुणिका और भट्टिनी दोनों के सम्बन्ध में यही वातावरण और प्रेमास्पद की यही झलक है। सहानुभूति साहचर्य का योग पाकर उत्कर्ष-भाव की प्रांजल भूमिका पर प्रतिष्ठित हो जाती है। यह ठीक है कि निपुणिका के इन शब्दों में बहुत दुःख है— 'मेरी ही शपथ करके तुम सत्य-सत्य कहो आर्य, मेरा कौनसा ऐसा पापचरित है जिसके कारण मैं आजीवन दुःख की विकराल नदी में बहती रही, क्या स्त्री होना ही मेरे सारे अनर्थों की जड़ नहीं है?' किन्तु 'इन शब्दों में कितना मर्मान्तक दुःख है वह मैं ही जानता हूँ" बाणभट्ट के इन शब्दों में भी सहानुभूति की तीव्रता कुछ कम है। यही हृदय से हृदय तक की पहुँच है। इससे अधिक सहज सात्विक अनुभाव और क्या हो सकता है? आलम्बन का उत्कर्ष दिखाने वाले ये सात्विक अनुभाव तो और भी महत्वपूर्ण हैं—"निपुणिका में इतने गुण हैं कि वह समाज और परिवार की पूजा का पात्र हो सकती थी, पर हुई नहीं। इतने दिनों से साथ हूँ, उसके चरित्र में मैंने कोई कलुष नहीं देखा। वह हँसमुख है, चतुर है, मोहिनी है, शीलवती है—ये क्या दोष हैं? ××× निपुणिका में सेवाभाव इतना अधिक है कि मुझे आश्चर्य होता है। बाणभट्ट के ये शब्द निपुणिका के गुणोत्कर्ष की व्याख्या ही नहीं करते, वरन् हृदय पर पड़े हुए मोहबन्धन के प्रभाव का आभास भी देते हैं। "उसने मेरी सेवा इतने प्रकार से और इतनी मात्रा में की है कि मैं उसका प्रतिपादन जन्म-जन्मान्तर में भी नहीं कर सकूँगा,' बाण की इस उक्ति में निपुणिका के प्रति न केवल कृतज्ञता की भावना की अभिव्यक्ति है, वरन् अभिभूति में होकर समर्पण का आभास भी है।

निपुणिका के प्रति बाण के प्रेम में स्वार्थ या वासना की कोई गन्ध नहीं है। बाण निपुणिका को प्रेम करता है, देखने वाले देखते हैं और समझने वाले समझते हैं किन्तु उससे मांसल प्रेम प्रकाशित नहीं होता। प्रेम अपनी पवित्रता को अक्षुण्ण रखता है। इसकी परीक्षा बाण ही के शब्द हैं—"बालविधवा निपुणिका जैसी सेवा-परायण, शीलवती ललना के प्रति जिस पुरुष की श्रद्धा और प्रीति समुच्छ्वसित न हो उठे वह वह पाषाण-पिण्ड से अधिक मूल्य नहीं रखता।"

जिस प्रकार निपुणिका को बाणभट्ट प्रेम करता है उसी प्रकार निपुणिका भी बाणभट्ट को प्रेम करती है। बाण इसकी सूचना निपुण एवं गूढ़ संकेतों से प्राप्त कर लेता है। बाण के ये शब्द उस अव्यक्त प्रेम को जो निपुणिका को प्रकाशित कर देते हैं—"उसने पहले कभी भी अपना राग मेरी ओर प्रकट नहीं किया था, परन्तु उसकी प्रत्येक बात अभी से प्रत्येक सेवा में एक क्षीण उच्छ्वास बराबर बताया करता कि इस क्रिया-कलाप की आद्यन्त गहराई में कोई और वस्तु है। आज भी वह वस्तु वहाँ की वहाँ है। केवल उसके ऊपरी आवरण का वेग हट गया है। आज भी उसके हृदय-मन्दिर के अधिष्ठित निपुण

कक्ष में कोई देवता स्वयम् बैठा है जो निश्चय ही मेरी मौन पूजा से ही सन्तुष्ट रहता है।' इतना ही नहीं बाणभट्ट तो अपने हृदय के निभृत कक्ष को भी खोल कर इस प्रकार दिखला देता है—"मेरे मानस को निपुणिका के दर्शन ने एकदम उत्तरल बनाया ही नहीं ऐसा कहना असत्य होगा। मैंने उसकी मानसी मूर्ति की कितनी आराधना की है, यह मेरा अन्तर्यामी ही जानता है। निपुणिका के प्रति बाणभट्ट का यह आकर्षण यह प्रेम मांसल और स्वार्थमय नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह रूप से तो बहुत बढ़ी चढ़ी नहीं थी—'वह बहुत अधिक सुन्दरी नहीं थी।' जिस प्रकार भट्टिनी के प्रति उसी प्रकार बाण का प्रेम निपुणिका के प्रति भी सहानुभूति के गर्भ में प्रविष्ट हुआ था। जिस प्रकार घृणा, घृणा को पैदा करती है उसी प्रकार प्रेम, प्रेम को पैदा करता है। बाण की सहानुभूति ने निपुणिका के हृदय को जीत लिया था और निपुणिका ने एक निगूढ़ प्रेम के पर्दे में अपनी सेवाएँ—अपना सर्वस्व बाण को सौंप दिया था। बाण के अपने शब्द ही इसका प्रमाण हैं— 'हाय निपुणिका का जीवन दुःख की भट्ठी में जलते कटा है। मैं उसकी क्या सेवा कर सका हूँ। आज मेरी ही प्राण-रक्षा के लिए उसने सम्मोहन के प्रति प्रणय की बलिवेदी पर अपने को होम दिया है।" इन शब्दों से स्पष्ट है कि निपुणिका के प्रति बाण की सहानुभूति है, कृतज्ञता का भाव है और प्रतिसमर्पण की भावना का आभास भी है। यही निगूढ़ और अस्पष्ट प्रेम है।

बाणभट्ट और भट्टिनी का प्रेम भी गूढ़ और अस्पष्ट है। बाण जिसको जानता तक नहीं है उसी के प्रति उसकी उत्सर्ग-तत्परता का अर्थ प्रेम नहीं तो और क्या है? दया और सहानुभूति से आविर्भूत बाण का प्रेम भट्टिनी के गुणों की प्रशंसा के मार्ग में अभिमान की किसी सीमा तक पहुँच जाता है। उसी प्रकार भट्टिनी भी बाण की प्रशंसक है। वह भट्ट के प्रति कृतज्ञ है और भट्ट के प्रति उसकी ममता भी है किन्तु उस ममता में कोई दुर्गन्ध नहीं है सुगन्ध अवश्य आती है। भट्टिनी के प्रति बाण का आचरण निपुणिका के इन मार्मिक शब्दों की प्रतिक्रिया है— 'भट्ट यह अशोक-वन की सीता है तुम उसका उद्धार करके अपना जीवन सार्थक करो' और प्रथम प्रतिक्रिया इन शब्दों में प्रकट होती है— 'मैं समझ गया, प्राण देना या लेना जरूरी नहीं है पर लेना या देना पड़ ही जाय तो नुकसान क्या है।' बाण भट्टिनी के प्रति आरम्भ से ही श्रद्धावान् है। प्रथम दर्शन के समय भट्टिनी के प्रति बाण का भावाभाव इन शब्दों में लक्षित होता है— 'इसी महावराह की मूर्ति के नीचे इस अन्तःपुर की नई वधू' और हमारी अशोक-वन की सीता' ध्यानस्थ बैठी थी।' अहा, यह कैसी अपूर्व पवित्रता है। यहाँ क्या मुनियों की ध्यान-सम्पत्ति ही पुञ्जीभूत होकर वर्तमान है या रावण के स्पर्श-भय से भागी हुई कैलास पर्वत की शोभा ही स्त्री-विग्रह धारण करके विराज रही है या मन्दाकिनी की धारा ने ही यह पवित्र रूप धारण किया है।' इन शब्दों में प्रेम की अभिव्यंजना स्पष्ट है, किन्तु प्रेम की निगूढ़ता भी स्पष्ट है। बाण स्वयं कहता है— 'भट्टिनी के सामने मुझ में एक प्रकार की मोहनकारी जड़िमा आ जाती है। बाणभट्ट के इन निगूढ़ शब्दों

में तो प्रेम और भी निगूढ़ दिखायी पड़ता है— 'फिर भी इधर मेरा चित्त जड़ होता जा रहा है बुद्धि मुक्त होती जा रही है और मस्तिष्क पोषा हो रहा है। आखिर वह कौनसा मनोविकार है जो मेरे चित्त को जड़ बना रहा है और मेरी बुद्धि को मोहग्रस्त बना रहा है। मेरे लिए इसका उत्तर पाना कठिन हो रहा है। आज मैं स्वयं अपनी समस्या हो रहा हूँ।

वास्तव में वह समस्या नहीं है प्रेम की महत्ता और निगूढ़ता है। दोनों हृदय खिंच रहे हैं, बहुत पास आ गये हैं। यह एक निगूढ़ सत्य है जिससे दोनों हृदय परिचित हैं। इससे भी अधिक विचित्र बात तो यह है कि प्रेम केवल बाण या निपुणिका अथवा बाण या भट्टिनी के बीच ही नहीं है वरन् निपुणिका और भट्टिनी में भी उतना ही महत्त्व और निगूढ़ है। यहाँ भी प्रेम का आविर्भाव सहानुभूति और कृतज्ञता में होता है और दो आश्रयों का एक ही आलंबन होते हुए भी दोनों में किसी ईर्ष्यात्मक विकार का आविर्भाव नहीं होता यह इस प्रेम की विशेषता है। जिस प्रकार बाण और भट्टिनी के मध्य निपुणिका उनके प्रेम की साधिका है उसी प्रकार बाण और निपुणिका के मध्य भट्टिनी उनके प्रेम की साधिका है। भट्टिनी के करुण कातर स्वर में निकलते हुए ये शब्द इसका ज्वलन्त प्रमाण हैं— 'निपुणिका ने कुछ अनुचित कहा हो, तो मन में न लाना। वह मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करती है। तुम्हारे ऊपर उसकी जो अपार श्रद्धा है उसका प्रमाण तो मिल ही चुका है।" निपुणिका भी भट्टिनी का कोई अनिष्ट सहन नहीं कर सकती। इसीलिए वह अनुनय के स्वर में भट्ट को समझाती है— 'मिउनियों की बात छोड़ो × × ×, पर भट्टिनी बालिका हैं। उन्हें संसार की कटुता का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं है।'

इस प्रेमत्रियी के प्रेम की महत्ता और निगूढ़ता को बाण के ये शब्द अधिक अच्छी तरह प्रकट कर देते हैं— "भट्टिनी ने निपुणिका को धीरे-धीरे अपनी ओर खींच लिया। वे बड़े प्रेम से उसके ललाट पर हाथ फेरती हुई बोली —'ना बहन ऐसा भी कहते हैं। भट्ट हमारे अभिभावक हैं उनको सब करने का अधिकार है। हमारे मंगल के लिए और सारे देश के मंगल के लिए उन्होंने जो कुछ भी किया है वह हमें मान्य होना चाहिये।"

इसके अतिरिक्त बाणभट्ट की आत्मकथा में एक और भी प्रेमत्रयी है जो इतनी प्रशंसा तो नहीं कही जा सकती किन्तु महत्त्व प्रेम भावना का संकेत अवश्य देती है और वह है सुचरिता तपस्वी तथा बाण से निर्मित प्रेमत्रयी। जिस प्रकार सुचरिता का प्रेम बाणभट्ट के प्रति पावन और श्रद्धामय है उसी प्रकार विरतिवज्र के प्रति भी है किन्तु विरतिवज्र के प्रति उसका प्रेम-सम्बन्ध कहीं अधिक निगूढ़ है। महामाया और अघोर भैरव का गहन सम्बन्ध भी गूढ़ प्रेम की दुंदुभी है। एक ओर दोनों की साधना है और दूसरी ओर सहृदयता है। इसे प्रेम-साधना कहा जाये अथवा साधनात्मक प्रेम। यह एक उलझा हुआ रहस्य है। क्या यह गूढ़ प्रेम नहीं है?

यह है बाणभट्ट की आत्मकथा में निगूढ़ और महत्त्व प्रेम की स्थिति। इसमें प्रेम के अनेक रूप नहीं मिलते, प्रेम का विभाजन नहीं होता। यह प्रभु की भाँति एक और अनन्त है। जिस प्रकार अनेक पात्रों में पड़े हुए प्रतिबिम्ब से बिम्ब का एकत्व भ्रष्ट नहीं होता उसी प्रकार अनेक आधारों के होने से मौलिक प्रेम विभाजित नहीं होता। कथा में बाणभट्ट प्रेम का केन्द्र है। वहीं से चारों ओर प्रेम प्रसृत होता दीखता है। उस प्रेम की प्रतिक्रिया निपुणिका, भट्टिनी सुचरिता के प्रेम के रूप में होती है। दोनों पक्ष का प्रेम अहैतुक एवं स्वार्थरहित है। मानवता की पुकार इसी प्रेम के लिए है। इसी को आदर्श प्रेम कहते हैं। कथा के रचयिता ने हिन्दी उपन्यास के इतिहास में प्रेम संबंध में जो क्रांति की है वह अद्वितीय है, उसके आदर्श में मानवता का शाश्वत मधुर स्वर है।

आत्मकथा में आविर्भूत प्रेम की विशेषता उसकी उदात्तता है। यह सहानुभूति से उदित होकर उसीमें तिरोहित हो जाता है। प्रेम की सीमा कोई शर्त या धर्म नहीं है। ऐसी बात नहीं है कि प्रेम का प्रसार किसी एक ही स्तर पर होता हो। स्तर उसका प्रतिबन्ध नहीं है। वह तो मानवता जितना उदार है। नर लोक से किन्नर लोक तक एक ही रागात्मक हृदय की झलक दिखायी देती है। यहाँ तो उदारचित्त में वसुधा ही कुटुम्ब बन जाने की योग्यता रखती है।

बाणभट्ट की आत्मकथा का आरम्भ प्रेम के आविर्भाव का सूचक है और अन्त तिरोभाव का। इसी को उपसंहार में निगूढ़ और महत्त्व प्रेम की परिणति कहा गया है। साधारणतया प्रेम का जुड़ना और टूटना देखने में आता है किन्तु यहाँ जुड़ना और टूटना जैसी कोई चीज दिखायी ही नहीं पड़ती। हाँ यह दिखाई पड़ता है कि लेखक की दृष्टि में भट्ट निपुणिका और भट्टिनी—यही एक प्रेममयी त्रयी है। इसमें प्रेम जिस सहज रूप में आविर्भूत होता है उसी के अनुरूप सहजरूप में तिरोभूत भी हो जाता है। यदि आरम्भ के अनुरूप उसकी परिणति न होती तो प्रेम अपनी महत्ता को अक्षुण्ण न रख पाता और न वह अपनी उदात्तता और पावनता को ही सुरक्षित रख पाता। जिस पावन और वासनाहीन प्रेम से कथा का प्रारम्भ होता है उसकी परिणति भी पावन और वासनाहीन प्रेम में ही होती है। यदि प्रेम का आविर्भाव इतना सहज न होता तो उसका तिरोभाव अवश्य ही दुष्कर होता क्योंकि वासना का आरम्भ दुःखान्त होता है। यहाँ न दुःख है न सुख है, एक अनासक्ति का भाव है जिसमें मानवता का आग्रह और पावनता का प्रकाश है और ऐसे कथारम्भ के लिए यही उपयुक्त भी था।

१२. नारी का महत्त्व

मानवता की अनेक समस्याओं में से नारी की समस्या भी प्रधान है। प्रत्येक युग ने नारी की उपेक्षा की। पुरुष ने उसके सही मूल्य को आँकने में भयंकर भूल की। विलासियों ने नारी को विलास की सामग्री समझा और विरक्तों ने नारी के शरीर को नरक-कुण्ड बतलाया। इतिहास ने यही कहा है— 'पुरुषों के समस्त वैराग्य के आयोजन, तपस्या के विशाल मठ, मुक्ति साधना के अनुष्ठानीय साधन नारी की एक वंकिम दृष्टि में ही तो ढह गये हैं। क्या यह दृष्टि सर्वनाशिनी नहीं है?' यह वह दृष्टिकोण है जो कुण्ठितों की सृष्टि को विकृतरूप देता है।

नारी के दुःख की थाह लेने का प्रयत्न किसी ने नहीं किया। उस दुःख का अनुमान शायद किसी ने नहीं किया। 'स्त्री के दुःख इतने गंभीर होते हैं कि उनके शब्द उनका स्पर्श भी नहीं कर सकते। उस मर्म-वेदना का किंचित् आभास सहानुभूति के द्वारा ही पाया जा सकता है।' साधारणतः जिन स्त्रियों को चंचल और कुलभ्रष्ट माना जाता है, उनमें एक दैवी शक्ति होती है। यह बात लोग भूल जाते हैं।

इसमें सन्देह नहीं है कि स्त्री में कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं जिनको पुरुष समाज उनकी दुर्बलता बतलाता है। कहा जाता है कि पुरुष नारी की अपेक्षा अधिक सक्रिय होता है। यदि स्त्रियाँ चाहें भी तो आत्मसम्मानहीन होकर कहाँ काम कर सकती हैं? कुछ लोग यह समझने की भूल कर जाते हैं कि 'यूरोप की स्त्रियाँ सब कुछ कर सकती हैं।' यह गलत बात है। वे भी पराधीन हैं। 'समाज की पराधीनता जरूर कम है पर प्रकृति की पराधीनता तो हटाई नहीं जा सकती।' इसके अतिरिक्त सहनशीलता भी नारी की एक विशेषता या दुर्बलता मानी जाती है। नारी अपने मर्यादा-स्थान को कलङ्कित हुए बिना नहीं भुला सकती। उसका आचरण संयम की सीमा नहीं तोड़ सकता। सुकुमार भावना नारी का प्रमुख परिचय चिह्न है।

मानव-समाज कितना विडम्बनीय है कि पशु, पक्षियों और वस्तुओं की तरह इसमें नारी का क्रय-विक्रय होता रहा है। प्राचीन भारत में नगरों में निकली देवी के हाटों, बिचवानों और सम्पदा के कुछ प्रमुख अड्डे होने से वहाँ नारियों की इज्जत बिकती थी। नारी की यह दुर्दशा जो आधुनिक भारत के लिए शायद अपरिचित नहीं रही लेखक के मर्म को छुए बिना नहीं रहती है। वह तत्त्वचिन्तक के निम्न भाव के साथ नारी की व्याख्या इन शब्दों में प्रस्तुत करता है— 'यह वह मोम पिंड न नारी है, न पुरुष। वह निषेधतत्त्व ही नारी है। + + +। जहाँ कहीं अपने आपको समर्पण करने की, अपने आपको खपा देने की भावना प्रधान है, वहीं नारी है। जहाँ कहीं दुःख-सुख

की साथ-साथ कामों में अपने को दमित आशा के समान निचोड़ कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है वही नारी-तत्त्व है। + + + । नारी निषेधरूपा है। वह आनन्द भोग के लिए नहीं आती, आनन्द लुटाने के लिए आती है। उसका मानस धर्म की उर्वरा भूमि है। इसीलिए धर्म भावना को प्रश्रय और पोषण स्त्रियों से ही अधिक मिलता है।

कितने खेद की बात है कि त्याग और तपस्या की प्रतिमा नारी के प्रति सम्मान तो प्रसन्न रहा, सहानुभूति भी नहीं दिखाई गई। उसके शरीर को मिट्टी का ढेला समझ लिया गया। लेखक ने इस दुर्दशा को बड़ी वेदना से देखा और वह नारी के मुख से बोल उठा—"मेरा यह शरीर भार नहीं है, केवल मिट्टी का ढेला नहीं है—वह इससे बड़ा है। विधाता ने जब उसे बनाया था तो उनका उद्देश्य मुझ दण्ड देना नहीं था। उन्होंने मुझे नारी बनाकर मेरा उपकार किया था। फिर वह एक दूसरे स्वर में छट-पटा कर बोला—हे स्वर्ग की देवाङ्गना तुमने मर्त्य के इन अभिनेताओं को समझने में गलती की है, लेकिन यह प्रमाद बुरा नहीं है।

नारी-सौन्दर्य संसार की सबसे अधिक प्रभावोत्पादिनी शक्ति है वह पूजा की वस्तु है। इस रहस्य को बाणभट्ट ने समझा है जो स्त्री-शरीर को देव-मंदिर के समान पवित्र मानता है। इसीलिए वह उस पर की गई असत्कृत टीकाओं को सहन नहीं कर सकता। मनाएं देवता के पावन मंदिर के प्रति वह परम श्रद्धा रखता है। वह उस मंदिर के उचित गौरव की रक्षा के लिए सदैव कटिबद्ध रहता है। लोगों की आलो-चना के डर से उस मंदिर को कीचड़ में धसा हुआ छोड़ जाना उसके बस की बात नहीं है। वह उस पवित्र देव-प्रतिमा नारी-सौन्दर्य का अपमान किसी भी दशा में सहन नहीं कर सकता।

नारी से बढ़कर मनमोहक रत्न और क्या हो सकता है? नारी की-सी मोहकता कोमलता मधुरता और त्याग भावना और कहाँ है? उसके कोमल कंठ में कैसी अद्भुत शक्ति है? फिर भी उसकी ऐसी दुर्दशा! कितने विस्मय की बात है! सचमुच स्त्रियाँ ही रत्नों को भूषित करती हैं, रत्न स्त्रियों को क्या भूषित करेंगे! स्त्रियाँ तो रत्न के बिना भी मनोहारिणी होती हैं। धर्म कर्म भक्ति, ज्ञान शांति सौजन्य कुछ भी नारी का संस्पर्श पाये बिना मनोहर नहीं होते। नारी-देह वह स्पर्शमणि है जो प्रत्येक ईंट-पत्थर को सोना बना देती है।

आत्मकथाकार ने नारी को एक अद्भुत शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है। राज्य मठ सम्प-संचालन मठ-स्थापन और निर्जन वास पुरुष की समताहीन मर्यादाहीन ?? बलाहीन महत्त्वाकांक्षा के परिणाम हैं। इनको निर्यन्त्रित कर सकने की शक्ति नारी है। + + + इतिहास साक्षी है कि इस महिमामयी शक्ति की उपेक्षा करने वाले साम्राज्य

नष्ट होगये हैं, मठ विध्वस्त होगये हैं, ज्ञान और वैराग्य के जंजाल फेन-बुदबुद की भाँति क्षण भर में विलुप्त होगये हैं।

नारी का अपमान कब तक होगा? क्या यह कभी बन्द नहीं होगा? यह बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न है कि संसार की सबसे बहुमूल्य वस्तु क्या इसी प्रकार अपमानित होती रहेगी? इस प्रश्न का उत्तर भी इतना ही महत्वपूर्ण है—हाँ, जब तक राज्य रहेंगे, सैन्य-संगठन रहेंगे, पौरुष-दर्प का प्राचुर्य रहेगा, तब तक यह होता ही रहेगा।

जो लोग नारी का परित्याग करके तपस्या की बात करते हैं वे भूल करते हैं। 'नारीहीन तपस्या संसार की भद्दी भूल है।" पुरुष नारी के बिना शान्ति नहीं पा सकता। नारी-तत्व शान्ति की प्रथम आवश्यकता है। नारी-तत्व की प्रधानता के अभाव में गिरह-कटियों का दल भी देश में शान्ति की स्थापना नहीं कर सकता। अवधूत की साधना इसीलिए अधूरी रही कि उन्हें विशुद्ध-नारी का सहवास नहीं मिला, शक्ति नहीं मिली।

शक्ति स्त्री का ही नाम है। स्त्री में त्रिभुवनमोहिनी का वास होता है। निपुणिका के शब्दों में नारी की सार्थकता का कितना सुन्दर संकेत है— 'मैंने प्रथम बार अनुभव किया कि मेरे भीतर एक देवता है जो नारायण के अभाव में मुरझाया हुआ छिपा बैठा है। मैंने प्रथम बार अनुभव किया कि भगवान् ने नारी बनाकर मुझे धन्य किया है मैं अपनी सार्थकता पहचान गई।" + + 'सारा जीवन मैं इसी विश्वास पर चलती रही हूँ। जप तप, साधन भजन सबका एक लक्ष्य रहा है—सार्थकता।" संक्षेप में दार्शनिक निष्कर्ष केवल यह है कि नारी की सफलता पुरुष को बाँधनेमें है और सार्थकता उसको मुक्त करने में।

●

१३ साधना तथा नारी

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो 'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक विचित्र दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें बौद्ध, जैन और शाक्त दर्शन तो है ही समाज-दर्शन भी है जिसमें जीवन दर्शन की झाँकियों में नारी-दर्शन भी है। नारी के संबन्ध में लेखक की अपनी विचारधारा है यद्यपि उसका मूल आधार शाक्त मत में मिल सकता है। इसी प्रकार झूठ और सत्य के सम्बन्ध में भी लेखक ने निजी मत दिया है। कुछ मतों को पुष्ट करने के लिए लेखक के पास महाभारतादि ग्रन्थों के तर्क हैं और कुछ उसकी मौलिक उद्भावनाएँ हैं।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' का समस्त वातावरण हर्षकालीन है। वह वह समय था जबकि बौद्ध धर्म विकसित रूप में था। वैदिक धर्म से टक्कर लेने के लिए यदि कोई धर्म उस समय समर्थ था तो बौद्ध धर्म था। इधर शैव मत में कुछ वासनात्मक घटनाएँ भी घट गई थीं और उसके नए सिद्धान्त चेहरे पर चेचक के दागों की तरह टँक गये थे। उस समय कौलाचार कुछ नई मान्यताओं से आविर्भूत हो रहा था। शैव मत एक ओर शक्ति की मान्यता की प्रबलता से शाक्त मत को प्रेरित कर रहा था। भक्ति भी अपनी डगमगाती टाँगों से अपनी गति बढ़ाने के लिए जनता का अवलम्ब खोज रही थी। बाणभट्ट की आत्मकथा से यह स्पष्टतः बोधित होता है कि उस समय वाराहोपासना का प्रचार विष्णु के चतुर्भुज रूप से अधिक था।

बौद्ध-दर्शनवाद के शून्यवाद ने देश में पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर ली थी। असंग के वचन से 'शून्यता' को बहुत महत्त्व मिल चुका था और इस महत्त्व की चर्चा चारों ओर होती रहती थी। दर्शन के क्षेत्र के लिए 'शून्य' की प्रतिपत्ति एक समस्या थी क्योंकि जो वस्तु है भी नहीं, नहीं भी नहीं है और नहीं दोनों में भी नहीं और इन दोनों का अभाव भी नहीं उसे 'शून्यता' कहा गया। इसका सही बोध 'निरालम्ब' और 'परम-तत्त्व' जैसे शब्द नहीं करा सकते थे।

सौगत पंडितों का एक सम्प्रदाय 'निरालम्ब' शब्द को महत्त्व देने लगा था किन्तु इस निषेधात्मक शब्द से उस वस्तु का बोध नहीं हो सकता था जो 'नहीं भी नहीं'। और परम तत्त्व कहने से 'तत्' वस्तु की सत्ता तो माननी ही पड़ेगी फिर उसे 'है भी नहीं' कैसे कहा जा सकता है?"[1] वस्तुस्थिति यह है कि शून्यता या निरालम्ब या निर्वाण एक अनुभवगम्य वस्तु है। यह भाषा की कमजोरी है कि वह उस पदार्थ को कह नहीं सकती। यह तो केवल प्रतीति के लिए एक काम-चलाऊ शब्द-व्यवहार किया गया है।

---

१ बा॰ आ॰ क॰, पृ १२-१३।

एक दूसरी समस्या इस आत्मकथा में बुद्ध के पूजा-ग्रहण के संबंध में उठाई गई है। बुद्ध निर्वाण प्राप्त होने के पश्चात् भी पूजा कैसे ग्रहण करते हैं? इसी प्रश्न से दो आशंकाएं फूटती हैं—प्रथम यह कि बुद्ध पूजा ग्रहण करते हैं। ऐसी अवस्था में लोक के साथ उनका संयोग है, वे भव के ही अन्तर्गत हैं और देव और मनुष्यों की भांति एक साधारण व्यक्ति हैं। फिर उनकी पूजा निष्फल हो जाती है वन्ध्य सिद्ध होती है। दूसरी बात यह हो सकती है कि वे परिनिर्वाण प्राप्त कर गये हैं, लोक के साथ उनका कोई संबंध नहीं है वे भव से मुक्त हैं। ऐसी अवस्था में भी उनकी पूजा निष्फल होगी क्योंकि परिनिर्वाण-प्राप्त व्यक्ति कुछ ग्रहण नहीं कर सकता और ऐसे व्यक्ति के उद्देश्य से निवेदन की हुई पूजा वन्ध्य है निष्फल है।

इस समस्या का समाधान अग्नि और इंधन के दृष्टान्त से किया गया है। 'कोई अतिमहान् अग्नि-राशि जब प्रज्वलित होकर निर्वाण को प्राप्त होती है बुझ जाती है तो तृणकाष्ठ आदि इन्धन-समूह को ग्रहण नहीं करती है, किन्तु वह अग्नि जब उपशान्त-उपशान्त हो जाती है तो संसार में से अग्नि का होना एक दम नहीं उठ जाता है। क्योंकि इंधन-रूप काष्ठ अग्नि का आश्रय-स्थान है अतएव अग्नि की कामना करने वाले मनुष्य अपने-अपने उद्यम से अग्नि उत्पन्न कर लेते हैं। वे काष्ठ का मंथन करके या अन्य स्थान से अग्नि-संग्रह करके फिर से महान् अग्नि-राशि उत्पन्न कर लेते हैं और अपना काम चलाते हैं। [1]

'इसी प्रकार भगवान् की बात समझनी चाहिये। 'जिस प्रकार महान् अग्नि राशि प्रज्वलित हुई थी भगवान् भी उसी प्रकार दस सहस्र संसार के ऊपर बुद्ध-लक्ष्मी द्वारा प्रज्वलित हुए थे। जिस प्रकार वह महान् अग्नि-राशि प्रज्वलित होकर निर्वाण-प्राप्त हुई थी उसी प्रकार भगवान् भी दस सहस्र लोक के ऊपर बुद्ध-लक्ष्मी द्वारा प्रज्वलित होने के पश्चात् निरवशेष निर्वाण द्वारा परिनिर्वाण प्राप्त हुए थे। जिस प्रकार निर्वाण-प्राप्त अग्नि तृण, काष्ठ आदि इन्धनों को नहीं ग्रहण करती उसी प्रकार लोक-हितकारी भगवान् भी कुछ परिग्रहण नहीं करते। परन्तु जिस प्रकार इन्धनहीन अग्नि के निर्वाण प्राप्त होने पर मनुष्यगण अपने अपने उद्यम से अग्नि उत्पन्न करके अपना-अपना कार्य सिद्ध करते हैं उसी प्रकार देव और मनुष्य-गण परिनिर्वाण-प्राप्त तथागत के धातुरत्नों से स्तूपादि निर्माण करके शीलादि का अनुष्ठान करते हैं और सम्पत्ति-त्रय प्राप्त करते हैं। इस प्रकार यद्यपि तथागत कुछ भी ग्रहण नहीं करते तथापि उनके उद्देश्य से निवेदित पूजा सफल होती है अवन्ध्य होती है।'[2]

उक्त समस्या के हल के लिए दूसरा दृष्टान्त 'वायु' का है। महान् वायु बह जाने के बाद जब उपरत-उपशान्त हो जाती है तो उसकी वायु-सत्ता नहीं हो सकती है। ताल

---

१ देखिये वा० पा० क० पृ० २१८-२१९।

२ वा० पा० क० पृ० २१९-२२०।

शुष्क और म्यजनवायु के कारण हैं। जिन्हें वायु की आवश्यकता होती है, वे अपने उद्यम से उसे उत्पन्न करके अपना ताप शमन करते हैं। वैसे ही शास्ता (बुद्ध) इस सहस्र लोकों पर मृदु-मधुर वायु के समान मैत्री रूप में बहते रहे। जिस प्रकार प्रचण्ड वायु बह जाने के बाद उपरत-उपशान्त हो जाती है वैसे ही भगवान् भी निर्वाण को प्राप्त हो गये। जिस प्रकार तापग्रस्त प्राणी व्यजन के सहारे वायु को फिर से पैदा कर अपना ताप शमन करते हैं उसी प्रकार देवता और मनुष्य भगवान् के शरीर-धातु की सहायता से शीलादि का अनुष्ठान करके भव-ताप दूर करते हैं। इस प्रकार यद्यपि तथागत कुछ भी ग्रहण नहीं करते तथापि उनके उद्देश्य से निवेदित पूजा सफल होती है अवन्ध्य होती है। १

भगवान् बुद्ध के सम्बन्ध में एक प्रश्न और उठाया गया है कि वे ध्यान करने पर ही कुछ जान सकते थे, नहीं तो तत्क्षण वे उसी प्रकार मुग्ध रहते थे, जिस प्रकार हम लोग हैं। यह बात ठीक है। भगवान् की सर्वज्ञता इसी में थी कि वे ध्यान से सब बातों को जान लेते थे।

किन्तु इससे भगवान् की सर्वज्ञता खण्डित नहीं होती। इसकी स्थापना के लिए चक्रवर्ती राजा का दृष्टान्त दिया गया है। उसके घर में दाल दूध दही घृत शर्करा आदि का कोई अभाव नहीं है। यदि कोई अतिथि उसके घर असमय में आ जाये उस समय भोजनालय का पक्का अन्न समाप्त हो चुका हो और उसके अतिथि सत्कार में देर हो जावे तो वह निर्धन सिद्ध नहीं हो सकता। समय-बे-समय चक्रवर्ती के भोजनागार में भी अन्न नहीं रहता परन्तु इसीलिए वह निर्धन नहीं कहा जा सकता। इसी तरह बुद्धों की सर्वज्ञता आवर्जन-प्रतिबद्ध होती है तत्क्षण ज्ञान के अभाव में वे मुग्ध नहीं सिद्ध होते। वे ध्यान करते ही सब कुछ जान लेते हैं। यही साधारण जनों से वे विशिष्ट होते हैं। २

इस रचना में सौगत-तत्त्व की कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। उनका प्रथम सिद्धान्त नैरात्म्य की भावना में स्थिर रहने का है। नैरात्म्यवादी अपने ऊपर विश्वास करने वाले को भी छोड़ सकता है उसे तुम और मैं का भेद भूलने में कोई रस नहीं मिलता। वह पुरुष और स्त्री का भेद भूल जाता है। बुद्ध और बुद्ध का भेद उसे अच्छा नहीं लगता।३

बौद्ध दर्शन के साथ कौलाचार-दर्शन की समानता का प्रयत्न भी इस रचना में मिलता है। कौल-मार्ग की साधना शक्ति पर आधारित है। उसमें प्रज्ञाशक्ति के महत्त्व की प्रतिष्ठा है। कौलाचार-दर्शन पुरुष और स्त्री के भेद-भाव को स्वीकार नहीं करता। जब तक यह भेद रहता है तब तक साधना अधूरी या अपूर्ण रहती है और जब तक

१ बा० आ० च०, पृ० २२१।
२ वही० पृ० २२१–२२२।
३ वही, पृ० १०१।

आसक्ति बनी रहती है तब तक तुम और मैं का भेद नहीं मिटता। कौल-मार्ग न प्रवृत्तियों के छिपाने को उचित समझता है, न उनसे डरने का ही समर्थन करता है और न उनसे लिप्त होने को ही युक्तियुक्त मानता है। गुरु की आज्ञा प्रधान होती है। साधना चक्र में बैठना अनिवार्य है।

इस चक्र में सिद्ध के साथ प्रायः साधक ही बैठते हैं। इसमें आनन्दभैरव और आनन्दभैरवी की आराधना अभिप्रेत होती है। दोनों का सम्मिलित वाहन वृष माना जाता है। आनन्दभैरव के शरीर में कोटि-कोटि सूर्यों की और कोटि-कोटि चन्द्रमा से अधिक शीतलता की कल्पना की जाती है। वे अठारह हाथ वाले होते हैं। आनन्दभैरवी सुरा देवी उनकी सहचरी है। आनन्दभैरव के समान इनके भी पाँच मुख तीन नेत्र और अठारह भुजाएं मानी जाती हैं। आनन्दभैरवी का वर्ण हिम कुन्द और चन्द्र की भाँति धवल है। वे आनन्द की मूर्ति मन्त्रों की प्रभव-भूमि सौन्दर्य की विश्रान्ति-स्थल माया का आवास-गृह और यौवन का मूर्त विग्रह मानी जाती हैं।[1]

चक्र के केन्द्रस्थल में लाल कपड़े से ढँका हुआ कारण (मदिरा) से भरा पात्र और उसके ऊपर अष्टदल कमल के आकार का कोई पात्र रहता है। साधक आनन्द भैरव और सुरादेवी का ध्यान करता है और जप करते जाते हैं। सुरादेवी की प्रतिनिधि महामाया कारण घट से पात्र पूर्ण करती हुई अस्फुट ध्वनि में मन्त्र पढ़ती जाती है। पात्र उठा कर देने से पूर्व वे सुधा-देवी का मन्त्र पढ़ती हैं। फिर दोनों हाथों के सहयोग से कुछ विशेष मुद्राओं से पात्र को सुशोभित किया जाता है और फिर एक बार उसके चारों ओर चुटकी बजा कर कोई अनुष्ठान किया जाता है। सम्भवतः यह दिग्बन्धन की विधि होती है। जैसे ही गुरु पात्र को उठाता है वैसे ही साधक भी अपने-अपने पात्र उठा लेते हैं। प्रथम पात्र की वन्दना-स्तुति यह मन्त्र प्रस्तुत करता है।

श्रीमद्भैरवशेखर प्रविलसच्चन्द्रामृताप्लावितम्
क्षेत्राधीश्वरयोगिनीसुरगणैः सिद्धैः समाराधितम् ॥
आनन्दार्णवकं महात्मकमिदं साक्षात्त्रिखण्डामृतम्
वन्दे श्रीप्रथमं कराम्बुजगतं पात्रं विशुद्धिप्रदम् ॥

(कौलावलीनिर्णय अष्टम उल्लास)

गुरु अपनी शक्ति के अधरों से लगा कर सुरा पीते हैं। साधक भी वैसा ही करते हैं। सुरा-पान के समय साधक लोग दाहिने हाथ से कुछ विशेष प्रकार की मुद्राएं बनाते हैं। वे इस प्रकार से सात बार पान करते हैं और पान के साथ मुद्रा और जप चलता रहता है। चक्र-साधना के अन्त में शान्तिपाठ होता है। इस अवसर पर कुंकुम-धूप से वातावरण को सुगन्धित किया जाता है। साधकों के मस्तकों पर सिन्दूर-तिलक लगाया जाता

---

१ आ० सा० क० पृ० १०४-१०६।

है। इस अवसर पर प्रसाद वितरण किया जाता है जिसमें मधु, मदिरा, भुना हुआ अन्न तथा अपराजित पुष्प के गुच्छ तक होते हैं। कौल-गुरु सिद्ध अवधूत भी कहलाते हैं।

इस मत में स्त्री-पुरुष की शक्ति मानी जाती है जिसके बिना साधना नहीं चल सकती। स्त्री में त्रिभुवनमोहिनी का वास होता है। यह पुरुष का सत्य है। स्त्री का सत्य ठीक वैसा ही नहीं है, किन्तु उसका विरोधी नहीं पूरक है। पूरक अविरोधी हुआ करता है।

इस मत के अनुसार साधकों को दो बातें मुख्यतया अभिप्रेत होती हैं—कुण्डलिनी की जागृति तथा कौल-अवधूत का प्रसाद। मनुष्य-शरीर देवता का निवास है। नर-नारी का जो रूप साधक को मोह ले वही उसका देवता है।

पुरुष वस्तु-विच्छिन्न भाव-रूप सत्य में आनन्द का साक्षात्कार करता है, स्त्री वस्तु-परिगृहीत रूप में रस पाती है। पुरुष निःसंग है, स्त्री आसक्त; पुरुष निर्द्वन्द्व है, स्त्री द्वन्द्वोन्मुखी; पुरुष मुक्त है, स्त्री बद्ध। पुरुष स्त्री को शक्ति समझ कर ही पूर्ण हो सकता है पर स्त्री स्त्री को शक्ति समझ कर अधूरी रह जाती है।[1]

स्त्री की पूर्णता के लिए पुरुष को शक्तिमान् मानने की आवश्यकता नहीं है। उससे स्त्री अपना कोई उपकार नहीं कर सकती पुरुष का अपकार कर सकती है। स्त्री प्रकृति है उसकी सफलता पुरुष को बाँधने में है किन्तु सार्थकता पुरुष की मुक्ति में है।

पुरुष अपने को पुरुष और स्त्री अपने को स्त्री समझने की भूल कर सकती है, किन्तु कौल मत में यह भूल प्रसार है। स्त्री में पुरुष की अपेक्षा प्रकृति की अभिव्यक्ति की मात्रा अधिक है, इसलिए वह स्त्री है। पुरुष में प्रकृति की अपेक्षा पुरुष की अभिव्यक्ति अधिक है, इसलिए वह पुरुष है। यह लोक की प्रज्ञप्ति-प्रथा है वास्तव सत्य नहीं। ऐसी स्त्री प्रकृति नहीं है प्रकृति का अपेक्षाकृत निकटतम प्रतिनिधि है और ऐसा पुरुष प्रकृति का दूरस्थ प्रतिनिधि है। यह सम्भव है कि पुरुष में उसके ही भीतर के प्रकृति-तत्त्व की अपेक्षा पुरुष-तत्त्व अधिक हो किन्तु यह भी सम्भव है कि वह पुरुष तत्त्व किसी स्त्री के पुरुषतत्त्व की अपेक्षा अधिक न हो। इससे स्त्री पुरुष की अपेक्षा अधिक निःसंग अधिक निर्द्वन्द्व और अधिक मुक्त हो सकती है। ऐसी स्त्री अपने भीतर की अधिक मात्रा वाली प्रकृति को अपने ही भीतर वाले पुरुष-तत्त्व से अभिभूत नहीं कर सकती। ऐसी स्त्री की साधना किसी भी 'पुरुष' प्रज्ञप्ति वाले मनुष्य के योग से कदापि नहीं हो सकती। विशेष पुरुष ऐसी स्त्री को उसकी अन्तःस्थिता प्रकृति के रूप में सार्थकता प्रदान करता है।

'परम शिव के दो तत्त्व एक ही साथ प्रकट हुए थे—शिव और शक्ति। शिव विधिरूप है और शक्ति निषेधरूपा। इन्हीं दो तत्त्वों के प्रस्पन्द-निस्पन्द से यह संसार

---

१ बा० भा० क० पृ ११०।

आभासित हो रहा है। पिण्ड में शिव का प्राधान्य ही पुरुष है और शक्ति का प्राधान्य नारी।"[१]

इस मांस-पिण्ड को स्त्री या पुरुष समझना भूल है। यह जड़ मांस-पिण्ड न नारी है न पुरुष। वह निषेधरूप तत्त्व ही नारी है। + + + 'जहाँ कहीं अपने आपको उत्सर्ग करने की, अपने आपको खपा देने की भावना प्रधान है, वही नारी है। जहाँ कहीं दुःख-सुख की लाख-लाख धाराओं में अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है, वही नारी-तत्त्व है, या शास्त्रीय भाषा में कहना हो तो 'शक्ति-तत्त्व' है। नारी निषेधरूपा है। वह आनन्द भोगने के लिए नहीं आती, आनन्द लुटाने के लिए आती है।"[२]

साधक को त्रिभुवनमोहिनी जिस रूप में मोह ले, वही उसका देवता है। उसी रूप की पूजा करनी चाहिये।

यह जो कुछ हो रहा है त्रिपुर भैरवी की ही लीला है। शूलपाणि की मुण्डमाल की रचना में कोई भी बाधा नहीं डाल सकता। उसकी लीला को केवल वही मोड़ सकता है जिसने अपने को सम्पूर्णरूप में त्रिपुर-भैरवी के साथ एक कर दिया है। त्रिपुर-सुन्दरी को जो जितना दे देता है उतना ही उसका अपना सत्य होता है।'[३]

बौद्ध और शैव साधना में योग का स्थान भी प्रमुख रहा है। इस रचना में लेखक योग की ओर संकेत करके रह गया है सम्भवतः इसलिए कि योग-निरूपण उसको अभिप्रेत नहीं था। चक्र-साधना में पद्मासन की बात की गई है। एक स्थान पर प्राणों और नाड़ियों का उल्लेख हुआ है। योग के ग्रन्थों में बहत्तर हजार नाड़ियाँ बताई गई हैं। सम्मोहन के संबंध से नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय नामक पाँच प्राणों का उल्लेख किया गया है। सम्भवतः शेष पंच प्राणों से सम्मोहन का संबंध दिखलाना लेखक को इष्ट नहीं है।

जिस प्रकार सम्मोहन का संबंध पंच प्राणों से जोड़ा गया है उसी प्रकार बहत्तर हजार नाड़ियों में से केवल पाँच का संबंध मन से जोड़ा गया है। कल्पिका से संकल्प और विकल्पिका से अनेक विकल्प होते हैं। रसीका से जड़ता आती है, मूर्च्छिता से मूर्च्छा आती है और मन्या से मनः शान्ति प्राप्त होती है।

बौद्ध और शैव-साधना के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में भक्ति-साधना का भी उल्लेख है। लेखक ने जो रुचि भक्ति की ओर दिखाई है वह इतर साधनाओं की ओर नहीं है। बौद्ध दर्शन अपनी स्थापनाओं से विलक्षण है, कौल-मार्ग की साधना विलक्षण है, किन्तु भक्ति का हारक प्रभाव सबसे अधिक विलक्षण है। लेखक ने आत्मकथा में जिस प्रकार भक्ति

---

१ बा० भ० आ० पृ० १८३।

२ वही पृ० १८४।

३ वही, पृ० ३०१।

है। इस अवसर पर प्रसाद वितरण किया जाता है जिसमें मधु, मदरस, भुना हुआ कन्द तथा अपराजित पुष्प के गुच्छ दल होते हैं। कौल-गुरु सिद्ध अवधूत भी कहलाते हैं।

इस मत में स्त्री-पुरुष की शक्ति मानी जाती है जिसके बिना साधना नहीं चल सकती। स्त्री में त्रिपुरसुन्दरी का वास होता है। यह पुरुष का सत्य है। स्त्री का सत्य ठीक वैसा ही नहीं है, किन्तु उसका विरोधी नहीं पूरक है। पूरक अविरोधी हुआ करता है।

इस मत के अनुसार साधकों को दो बातें प्रमुखतया अभिप्रेत होती हैं—कुण्डलिनी की जागृति तथा कौल-अवधूत का प्रसाद। मनुष्य-शरीर देवता का निवास है। नर-नारी का जो रूप साधक को मोह ले वही उसका देवता है।

पुरुष वस्तु—विच्छिन्न भाव-रूप सत्य से आनन्द का साक्षात्कार करता है, स्त्री वस्तु-परिगृहीत रूप में रस पाती है। पुरुष निःसंग है, स्त्री आसक्त; पुरुष निर्द्वन्द्व है, स्त्री द्वन्द्वोन्मुखी; पुरुष मुक्त है, स्त्री बद्ध। पुरुष स्त्री को शक्ति समझ कर ही पूर्ण हो सकता है, पर स्त्री स्त्री को शक्ति समझ कर अधूरी रह जाती है।"[१]

स्त्री की पूर्णता के लिए पुरुष को शक्तिमान् मानने की आवश्यकता नहीं है। उससे स्त्री अपना कोई उपकार नहीं कर सकती, पुरुष का अपकार कर सकती है। स्त्री प्रकृति है, उसकी सफलता पुरुष को बाँधने में है, किन्तु सार्थकता पुरुष की मुक्ति में है।

पुरुष अपने को पुरुष और स्त्री अपने को स्त्री समझने की भूल कर सकती है किन्तु कौल मत में यह भ्रम प्रमाद है। स्त्री में पुरुष की अपेक्षा प्रकृति की अभिव्यक्ति की मात्रा अधिक है, इसलिए वह स्त्री है। पुरुष में प्रकृति की अपेक्षा पुरुष की अभिव्यक्ति अधिक है, इसलिए वह पुरुष है। यह लोक की प्रज्ञप्ति मात्र है, वास्तव सत्य नहीं। ऐसी स्त्री प्रकृति नहीं है, प्रकृति का अपेक्षाकृत निकटस्थ प्रतिनिधि है और ऐसा पुरुष प्रकृति का दूरस्थ प्रतिनिधि है। यह संभव है कि पुरुष में उसके ही भीतर के प्रकृति-तत्त्व की अपेक्षा पुरुष-तत्त्व अधिक हो, किन्तु यह भी संभव है कि वह पुरुष तत्त्व किसी स्त्री के पुरुषतत्त्व की अपेक्षा अधिक न हो। इससे स्त्री पुरुष की अपेक्षा अधिक निःसंग, अधिक निर्द्वन्द्व और अधिक मुक्त हो सकती है। ऐसी स्त्री अपने भीतर की अधिक मात्रा वाली प्रकृति को अपने ही भीतर वाले पुरुष-तत्त्व से अभिभूत नहीं कर सकती। ऐसी स्त्री की साधना किसी भी 'पुरुष' प्रज्ञप्ति वाले मनुष्य के योग से कदापि नहीं हो सकती। विशेष पुरुष ऐसी स्त्री को उसकी अन्तःस्थिता प्रकृति के रूप में सार्थकता प्रदान करता है।

"परम शिव के दो गुण एक ही साथ प्रकट हुए थे—शिव और शक्ति। शिव विधिरूप है और शक्ति निषेधरूपा। इन्हीं दो तत्त्वों के प्रस्पन्द-विस्पन्द से यह संसार

१ बा० आ० क० पृ० ११०।

आमासित हो रहा है। पिण्ड में शिव का प्राधान्य ही पुरुष है और शक्ति का प्राधान्य नारी।"१

इस मांस-पिण्ड को स्त्री या पुरुष समझना भूल है। यह जड़ मांस-पिण्ड न नारी है न पुरुष। वह निषेधरूप तत्त्व ही नारी है। + + + 'जहाँ कहीं अपने आपको उत्सर्ग करने की, अपने आपको खपा देने की भावना प्रधान है, वहीं नारी है। जहाँ कहीं दुःख-सुख की लाख-लाख धाराओं में अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है वही नारी-तत्त्व है, या शास्त्रीय भाषा में कहना हो तो 'शक्ति-तत्त्व' है। नारी निषेधरूपा है। वह आनन्द भोगने के लिए नहीं आती आनन्द लुटाने के लिए आती है।"२

साधक को त्रिपुरमोहिनी जिस रूप में मोह ले वही उसका देवता है। उसे उसी रूप की पूजा करनी चाहिये।

'यह जो कुछ हो रहा है त्रिपुर भैरवी की ही लीला है। शूलपाणि की मुण्डमाल की रचना में कोई भी बाधा नहीं डाल सकता। उसकी लीला को केवल वही मोड़ सकता है जिसने अपने को सम्पूर्णरूप में त्रिपुर भैरवी के साथ एक कर दिया है। त्रिपुर-सुन्दरी को जो जितना दे देता है उतना ही उसका अपना सत्य होता है।"३

बौद्ध और शैव साधना में योग का स्थान भी प्रमुख रहा है। इस रचना में लेखक योग की ओर संकेत करके रह गया है सम्भवतः इसलिए कि योग-निरूपण उसको अभिप्रेत नहीं था। चक्र-साधना में पद्मासन की बात की गई है। एक स्थान पर प्राणों और नाड़ियोंका उल्लेख हुआ है। योगके ग्रन्थों में बहत्तर हजार नाड़ियाँ बताई गई हैं। सम्मोहन के सदय से नाग कूर्म कृकल देवदत्त और धनञ्जय नामक पाँच प्राणों का उल्लेख किया गया है। सम्भवतः शेष पंच प्राणों से सम्मोहन का संबंध दिखलाना लेखक को इष्ट नहीं है।

जिस प्रकार सम्मोहन का संबंध पंच प्राणों से जोड़ा गया है उसी प्रकार बहत्तर हजार नाड़ियों में से केवल पाँच का संबंध मन से जोड़ा गया है। कल्पिका से संकल्प और विकल्पिका से अनेक विकल्प होते हैं। रमोता से जड़ता आती है मूर्च्छना से मूर्च्छा आती है और मन्दा से मनः शक्ति प्राप्त होता है।

बौद्ध और शैव-साधना के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में भक्ति-साधना का भी उल्लेख है। लेखक की जो रुचि भक्ति की ओर दिखाई है वह इतर साधनाओं की ओर नहीं है। बौद्ध दर्शन अपनी व्याख्याओं से विभ्रम है कौल-मार्ग की साधना विभ्रम है किन्तु भक्ति का प्राकृत प्रभाव सबसे अधिक विस्तृत है। लेखक ने आत्मकथा में जिस प्रकार भक्ति

१ बा० आ० क० पृ १२३।
२ वही पृ० १४४।
३ वही पृ० १०१।

का परिचय दिया है उससे भक्ति के विकास पर भी प्रकाश पड़ जाता है। बाणभट्ट के प्रति युग की यह वाणी भक्ति के विकास को अति संक्षेप में ही सही सामने ला देती है—

"वे वेंकटेश भट्ट पहले उड्डीयान पीठ में कौलमत तंत्र की उपासना करते थे। वहाँ से न जाने क्या बात हुई कि वे श्रीपर्वत पर चले आये और अब तो कान्यकुब्ज को ही पवित्र कर रहे हैं। शुरू-शुरू में कुछ चपलस्वभावा स्त्रियों ने ही उनसे दीक्षा ली थी। एक छोटे अन्तःपुर की परिचारिका निउणिका थी उसने सबसे प्रथम दीक्षा ली थी। वह तुरन्त कहीं अन्तर्धान हो गई। दूसरी चेली उसी की एक सखी सुचरिता हुई। इसी गली में वह नाचने में प्रसिद्ध थी। वह इस समय नगर की प्रधान भक्तिमती मानी जाने लगी है। अब तो यह हालत है कि संध्या हुई नहीं कि नगर का अन्तःपुर निःशेष भाव से उमड़ कर इस आयोजन में शामिल हो जाता है। कांस्य और करताल के साथ सम्यक् नाच उन्माद का वातावरण पैदा करता है और उसमें सुचरिता के गान मोहिनी मन्त्र की तरह सबको मन्त्रमुग्ध बना देते हैं। वेंकटेश भट्ट जब आवेश में नाच उठते हैं, तो ऐसा समझ है कि धूर्तों का राजा आसव पीकर प्रमत्त हो गया है। यह विचित्र धर्म है।'[1]

इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ७वीं शती में कुछ लोग कौलमत-तन्त्र को छोड़ने लगे थे। संभवतः बौद्ध धर्म की बढ़ती हुई विकृतियों से कुछ लोगों की रुचि समाप्त हो गई थी। सातवीं शती में भक्ति की उत्पत्ति हुई और पहले-पहल इसकी ओर कुछ स्त्रियाँ आकृष्ट हुईं। धीरे-धीरे भक्ति-भावना स्त्रियों के हृदय में अपना घर करती गई। भक्ति में गीत संगीत और नृत्य को प्रश्रय मिलने से सामान्य आकर्षण भी कुछ अधिक हो गई। प्रारम्भ में भक्ति पुरुषों का विशेषतः उच्चवर्ण के पुरुषों को मुग्ध न कर सकी।

बाणभट्ट ने मंत्रप्रस्थ वेंकटेश का जो वर्णन किया है, वह भी भागवत धर्म के विकास की—एक अद्भुत मिश्रण की—सूचना देता है। आचार्य वेंकटेश भट्ट एक चन्दन काष्ठ के आसन पर पद्मासन बाँध कर बैठे थे। उनके मुख से एक प्रकार का आनन्द-प्रसन्न भाव प्रकट हो रहा था आसन के ठीक सामने एक वेदी पर कलश स्थापित था। ×× नाग और लम्बुक से एक ऊर्ध्वमुख त्रिकोण को आड़े भाव से विद्ध करके अधोमुख त्रिकोण चक्र ठीक उसी प्रकार अंकित था जिस प्रकार शाक्त तान्त्रिकों का श्रीचक्र हुआ करता है। इस चक्र के मध्य में प्रफुल्ल शतदल देख कर मैं और भी आश्चर्य चकित रह गया। मैंने अब तक यही समझा था कि ऊर्ध्वमुख त्रिकोण शिवतत्त्व का प्रतीक है और अधोमुख त्रिकोण शक्तितत्त्व का। भागवत सम्प्रदाय से तो इनका दूर का सम्बन्ध भी नहीं है। यह चक्र तो किसी प्रकार यहाँ नहीं चल सकता क्योंकि चक्र के साथ शंख होना चाहिये। ऐसा होता तो सौगत तन्त्र ही इसे मान लेते परन्तु यह तो अद्भुत मिश्रण है। मगध का साधारण मनुष्य भी इस अनुष्ठान का विरोध किये बिना नहीं रह सकता परन्तु

1, बा० भा० क० पृ० २२८।

कान्यकुब्ज विचित्र देश है। यहाँ बाह्य आचारों में तो तिलमात्र भी परिवर्तन नहीं सहन किया जाता, पर धार्मिक अनुष्ठान में प्रतिदिन नये-नये उपादान मिश्रित होते रहते हैं। ××× 'मैंने और भी ध्यान से चक्र को देखा केन्द्र में बड़ा पद्म था उसके चारों ओर सिन्दूर से एक गोल चक्र अंकित था। इस साधना का क्रम यही था क्या? पद्म के ऊपर ताँबे का घट स्थापित था। घट के ऊपर आम के पल्लव थे और उनके भी ऊपर एक ताम्र पात्र में जो भरा हुआ था। अभी दीप-स्थापन की क्रिया चल रही थी। आचार्य की दाहिनी ओर एक वृद्ध पुरोहित मन्त्रोच्चार कर रहे थे और एक युवती स्त्री उनकी बताई हुई विधि से क्रिया कर रही थी। ××× 'फिर पुरोहित के होम-काल-कालीन संकल्प-वाक्य से मेरा अनुमान सत्य सिद्ध हुआ। ××× 'भक्ति-भाव से आगुओं के बल बढ़ी हुई। बुद्ध की पूजा ही उसकी क्रिया का प्रधान अङ्ग जान पड़ता था।"[1]

इससे प्रकट हो जाता है कि भक्ति के अनुष्ठान में नये उपादान मिश्रित हो गये थे। भागवत सम्प्रदाय सौगतों और शाक्तों की कुछ धार्मिक प्रक्रियाओं से भी प्रभावित हो गया था। भक्ति में बुद्ध की पूजा प्रमुख थी। भारती का प्रचलन हो गया था। स्वयं बाणभट्ट के मुख से लेखक ने कहलवाया है कि— 'धर्म चर्चा का यह अभिनव आयोजन था। यह एकदम नई वस्तु थी। संगीत और वाद्य का ऐसा मधुर मिश्रण मैंने कभी नहीं सुना था।"[2] इतर आयोजनों में स्त्रियों को वाद्य बजाते नहीं देखा जाता था किन्तु इस भजन-साधन में स्त्रियाँ वाद्य बजाती थीं। कुछ नाम-कीर्तन करते-कराते थे और फिर वे नारायण-नारायण आदि कह कर नाच उठते थे।

भक्ति के लिए भगवान के दो रूप ही चुने गये दिखलाये गये हैं—महावराह की मूर्ति और क्षीर-शायस्वामी नारायण की मूर्ति। महावराह की मूर्ति का उल्लेख इस प्रकार किया गया है— 'महावराह की भावपूर्ण मूर्ति पुष्पमाल्य से विभूषित विराज रही थी। महावराह का विशाल दंष्ट्रा आकाश की ओर इस प्रकार उठा हुआ था मानो अभी वेग पूर्वक समुद्र से बाहर उठा है, उस पर धरित्री की भीति-चकित मूर्ति बहुत ही मनोहारिणी दिख रही थी। महावराह की आँखें ठीक प्रस्फुटित पद्म के समान खिल रही थीं और सारा शरीर उन्मत्त के समान अनभिज्ञ हीनवर्ण का दिख रहा था।'[3]

क्षीर-शायस्वामी नारायण की मूर्ति के साथ विष्णु भगवान का गोपाल वासुदेव वाला रूप भी मूर्ति-पूजा में प्रचलित हो गया था। यह मूर्ति शृङ्गार रस की व्यञ्जक थी, जिसका वर्णन बाण के मुख से इस प्रकार कराया गया है—

शिल्प शास्त्रिका के आधार पर त्रिभंगी-मूर्ति एक ही पत्थर को काट कर बनाई गई थी। विष्णुमूर्ति का यह बिल्कुल नवीन विधान था क्योंकि जिसमें रूप शृङ्गार-रस का व्यञ्जक है। अब तक मैंने इस प्रकार की विष्णुमूर्ति नहीं देखी थी। वासुदेव के बायें

---

[1] बा० आ० क०, पृ० २२६ ३१।
[2] वही पृ० २११
[3] वही पृ० ३८

से कोई माया-सी दिख रही थी। सामने एक अष्टदल पद्म के भीतर उसी प्रकार ऊर्ध्वमुख और अधोमुख त्रिकोण अंकित थे जिस प्रकार सायंकाल की उपासना के समय कलश स्थापन के लिए अंकित मंच में मैंने देखा था। पद्म के भीतर यन्त्र था और बाहर चतुर्द्वार। मण्डन की भंगी बड़ी मनोहर थी। मैंने जरा और निकट जाकर देखा तो आश्चर्य से स्तम्भित रह गया। इस मंत्र के भीतर नाना-रूप-बीजों के विन्यास के बाद काम-गायत्री लिखी हुई थी। एक बार मैं उस वासुदेव की ओर देखता था और एक बार इस गायत्री की ओर। यह कैसा विचित्र मिश्रण है। क्या यह काममूर्ति है?—यह तो हो ही नहीं सकता। मैं क्या देख रहा हूँ—विष्णु-मूर्ति और काम-गायत्री। १

जिस प्रकार भागवत धर्म में एक विकासशील विकास हो रहा था वह अनुष्ठान के सम्बन्ध में देखा जा चुका है। इस समय गीता के सिद्धान्तों के प्रभाव से कुछ भक्ति सिद्धान्त भी विकसित हो रहे थे। संक्षेप में वे ये थे—

'शरीर नरक का साधन है यह कहना प्रमाद है। यही वैकुण्ठ है। इसी को आश्रय करके नारायण अपनी आनन्दलीला प्रकट कर रहे हैं। आनन्द से ही यह भुवन मण्डल उद्भासित है। आनन्द से ही विधाता ने सृष्टि उत्पन्न की है। आनन्द ही उसका उद्गम है आनन्द ही उसका लक्ष्य है। लीला के सिवा इस सृष्टि का और क्या प्रयोजन हो सकता है? [1] नारायण मनुष्य से बाहर नहीं हैं, मनुष्य प्रसन्न है तो निश्चय ही नारायण प्रसन्न हैं। मनुष्य नारायण का ही रूप है। पापिष्ठ मन मनुष्य को नारायण रूप में नहीं देख सकता। जो कर सकते हैं वह नारायण ही कर सकते हैं, मनुष्य तो निमित्तमात्र है। इस जीवन की नौका के कर्णधार नारायण ही हैं। मन में किसी बात का सोच नहीं करना चाहिये वह किसी कार्य का उत्तरदायी नहीं है। सब हानि लाभ, सुख-दुःख नारायण के ऊपर छोड़ देना चाहिये' 'दुःख या सुख जो कुछ मिले अपने नारायण की पूजा उसी से करनी चाहिये। २ वस्तुतः बन्धन भी मनुष्य का अपना सत्य है। उसे स्वीकार करके ही वह सार्थक हो सकता है। भगाने से वह मनुष्य को नष्ट कर देता है। समस्त गुण और अवगुण जब तक निर्विकार चित्त से नारायण को नहीं सौंप दिये जाते तब तक वे भारमात्र हैं।"

काम को लोग गलत समझ लेते हैं। अपने उदात्त रूप में प्रेम और काम अभिन्न हैं 'व्रज-सुन्दरियों ने निखिलानन्द-सन्दोह मुकुन्द की विग्रह-माधुरी के प्रति जो आकर्षण दिखाया वह क्या प्रेम नहीं था? व्रज-सुन्दरियों का प्रेम ही काम है और काम ही प्रेम है।"—

'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यभिधीयते
(भक्तिरसामृतसिन्धु×)

नारायण का प्रसाद समझकर सारे क्लेशों को आनन्दपूर्वक स्वीकार कर लेना भक्ति का ही एक अङ्ग है।

१ बाणभट्ट की आत्मकथा पृ २१७-१८
२ वही पृ० २८१।
×बाणभट्ट की आत्मकथा लेखक द्वारा उद्धृत देखिये पृ २७१ (प्रथम संस्करण)
३ वही पृ० २८१

१४ नारी विषयक कुछ समस्याएँ

वर्तमान समाज में अन्य समस्याओं की भाँति नारी भी एक समस्या है। भारत वह देश है जहाँ कभी नारी का बड़ा सम्मान था। आज उसी देश में नारी की बड़ी दुर्दशा है। जबकि अनेक देशों में नारी-समाज प्रगति कर रहा है, यहाँ वह अपनी समस्याओं में उलझा बैठा है। प्रगतिशील मनीषियों ने कुछ समय से समाज की पिछड़ी दशा को देखकर उद्बोधन की फूँक से क्रान्ति की चिनगारी को सुलगाना प्रारम्भ किया है। सामान्यतः ये प्रयत्न पचास-साठ वर्ष से किये जा रहे हैं किन्तु गत बीस वर्ष से क्रान्ति ने कुछ दृढ़ रूप धारण कर लिया है। पुरुष और नारी के संबंधों पर प्रकाश डालकर नारी के स्थान को दिखाया जा रहा है। अधिकार और कर्तव्य, दोनों उसके सामने लाये जा रहे हैं। यह संभव है कि आज की नारी गृहिणी के रूप से आगे बढ़ कर अपने रण-चण्डी के रूप को देखकर आश्चर्य करने लगे और वह शायद अपने इस रूप में विश्वास भी न करे, किन्तु झाँसी की रानी जैसी वीरांगनाओं ने अपने इस रूप को प्रमाणित कर दिया है।

यों तो प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी की विवेचना ने एक दार्शनिक रूप धारण कर लिया था, किन्तु मध्यकाल में आते-आते नारी का व्यावहारिक गौरव क्षीण हो गया और नारी पुरुष की इच्छा का दास बन गयी। वैराग्य की सीमाओं में उस पर, न जाने कितनी कीचड़ उछाली गयी और उसको समाज का एक अहित प्राणी बना दिया गया। सामाजिक रूढ़ियों ने उसको अपने कठोर शिकंजे में कस कर 'अबला' बना दिया और फिर वह भी मूक दासी बन गयी। कुछ कलाकारों ने उसकी दुर्दशा को देखा उनका हृदय द्रवित हुआ और उनके प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हुए एक आवाज उठाई। ऐसी ही आवाज बाणभट्ट की आत्मकथा' में सुनायी पड़ सकती है।

उक्त कथा के लेखक ने नारी के संबंध में बड़े कौशल से एक दार्शनिक विवेचना प्रस्तुत की है, जिसमें सामाजिक दृष्टिकोण का भी समावेश है। नारी क्या है? वह कितनी पवित्र है। उसमें कितनी शक्ति और सौन्दर्य है? उसका सम्मान कितना सुखद और उपेक्षा कितनी घातक है? इस प्रकार के अनेक प्रश्नों के उत्तर इस कृति में समाविष्ट किए गये हैं। लेखक ने 'नारी क्या है? इस प्रश्न का उत्तर तात्त्विक विवेचना के साथ दिया है।

नारी क्या है?

परम शिव से दो तत्त्व एक ही साथ प्रकट हुए हैं— 'शिव और शक्ति। शिव

विधिरूप है और शक्ति निषेधरूपा। इन्हीं दो तत्त्वों के प्रस्पन्द विस्पन्द से यह संसार आभासित हो रहा है। पिंड में शिव का प्राधान्य ही पुरुष है और शक्ति का प्राधान्य नारी है। इस मांस-पिंड को—इस जड़ शरीर को पुरुष या नारी समझना भूल है। 'निषेधरूप तत्त्व नारी है। जहाँ कहीं अपने आपको उत्सर्ग करने की अपने आपको खपा देने की भावना प्रधान है वहीं नारी है। जहाँ कहीं दुःख-सुख की लाख लाख धाराओं में अपने को दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रबल है वही 'नारी-तत्त्व' है, या शास्त्रीय भाषा में उसी को शक्ति-तत्त्व कहते हैं।"

नारी का प्रयोजन

नारी निषेधरूपा है। वह आनन्द भोग के लिए नहीं आती आनन्द लुटाने के लिए आती है। आज के धर्म-कर्म के आयोजन सैन्य-संगठन और राज्य-विस्तार विधि रूप हैं। उनमें अपने आपको दूसरों के लिए गला देने की भावना नहीं है इसीलिए वे एक प्रयास पर ढह जाते हैं रिश्वत पर बिक जाते हैं। वे फेन बुद्बुद की भाँति अनित्य हैं। वे सैकत-सेतु की भाँति अस्थिर हैं। वे जलरेखा की भाँति नश्वर हैं। उनमें अपने आपको दूसरों के लिए मिटा देने की भावना जब तक नहीं आती, तब तक वे ऐसे ही रहेंगे। उन्हें जब तक पूजाहीन दिवस और सेवाहीन रात्रियाँ अनुतप्त नहीं करतीं और जब तक निष्फल अध्यवसान उन्हें कुरेद नहीं देता तब तक उनमें निषेधरूपा नारी-तत्त्व का अभाव रहेगा और तब तक वे केवल दूसरों को दुःख दे सकते हैं।

नारी की पावनता

स्त्री-शरीर एक देव-मंदिर के समान पवित्र है। उसे किसी अज्ञात देवता का मंदिर समझना चाहिये। एक समय आर्यावर्त में नारी का बड़ा गौरव था। ब्राह्मण और श्रमण की भाँति नारी भी सम्मान की वस्तु थी। आर्य-भूमि की पवित्रता के अनेक कारणों में नारी की पवित्रता प्रमुख थी। इस पवित्रता का एक रूप नारी-सौन्दर्य भी था। जब तक इस सौन्दर्य का सम्मान रहा भारतीय गौरव प्रतिष्ठित रहा किन्तु इस देव-प्रतिमा के अपमानित होते ही भारत की शक्ति-सम्पन्नता खंडित हो गयी।

सामाजिक रूढ़ियाँ नारी-सौन्दर्य की पवित्रता को अपनी तौल से तौलकर भले अपमानित कर सकती हैं, सौन्दर्य के देवता की प्रतिष्ठा घटा सकती हैं, किन्तु उसे मिटा नहीं सकती हैं क्योंकि वह मिटने वाली चीज नहीं है। जो इस देवता को समझते हैं, वे आदर करते हैं और जो नहीं समझते वे अपने कलुष से उसे कलुषित करने का प्रयत्न करते हैं किन्तु वह कालुष्य उन्हीं का अपमान है।

बड़े आश्चर्य और खेद की बात है कि यह लोक प्रस्तर-प्रतिमा की पूजा करता है और हाड़-मांस की पवित्र देव-प्रतिमाओं को ठुकराता है। यदि पुरुष ने उस पवित्र देव-प्रतिमा के सामने अपने आपको निःशेष भाव से दे दिया होता तो उसका जीवन सार्थक होता। प्रकार की इस भूल को बाणभट्ट ने पकड़ लिया है। इसीलिए वह कहता

है— 'हाय संसार में इस हाड़-माँस के देव-मंदिर की पूजा नहीं की। यह वैराग्य और भक्ति-भाव की बालू की दीवार खड़ी करता रहा। इसे अपने परम आराध्य का पता नहीं लगा। लेकिन इन सब बातों में क्या रखा है? मैं बहुत देख चुका हूँ। शोभा और कान्ति के विभ्रम और विच्छित्ति पर जिसने बलकर मैं जिस दिन प्रथम बार विकसित हुआ था उस दिन की बात याद आती है, तो मेरी सम्पूर्ण सत्ता विद्रोह कर उठती है। माधुर्य और लावण्य की अपेक्षा हिंसा और विलोक का सम्मान देदीप्यमान घटना है। परन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि इन सारे आपाततः परस्पर-विरोधी दिखने वाले आचरणों में एक सामरस्य है—निरंतर परिवर्तमान बाह्य आवरणों के भीतर एक परम मंगलमय देवता स्तब्ध है।

क्या पावन नारी अपावन हो सकती है?

पावन नारी अपवित्र नहीं की जा सकती। पावक को कभी कलंक स्पर्श नहीं करता, दीप-शिखा को अ-प्रकार की कालिमा नहीं लगती, चन्द्रमण्डल को आकाश की नीलिमा कलंकित नहीं करती और जाह्नवी की वारिधारा को धरती का कलुष भी स्पर्श नहीं करता।" 'स्वार्थों के स्पर्श से सिंह-किशोरी कलुषित नहीं होती। असुरों के गृह में जाने से लक्ष्मी अपवित्र नहीं होती। कोटियों के स्पर्श से कामधेनु अपमानित नहीं होती। चरित्रहीनों के बीच वास करने से सरस्वती कलंकित नहीं होती। हमारे समाज में आलोचना की आँधियाँ चलती हैं जिनसे पावन नारी का मार्ग अवश्य रुक जाता है, किन्तु उसकी पावनता निष्कलुष ही रहती है।

नारी सम्माननीय तथा रक्षणीय है

नारी शक्ति की प्रतीक और उसका शरीर देव-मन्दिर है। साधारणतः जिन स्त्रियों को चपल और कुलभ्रष्टा माना जाता है, उनमें एक दैवी-शक्ति भी होती है। इस रहस्य को बाणभट्ट समझता है। वह उस स्थान को नरक-कुण्ड समझता है जहाँ मद्य और द्यूत की लीलाओं के साथ नारी के क्रय विक्रय का व्यापार भी होता है। ऐसे स्थानों से नारी की रक्षा समाज का परम धर्म है। नारी जहाँ भी हो और जिस अवस्था में भी हो सम्मान और श्रद्धा की वस्तु है।

एक सामान्य अपमानित नारी के उस दुःख की कल्पना कीजिये जब कि वह समाज की कुत्सित रुचि पर अपने को तिल-तिल कर झोंकती है। स्त्री के दुःख इतने गंभीर होते हैं कि उसके शब्द उनका शतांश भी नहीं बता सकते। सहानुभूति के द्वारा ही उस मर्म-वेदना का किंचित् आभास पाया जा सकता है। जो स्त्री आजीवन दुःख की विदारक भट्टी में निरन्तर जलती रहती है क्या उसका स्त्री होना ही सारे अनर्थों की जड़ है? वस्तुतः दोष उस वस्तु में है, जो नारी के सारे सद्गुणों को दुःख रूप बनाकर व्याख्या कर देती है। क्या यह एक बड़ा अन्याय नहीं है जो सत्य के नाम पर समाज

में घर बना बैठा है ? उसी ने अनेक सामाजिक कुरीतियों का रूप धारण कर लिया है। स्त्रियाँ सदैव सम्मान के योग्य हैं। उनके सम्मान की रक्षा प्राण-पण से करनी चाहिये। इसीलिए भैरवियों के गान में यह ध्वनि सुनायी पड़ती है— 'अमृत के पुत्रो मरण-यज्ञ की आहुति बनो। माताओं के लिए, बहनों के लिए, कुल-ललनाओं के लिए प्राण देना सीखो।

स्त्रियों का सम्मान करना ही नहीं कराना भी चाहिये और इस कार्य को प्रति भावान् मनुष्य बड़ी आसानी से कर सकते हैं। भट्टिनी के शब्दों में यही आशय ध्वनित हो रहा है— 'तुम्हारी प्रतिभा हिमनिर्झरिणी की भांति शीतल और स्वच्छ है तुम्हारे मुख में सरस्वती का निवास है। × × तुम निर्दय जाति के चित्त में समवेदना का संचार कर सकते हो उन्हें स्त्रियों का सम्मान कराना सिखा सकते हो।"

महापुरुष का यह कर्तव्य है कि अबला कहलाने वाली नारी का उद्धार करे और यह कर्तव्य पुरुष की वाणी से बड़ी सरलता से सम्पन्न हो सकता है। इसी आशय को भट्टिनी भट्ट से कहती हुई इस प्रकार व्यक्त करती है— तुम्हारी वाणी मेरी जैसी अब लाओं में भी आत्मशक्ति का संचार करती है। तुम्हारी छाया पाकर अबलाएं भी इस देश की सामाजिक जटिलता को कुछ शिथिल कर सकती हैं।

क्या नारी उपेक्षणीय है ?

नारी की उपेक्षा की जाती है उसे ठुकराया जाता है। क्यों ? इसीलिए न कि यहाँ पौरुष-दर्प का प्राचुर्य है। जब तक पुरुष अपने आपको ही समझता रहेगा तब तक उसकी दृष्टि में नारी का गौरव नहीं समा सकता। दर्प का कारण भौतिक शक्ति का अति महत्त्व है। इस शक्ति के प्रधान रहते हुए दर्प का बहिष्कार नहीं हो सकता। दर्प उस समय तक रहेगा जब तक कि नारी के प्रति सम-भाव न आजायेगा। इसका संकेत महामाया के तीव्र स्वर में देखा सकता है— क्या विद्रोह प्रजा की बेटियाँ उनकी नयन तारा नहीं हुआ करतीं ? क्या राजा और सेनापति की बेटियों का ही जाना हो सवार की बड़ी दुर्घटनाएं हैं ?'

ममता वात्सल्य करुणा और समर्पण की मूर्ति नारी भूमि पर साक्षात् देवता है। उसके साथ इस प्रकार का आचरण होना चाहिये कि वह यह अनुभव न करे कि उसका जीवन केवल भार है उसका शरीर केवल मिट्टी का ढेला है और विधाता ने उसे बंधन बद्ध बैठे के लिए बनाया है वरन् वह नारी के रूप में विधाता का उपकार माने और अपने को धन्य समझे।

सच तो यह है कि पुरुष की साधना विशुद्ध नारी के सहयोग के बिना अधूरी ही रहती है और नारी की बलिदान की आकांक्षा भी पुरुष के अवलम्ब के बिना अपूर्ण रहती है। बाणभट्ट के शब्दों में 'अवधूतपाद की साधना इसलिए अधूरी है कि उन्हें

विमुद्ध नारी का सहयोग नहीं मिला और निपुणिका की दलितलालसा इसलिए अपूर्ण है कि उसे पुरुष का करावलम्ब नहीं मिला।' बाण ने इस रहस्य को अच्छी तरह समझ लिया है कि नारी से बढ़कर और कोई अनमोल रत्न नहीं है पर उससे अधिक दुर्दशा भी और किसी की नहीं हो रही है।

नारी शक्ति है

नारी नाना रूपों में पुरुष को मोहती है। त्रिभुवन का पुरुष तत्त्व स्त्री के रूपों पर मुग्ध है। अतएव शाक्त तन्त्रों में वह त्रिभुवन-मोहिनी नाम से भी अभिहित होती है। पुरुष वस्तु निरपेक्ष (मुक्त) भाव-रूप सत्य में आनन्द का साक्षात्कार करता है और स्त्री वस्तु-युक्त रूप में रस पाती है। पुरुष अनासक्त है, स्त्री आसक्त पुरुष निर्द्वन्द्व है, स्त्री द्वन्द्वमयी पुरुष मुक्त है स्त्री बद्ध। पुरुष स्त्री को शक्ति समझकर ही पूर्ण हो सकता है, पर स्त्री स्त्री को शक्ति समझ कर अधूरी रह जाती है। स्त्री की पूर्णता के लिए पुरुष को शक्तिमान् मानने की आवश्यकता नहीं है। यदि स्त्री ऐसा मानती है तो उपकार के स्थान पर वह अपना अपकार ही कर सकती है।

राज्य-गठन सैन्य-संचालन मठ-स्थापन और निर्जन-वास पुरुष की समताहीन मर्यादाहीन, श्रद्धाहीन महत्त्वाकांक्षा के परिणाम हैं। इनको नियमित करने की एक-मात्र शक्ति नारी है। इतिहास साक्षी है कि इस महिमामयी शक्ति की उपेक्षा करने वाले साम्राज्य नष्ट हो गये हैं मठ विध्वस्त हो गये हैं ज्ञान और वैराग्य के जंजाल फेन-बुद्-बुद की भाँति क्षणभर में विलुप्त हो गये हैं। युगमनीषियों के इस गौरव को कालिदास जैसे कुछ ही मनीषियों ने हृदयंगम और प्रकाशित किया है। महासत्य का साक्षात्कार करके उसे प्रकाशित करना प्रतिभा का वरदान मात्र है।

स्त्री और प्रकृति

स्त्री प्रकृति है। उसकी सफलता पुरुष को बाँधने में है किन्तु सार्थकता पुरुष की मुक्ति में है। स्त्री में पुरुष की अपेक्षा प्रकृति की अभिव्यक्ति की मात्रा अधिक होती है, इसलिए वह स्त्री है और पुरुष में प्रकृति की अपेक्षा पुरुष की अभिव्यक्ति अधिक है इसलिए वह पुरुष है। यह बात लोक-बुद्धि प्रसूत है लोक के समझने-समझाने के लिए है वास्तव सत्य नहीं है। अतएव पुरुष भी पुरुष और स्त्री को स्त्री समझ कर भूल कर सकती है। इस रहस्य का उद्घाटन महामाया ने बाणभट्ट के सामने इस प्रकार किया है— "तू क्या अपने को पुरुष समझ रहा है और मुझे स्त्री? यही प्रमाद है। तुममें पुरुष की अपेक्षा प्रकृति की अभिव्यक्ति की मात्रा अधिक है इसलिए मैं स्त्री हूँ। तुममें प्रकृति की अपेक्षा पुरुष की अभिव्यक्ति अधिक है इसलिए तू पुरुष है। यह लोक की प्रज्ञप्ति है वास्तव सत्य नहीं। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक स्त्री प्रकृति का सही प्रतिनिधित्व नहीं करती। यदि महामाया जैसी स्त्री में प्रकृति का अपेक्षाकृत निम्नरूप अभि

निहित है तो आप जैसे पुरुष में प्रकृति का पुरुषत्व प्रतिबिम्बित है। इसीलिए महामाया कहती है— यद्यपि तुममें तेरे ही भीतर के प्रकृति-तत्त्व की अपेक्षा पुरुष-तत्त्व अधिक है पर वह पुरुष तत्त्व मेरे भीतर के पुरुष-तत्त्व की अपेक्षा अधिक नहीं है। मैं तुमसे अधिक निःसंग अधिक निर्द्वन्द्व और अधिक मुक्त हूं।

स्त्री और पुरुष में निहित 'प्रकृति' की अभिभूति 'पुरुष' से होती है। इसीलिए महामाया कहती है— "मैं अपने भीतर की अधिक मात्रा वाली प्रकृति को अपने ही भीतर वाले पुरुष-तत्त्व से अभिभूत नहीं कर सकती। इसीलिए मुझे अघोर भैरव की आवश्यकता है। जो कोई भी 'पुरुष"—अतृप्त वासना मनुष्य मेरे विकास का साधन नहीं हो सकता।

क्या स्त्री विघ्नरूपा है?

नारी का जन्म विघ्न के लिए ही हुआ है। पुरुषों के समस्त वैराग्य के आयोजन तपस्या के विशाल मठ मुक्ति-साधना के अनुष्ठानीय आश्रम नारी की एक वंकिम दृष्टि में बह जाते हैं। नारीहीन तपस्या संसार को भारी भूल है। नारी के सहयोग के बिना संसार के अनेक विकास आयोजन असफल एवं ध्वस्त हो जाते हैं और सारा ठाट बाट संसार में केवल अशान्ति पैदा कर सकता है।

नारी को पिण्ड रूप में कोई विघ्न न समझ लेना चाहिये। पिण्ड नारी कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं है। महत्त्वपूर्ण वस्तु तो नारी-तत्त्व है। महर्षि के इस प्रश्न के उत्तर में— "तो क्या माता, क्या स्त्रियां सेना में भरती होने लगें या राजगद्दी पाने लगें, तो यह अशान्ति दूर हो जायगी?" महामाया का यह उत्तर बहुत महत्त्वपूर्ण है—"वत्स तू, मैं दूसरी बात कह रही थी। मैं पिण्ड नारी को कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं मानती। तुम्हारे इस भट्ट ने भी मुझसे पहली बार इसी प्रकार का प्रश्न किया था। मैं नारी-तत्त्व की बात कह रही हूं रे। सेना में अगर पिण्ड नारियों का दल भरती हो भी जाय, तो भी जब तक उसमें नारी तत्त्व की प्रधानता नहीं होगी तब तक अशान्ति बनी रहेगी।'

अपने निषेधरूप में भी नारी की शक्ति के दो क्षेत्र हैं—एक में वह बन्धन करती है और दूसरे में पुरुष को मुक्त करती है। पुरुष को बांधने में उसकी सफलता है और मुक्त करने में सार्थकता। तपस्वी के इन शब्दों में नारी की सार्थकता का संकेत मिल जाता है—"मैं माता की आज्ञा से तुम्हारा हाथ पकड़ना चाहता हूं।" क्या तुम जीवन में मेरे लक्ष्य की ओर बढ़ने में मुझे सहायता पहुंचाने को तैयार हो!' सुचरिता की वाणी भी इसी का प्रमाण दे रही है— "मैं नारायण पर उत्सृष्ट पुष्प-गुच्छ के समान गन्धहीन होकर भी सार्थक ही हूं।

नारी सौन्दर्य की महिमा

नारी-सौन्दर्य गर्हणीय नहीं है जैसा कि कुछ लोग समझते रहे हैं। आर्य-भूमि में नारी के वास्तविक सौन्दर्य की पूजा होती रही है। "स्त्रियां ही रत्नों को भूषित करती हैं, रत्न स्त्रियों को क्या भूषित करेंगे! स्त्रियां तो रत्न के बिना भी मनोहारिणी

होती हैं, किन्तु स्त्री का अङ्ग-संग पाये बिना रत्न किसी का मन हरण नहीं करते।"
बृहत्संहिता में वराहमिहिर ने यही कहा है—

'रत्नानि विभूषयन्ति योषा भूष्यन्ते वनिता न रत्नकान्त्या।
चेतो वनिता हरन्त्यरत्ना नो रत्नानि विनांगनांगसंगात्॥'

आज यदि आचार्य वराहमिहिर यहाँ उपस्थित होते तो और भी आगे बढ़कर कहते— धर्म-कर्म, भक्ति-ज्ञान शान्ति-सौमनस्य कुछ भी नारी का संस्पर्श पाये बिना मनोहर नहीं होते—नारी-देह वह स्पर्श-मणि है जो प्रत्येक ईंट-पत्थर को सोना बना देती है।'

नारी का एक भेद, गणिका

आज हमारे यहाँ गणिका की स्थिति बड़ी शोच्य है। समाज उसके कलाकारित्व को भूलकर उसे हीन या कुत्सित नारी मान बैठा है। बाणभट्ट के सामने गणिका का प्रश्न एक कठिन समस्या है। 'गणिका नगर का शृङ्गार होती है या नगर का अङ्गार। वह क्या एक ही साथ अमृत और विष का मिश्रण है? शूद्रक ने वसन्तसेना को पण-हीन लक्ष्मी, अनंगदेवता का ललित अस्त्र, कुल-वधुओं का शोक और मदनवृक्ष का पुष्प कहा था। भाग्य का कैसा दुर्ललित परिहास है। जो लक्ष्मी है वही शोक भी है, जो पुष्प है वही मारणास्त्र भी है।

नारी के अनेक स्तर

हमारे समाज में रानी से लेकर परिचारिका तक के और गणिका से लेकर कुल-वनिता तक के सैकड़ों स्तर हैं यह बड़े खेद की बात है। बाणभट्ट स्वर्ग की कल्पना उसी समाज में करता है जिसमें ये स्तर नहीं हैं। "यह जो दुःखदाप है निर्यातन है, घर्षण है, परदाराभिमर्श है ये विकृत समाज-व्यवस्था के विकृत परिणाम हैं।'

निष्कर्ष यह है कि बाणभट्ट की आत्मकथा में विविध पहलुओं के आग्रह से 'नारी' ने एक समस्या का रूप धारण किया है। क्या उसकी कोई सत्ता नहीं है? उसकी उपेक्षा क्यों की जाती है? क्या उसकी शक्ति का समुचित मूल्यांकन किया जाता है? क्या उसकी पुरुषमोहिनी प्रतिभा निष्फल और व्यर्थ है? क्या नारी को अनेक स्तरों पर रख कर देखना उचित होगा? क्या उसके सौन्दर्य की पावनता का अपमान नहीं किया जा रहा है? इत्यादि-इत्यादि प्रश्न आत्मकथा के प्राण हैं। इन सबका उत्तर बाणभट्ट की एक इस मान्यता में मिल जाता है—'नारी-देह देव-मन्दिर के समान पवित्र है और नारी संसार की सब से अमूल्य वस्तु है। उसका अपमानित होना लज्जाजनक एवं असह्य है।"

१५ प्रमुख पात्रों का मूल्यांकन

'आत्मकथा' के स्त्री और पुरुष पात्रों को अनेक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। विशेष और सामान्य के नाम से पात्र दो वर्गों में रखे जा सकते हैं। विशेष वर्ग के तीन उपवर्ग हो सकते हैं—(क) राजा राजपुरुष तथा सामंत, (ख) सिद्ध साधक एवं साधिकाएं—गुरु-शिष्य (ग) गणिका एवं नर्तकियां। इन वर्गों और उपवर्गों से बचे हुए पात्र सामान्य वर्ग में रखे जा सकते हैं। वर्गों से परिचित होते ही 'आत्मकथा' का एक ऐसा चित्र पाठक की दृष्टि में भर जाता है जिसमें वर्गगत पात्र अपने-अपने स्थान पर प्रतिष्ठित दिखाई देते हैं।

इन वर्गों के अतिरिक्त वर्गीकरण का एक अन्य आधार भी स्वीकार किया जा सकता है। इस आधार पर तीन प्रकार के पात्र दृष्टिगोचर होते हैं—(१) वे पात्र जो कथा-चित्र की रेखाएं बन हुए हैं (२) वे पात्र जो उस चित्र में वर्ण का काम करते हैं, तथा (३) वे पात्र जो कथा-चित्र की पृष्ठ-भूमि के निर्माण में योग देते हैं। पात्रों के महत्त्व को आंकने की दृष्टि से यह वर्गीकरण अधिक ग्राह्य है।

वैसे तो कथा की सृष्टि में सभी के महत्त्व को भी भुलाया नहीं जा सकता। महत्त्व की दृष्टि से सभी के सम्बन्ध में अन्यत्र विचार किया जा चुका है; किन्तु वे पात्र जो कथा चित्र की रेखाएं बने हुए हैं कथा के तात्त्विक उपकरणों में विशेष महत्त्व रखते हैं और वे तीन ही हैं—बाण निपुणिका तथा भट्टिनी। बाण ऐतिहासिक पात्र है किन्तु उसका 'चर्या' काल्पनिक है। निपुणिका और भट्टिनी की सृष्टि कल्पना से हुई है। बाण के काल्पनिक चर्याभिव्यंजन में भी इन दोनों का बहुत बड़ा योग है।

पाठक के समक्ष सामान्यतया बाणभट्ट निपुणिका भट्टिनी सुचरिता, हर्षवर्धन कृष्णवर्धन, बौद्धाचार्य तांत्रिक अघोरभैरव महामाया लोरिकदेव वीरभिक्षु, राज्यश्री आदि पात्र ही अपने महत्त्वपूर्ण आचरण में प्रकट होते हैं, किन्तु आलोचक की दृष्टि में उक्त तीन पात्र ही तात्त्विक मीमांसा के प्रमुख उपादान का रूप धारण करते हैं।

बाण पर लेखक की सहानुभूति और कृपा भी प्रचुर वृष्टि हुई है। वैसे तो लेखक की कृपा का पात्र बहुधा प्रमुख पात्र ही होता है किन्तु डा द्विवेदी की सहृदयता बाण पर बरस पड़ी है। वे बाण के चरित्र को गरिमा प्रदान करके उसको ऊंचा उठाने में पूर्णतः सफल हुए हैं।

बाण का वास्तविक नाम दक्ष था किन्तु प्रसिद्ध वात्स्यायन वंशीय अनन्त भट्ट का पौत्र यह बालक जन्म का आवारा, गप्पी, अस्थिरचित्त और घुमक्कड़ था। अपने गांव से निकल भागते समय वह अपने साथ गांव के और भी छोकरों को भगा लेगया।

से भले उसके साथ न रह सके तो भी वह गाँव में बदनाम तो हो ही गया। मगध की बोली में 'बण्ड' पूँछकटे बैल को कहते हैं। वहाँ यह कहावत बहुत प्रसिद्ध है कि 'बण्ड आप गये सो गये, साथ में नौ हाथ का पगहा भी लेते गये।' सो लोग उसे (बाण को) 'बण्ड' कहने लगे। इसी शब्द को सुधार कर (तत्समरूप में परिवर्तित करके) उसने इसे अपनी अभिधा बना लिया।

छोटी ही आयु में बाण की माँ का निधन होगया चौदह वर्ष की आयु में वह पिता चित्रभानु के स्नेह से भी वंचित होगया। वास्तव में आवारापन के बीज तो बाण में माँ की मृत्यु के उपरान्त ही जम गये थे। पिता के बाद बड़े चचेरे भाई उडुपतिभट्ट के अभाव स्नेह में निमग्न रहने से उसके आवारापन में सुधार न हुआ। आवारा बाण नगर-नगर, जनपद-जनपद मारा-मारा फिरता रहा। नटकर्म, [illegible] के बीच नाट्याभिनय, पुराण-वाचन आदि अनेक व्यवसायों से सम्बद्ध होकर भी उसकी रुचि कहीं रम न सकी। फिर भी उसके प्रत्येक कर्म से लोग प्रभावित हुए बिना न रह सके। इसका प्रमुख कारण उसका रूप-लावण्य और वाक्पाटव था। उसकी किशोरावस्था और युवावस्था में उसके इन दो गुणों ने उसकी बड़ी सहायता की किन्तु उसके बहुविध कार्य-कलाप को देखकर लोग उसे 'भुजंग' समझते थे।

वह स्नान करके शुभ्र पुष्पों की माला धारण करता था आगुल्फ शुभ्र धौत उत्तरीय धारण करता था—यही उसका प्रिय वेष था। भगवान् त्र्यम्बक का उपासक बाण बड़ा साहसी व्यक्ति था और किसी भी काम में बड़े उत्साह से जुट जाता था। उत्साह आदि गुणों के होते हुए भी बाण किसी काम को योजना बनाकर नहीं करता था इसीलिए वह अपनी किसी पुस्तक को समाप्त नहीं कर पाया। वह कभी किसी बंधन में नहीं बंधा और न बंधन उसे रोचक ही प्रतीत होता था। भट्टिनी की रक्षा का भार लेकर अवश्य ही बाण को एक बंधन की प्रतीति हुई थी किन्तु देवाभाव से उसे भट्टिनी के प्रति जो प्रेम अर्पित कर दिया था उससे वह बंधन उसकी प्रकृति को आकुंचित नहीं करता था।

बाण मूलतः कवि था, अतएव उसको भावों की प्रखर निधि और सौन्दर्यबोध की अटूट क्षमता स्वतः ही प्राप्त थी। सुन्दर क्या है? इसे वह अवसर और परिस्थितियों से सोचता था। निपुणिका की अंगुलियों के मूल्यांकन में उसकी इस बोध शक्ति को देखिये—

"निपुणिका बहुत अधिक सुन्दरी नहीं थी। उसका रंग अवश्य शेफालिका के कुसुम-नाल के रंग से मिलता था परन्तु उसकी सबसे बड़ी चारुता-सम्पत्ति उसकी आँखें और अंगुलियाँ ही थी। अंगुलियों को मैं बहुत महत्वपूर्ण सौन्दर्योपादान समझता हूँ। नटी की भावाभिव्यक्ति और नाट्य-मुद्राओं को मुखर बनाने में पतली छरहरी अंगुलियाँ अद्भुत प्रभाव डालती हैं।"

१५ प्रमुख पात्रों का मूल्यांकन

'आत्मकथा' के स्त्री और पुरुष पात्रों को अनेक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। विशेष और सामान्य के नाम से पात्र दो वर्गों में रखे जा सकते हैं। विशेष वर्ग के तीन उपवर्ग हो सकते हैं—(क) राजा, राजपुरुष तथा सामन्त, (ख) सिद्ध, साधक एवं साधिकाएँ—गुरु-शिष्य (ग) गणिका एवं नर्तकियाँ। इन वर्गों और उपवर्गों से बचे हुए पात्र सामान्य वर्ग में रखे जा सकते हैं। वर्गों से परिचित होते ही 'आत्मकथा' का एक ऐसा चित्र पाठक की दृष्टि में भर जाता है जिसमें वर्गगत पात्र अपने-अपने स्थान पर प्रतिष्ठित दिखाई देते हैं।

इन वर्गों के अतिरिक्त वर्गीकरण का एक अन्य आधार भी स्वीकार किया जा सकता है। इस आधार पर तीन प्रकार के पात्र दृष्टिगोचर होते हैं—(१) वे पात्र जो कथा-चित्र की रेखाएँ बने हुए हैं (२) वे पात्र जो उस चित्र में वर्ण का काम करते हैं, तथा (३) वे पात्र जो कथा-चित्र की पृष्ठ-भूमि के निर्माण में योग देते हैं। पात्रों के महत्व को आँकने की दृष्टि से यह वर्गीकरण अधिक ग्राह्य है।

वैसे तो कथा की सृष्टि में शैली के महत्व को भी भुलाया नहीं जा सकता। महत्व की दृष्टि से शैली के सम्बन्ध में अन्यत्र विचार किया जा चुका है; किन्तु वे पात्र जो कथा-चित्र की रेखाएँ बने हुए हैं कथा के तात्विक उपकरणों में विशेष महत्व रखते हैं और वे तीन ही हैं—बाण निपुणिका तथा भट्टिनी। बाण ऐतिहासिक पात्र है किन्तु उसका 'वर्ण' काल्पनिक है। निपुणिका और भट्टिनी की सृष्टि कल्पना से हुई है। बाण के काल्पनिक वर्णाभिव्यंजन में भी इन दोनों का बहुत बड़ा योग है।

पाठक के समक्ष सामान्यतया बाणभट्ट निपुणिका भट्टिनी, सुचरिता हर्षवर्धन कृष्णवर्धन, बौद्धाचार्य तांत्रिक अघोरभैरव महामाया लोरिकदेव बौद्धभिक्षु, राज्यश्री आदि पात्र ही अपने महत्वपूर्ण आवरण में प्रकट होते हैं किन्तु आलोचक की दृष्टि में उक्त तीन पात्र ही तात्विक मीमांसा के प्रमुख उपादान का रूप धारण करते हैं।

बाण पर लेखक की उदारता और कृपा की अजस्र वृष्टि हुई है। वैसे तो लेखक की कृपा का पात्र बहुधा प्रमुख पात्र ही होता है, किन्तु डा० द्विवेदी की सहृदयता बाण पर बरस उठी है। वे बाण के चरित्र को गरिमा प्रदान करके बाण को ऊँचा उठाने में पूर्णतः सफल हुए हैं।

बाण का वास्तविक नाम दक्ष था, किन्तु प्रसिद्ध वात्स्यायन वंशीय अमस्त भट्ट का पौत्र यह बालक बचपन का आवारा, गप्पी, अस्थिरचित्त और घुमक्कड़ था। अपने गाँव से निकल भागते समय वह अपने साथ गाँव के और भी छोकरों को भगा लेगया।

वे सब उसके साथ न रह सके तो भी वह गाँव में बदनाम तो हो ही गया। मगध की बोली में 'बण्ड' पूँछकटे बैल को कहते हैं। वहाँ यह कहावत बहुत प्रसिद्ध है कि 'बण्ड आप गये सो गये साथ में नौ हाथ का पगहा भी लेते गये।' सो लोग उसे (बाण को) बण्ड' कहने लगे। इसी शब्द को सुधार कर (तत्समरूप में परिणित करके) उसने इसे अपनी अभिधा बना लिया।

छोटी ही आयु में बाण की माँ का निधन होगया चौदह वर्ष की आयु में वह पिता चित्रभानु के स्नेह से भी वंचित होगया। वास्तव में आवारापन के बीज तो बाण में माँ की मृत्यु के उपरान्त ही जम गये थे। पिता के बाद बड़े चचेरे भाई उडुपतिभट्ट के अभाव स्नेह में निमग्न रहने से उसके आवारापन में सुधार न हुआ। आवारा बाण नगर-नगर, जनपद-जनपद मारा-मारा फिरता रहा। नटकर्म, कठपुतलियों के खेल, नाट्याभिनय, पुराण-वाचन आदि अनेक व्यवसायों से संबद्ध होकर भी उसकी रुचि कहीं रम न सकी। फिर भी उसके प्रत्येक कर्म से लोग प्रभावित हुए बिना न रह सके। इसका प्रमुख कारण उसका रूप-लावण्य और वाक्चातुर्य था। उसकी किशोरावस्था और युवावस्था में उसके इन दो गुणों ने उसकी बड़ी सहायता की किन्तु उसके बहुविध कार्य कलाप को देखकर लोग उसे 'भुजंग' समझते थे।

वह स्नान करके शुक्ल पुष्पों की माला धारण करता था आगुल्फ धवल धौत उत्तरीय धारण करता था—यही उसका प्रिय वेष था। भगवान् त्र्यम्बक का उपासक बाण बड़ा साहसी व्यक्ति था और किसी भी काम में बड़े उत्साह से जुट जाता था। उत्साह आदि गुणों के होते हुए भी बाण किसी काम को योजना बनाकर नहीं करता था इसीलिए वह अपनी किसी पुस्तक को समाप्त नहीं कर पाया। वह कभी किसी बंधन में नहीं बँधा और न बंधन उसे रोचक ही प्रतीत होता था। भट्टिनी की रक्षा का भार लेकर अवश्य ही बाण को एक बंधन की प्रतीति हुई थी किन्तु सेवाभाव से उसे भट्टिनी के प्रति जो प्रेम अर्पित कर दिया था, उससे वह बंधन उसकी प्रवृत्ति को आकृष्ट नहीं करता था।

बाण मूलतः कवि था, अतएव उसको भावों की प्रखर लिपि और सौन्दर्यबोध की अद्भुत क्षमता सहज ही प्राप्त थी। सुन्दर क्या है? इसे वह अवसर और परिस्थितियों से आँकता था। निपुणिका की अँगुलियों के मूल्यांकन में उसकी इस बोध शक्ति को देखिये—

"निपुणिका बहुत अधिक सुन्दरी नहीं थी। उसका रंग अवश्य शेफालिका के कुसुमनाल के रंग से मिलता था परन्तु उसमें सबसे बड़ी चारुता-सम्पत्ति उसकी आँखें और अँगुलियाँ ही थी। अँगुलियों को मैं बहुत महत्त्वपूर्ण सौन्दर्योपादान समझता हूँ। नटीकी भ्रूलताभाऽऽस्फालन और पताक-मुद्राओं को मधुर बनाने में पतली छरहरी अँगुलियाँ अद्भुत प्रभाव डालती है।"

भट्ट की कवित्व-शक्ति से उनके साथ रहने वाले परिचित हैं। उनकी वाणी से उनके कवित्व का परिचय मिल जाता है। निपुणिका ऐसे ही शब्दों को पहचान कर कहती है—"भट्ट! XX कविता छोड़ो।" भट्टिनी भी भट्ट की कवित्वशक्ति से परिचित और विश्वस्त हैं। उनके शब्दों में इसका परिचय यह है—

'निउनिया XXX भट्ट पर मेरा पूर्ण विश्वास है। कवित्व की शक्ति तू नहीं जानती। भट्ट कवि है।' कौन कहता है, भट्ट कि तुम कवि नहीं हो? श्लोक बनाना ही तो कविता नहीं है। XXX तुम्हारे वात्सिल्यपूत हृदय में सरस्वती का निवास है। तुम्हारे अधरों से निर्मल-धारा की भाँति वाणी का स्रोत झरता रहता है। कौन कहता है कि तुम कवि नहीं हो? XXX भट्ट, कविता श्लोक को नहीं कहते। कविता का प्राण है रस विशुद्ध सात्विक रस। तुम सच्चे कवि हो। मेरी बात गाँठ बाँध लो, तुम इस आर्यावर्त के द्वितीय कालिदास हो।" एकबार नहीं भट्टिनी ने अपनी इस धारणा को दूसरे स्थान पर भी दुहराया है— 'तुम इस आर्यावर्त के द्वितीय कालिदास हो, तुम्हारे मुख से निर्मल वाग्धारा झरती रहती है तुम्हारा अन्त:करण पर-कल्याण-कामना से परिपूत है XXX तुम्हारे मुख में सरस्वती का निवास है।"

बाण का भावुक हृदय संकट के समय अपने आस्तिकतापूर्ण मन से शक्ति संकलित करता है। उसे ईश्वर की शक्ति में पूर्ण विश्वास है और यह विश्वास उसके बिकीर्ण साहस को संकलित कर देता है। गंगा में नौका पर आक्रमण होने के समय उसके आस्तिक हृदय की उत्साह-स्फूर्ति देखने योग्य है—

'मेरे मन में कहीं भी कोई आशा नहीं थी, पर फिर भी महावराह के भरोसे मैं थोड़ा आश्वस्त हो लेना चाहता था। दुर्बल का संबल ही ईश्वर है। मैं उठ पड़ा। जय हो उस महाविष्णु की, उस नरसिंह—मूर्ति की, जिसकी क्रोध-कम्पायित मात्र दृष्टि ने ही हिरण्यकशिपु का वक्ष विदीर्ण कर दिया था। जय हो उस महिमाशाली वराहमूर्ति की, जिसके चन्द्रकिरणों के अंकुर के समान दाँतों ने असुर-कुल में हाहाकार उत्पन्न कर दिया था। मैं उठ पड़ा।

बाण स्त्री-सौंदर्य का उपासक है, किन्तु उसकी सौन्दर्य-दर्शिनी दृष्टि में कलुष का कहीं नाम नहीं है। उसे सौंदर्य की ओट में भीम ही विनाशिका शक्ति की ज्योति दिखाई देती है—

"भट्टिनी के चारों ओर एक अनुभाव-राशि सहज पड़ी थी। मैं थोड़ी देर तक उस शोभा को देखता रहा। मन-ही-मन मैंने सोचा कि कैसा आश्चर्य है, विधाता का कैसा रूप-विधान है।"

ऐसे स्थलों पर बाण का कवि उभर आता है उसकी भावुकता छलकने लगती है और सौन्दर्य-बोधकी निर्मल दीप्ति शब्दों में चमकने लगती है। नारी-सौन्दर्य किसी भी

भावुक के हृदय को आन्दोलित कर सकता है किन्तु कवि-हृदय की तरलता विशेष रूप से द्रष्टव्य है। बाण की उक्ति में इसका प्रमाण इस प्रकार है—"मैं नारी-सौन्दर्य को संसार की सबसे अधिक प्रभावोत्पादिनी शक्ति मानता रहा हूँ।' छोटे राजकुल के अन्तःपुर में भट्टिनी की दशा पर विचार करता हुआ बाण स्त्री को— 'सृष्टि की सबसे बहुमूल्य वस्तु" मानता है। उसकी मान्यता में 'नारी-सौन्दर्य' पूज्य है, वह देव-प्रतिमा है।

निपुणिका के शब्दों में तो बाण 'देवता' है। वह स्त्री का आदर करता है, उसके सौन्दर्य का पूज्य मानता है, किन्तु स्त्री के तलवे नहीं चाटता।

निपुणिका बाण को देवता-तुल्य आदर देती है। उसके ये शब्द इस बात का प्रमाण है—"देखो भट्ट, तुम नहीं जानते कि तुमने मेरे इस पाप-पंकिल शरीर में कैसा अद्भुत शतदल खिलाया है। तुम मेरे देवता हो, मैं तुम्हारा नाम अपने आप धारण करती हूँ।" निउनिया के इस भाव की पुष्टि भट्टिनी के इन शब्दों से भी हो जाती है— तो तू भट्ट को क्या समझती है, बेटी? "क्या समझती हूँ, समझाऊँ सो मैं नहीं जानती। निउनिया कहती थी कि भट्ट देवता है।"

इस भाव को बाण ने अपनी सहृदयता, उदारता और सेवा-वृत्ति से प्रकट किया है। उसकी सेवा-वृत्ति किसी कामना या स्वार्थ से प्रेरित नहीं है, अपने भक्त की तो उपासक भावना है—निर्मल एवं अनाविल। बाण के प्रेम में आसक्ति कहीं नहीं है। उसे "निरन्तर परिवर्तमान बाह्य आवरणों के भीतर एक परम अपापमय देवता की स्तब्ध प्रतिमा" दृष्टि-गोचर होती है। "उस देवता के नहीं देखने वाले ही यौवन को मत्त गजराज कहा करते हैं, अनुराग को मानस-अन्धकार बताया करते हैं सहज भाव को बंकिम लीला का नाम दिया करते हैं।" बाण के देवता की सही तस्वीर उसके इन शब्दों में और साफ दीख जाती है— 'मानवीसता को घेर कर जब मधुकर श्रेणी गुंजार करती रहती है तो मैं स्पष्ट ही पुष्पों के भीतर नीरस के रूप में स्तब्ध उस महा देवता को देख पाता हूँ' नदी जब उन्मत्त वेग से अपने सर्वस्व को दोनों हाथ से लुटाते हुए समुद्र की ओर दौड़ती रहती है, तो उस महाशान्तमय देवता का मुझे साक्षात्कार होता है' मेघ के श्यामल-मेदुर वक्ष-स्थल में क्षण भर के लिए जब विलासवती विद्युत् चमक कर छिप जाती है तो उस समय भी मैं उस व्याकुल वेदना के देवता को देखना नहीं भूलता।"

बाण शरीर से पुष्ट और मनसे धैर्यवान् है। वह अनेक विपत्तियों और कष्टों का भी ... और बढ़ जाने में उत्साह-सा प्रतीत होता है। निराहार रहने की भावना तो कामों वह पक्का साधक है। अपने आवारा जीवनमें उसने यही साधना की है। उसके बलका परिचय अघोरघंट को कंधा पर पे बैठाली घटना से मिल सकता है। "मैंने अघोरघंट को कंधे पर उठा लिया और किस प्रकार का ताण्डव किया, वह तो याद नहीं है पर इतना याद है कि श्मशान का कोई भी कोना मेरे उत्ताल नर्तन से अस्पृष्ट नहीं रहा। अन्त में मैंने अघोरघंट को गंगा में फेंक दिया।" उसके अपने ठंडक होने से भी उसकी शक्ति का

अनुमान लगाया जा सकता है। बाणके शब्दों में उसकी शक्ति का प्रमाण लीजिये– 'मुझ में न जाने कहाँ से अद्भुत शक्ति आ गई थी। भट्टिनी को मैंने पकड़ लिया और अपनी पीठ पर लाद लिया। XXXX धारा के विरुद्ध मैं देर तक नहीं जूझ सका। लाचार होकर धारा के अनुकूल बहने लगा।"

यह ठीक है कि बाण ने अपना सारा जीवन अलक्षराज की भाँति मस्ती से बिताया है, किन्तु वह उसकी भाँति अनर्थकारी नहीं है। उसे अपने कर्तव्य का ध्यान है। वह धीरव्रती और प्रणपालक है। एक बार भट्टिनी के उद्धार का बीड़ा उठाकर किसी भी परिस्थिति में भट्टिनी का साथ छोड़ने वाला नहीं है। कुमार कृष्णवर्धन को उसने अपनी प्रणवीरता का परिचय भी दे दिया है। जैसे लोग प्रकट करते हैं, यह उनका मिथ्याक्षेप आरोप है। उसमें एक विराट का-सा स्वाभिमान, वीर का-सी निर्भीकता, सिद्ध तत्त्व व्यक्ति की-सी आत्मनिर्भरता और महाबली का-सा आत्मविश्वास है।

उसके मनमें आत्मोद्धारक की अपूर्व संवेदन-शीलता का आभास है। वह दुखी-जनों के दुःख-मोचन को धर्म समझता है। इससे स्पष्ट है कि वह धर्म-कर्म की संकीर्ण रूढ़ि-वीथियों में भटकने वाला व्यक्ति नहीं है। उसने निउनिया को बड़े स्पष्ट शब्दों में बता दिया है– 'साधारणतः लोग जिस उचित-अनुचित के बंधे रास्ते से सोचते हैं उससे मैं नहीं सोचता। मैं अपनी बुद्धि से अनुचित-उचित की विवेचना करता हूँ। मैं मोह और लोभवश किये गये समस्त कार्यों को अनुचित मानता हूँ।' इन वाक्यों से भी स्पष्ट है कि मोह और लोभ के घोर शत्रुओं को बाण के अनासक्ति-भाव के सामने घुटने टेकने पड़े हैं।

फक्कड़ की जिन्दगी बितानेवाला बाण भट्टिनी के उद्धार के बन्धन में इतना कस जायगा यह कौन सोच सकता है। उसकी स्वतन्त्रता आरोपित परवशता में बदल गई है। विस्मय की बात तो यह है कि जिस पराधीनता को बाण स्वयं मोल लेता है उसके विरुद्ध उसका मन एक बार भी तो विद्रोह नहीं करता है। भट्टिनी और निपुणिका दोनों उसके प्रेम-नवनीत की कोमल पुत्तलियाँ हैं। उसके अनुराग की अरुणिमा दोनोंमें झलकती है। दोनों के प्रति उसकी अगाध सहानुभूति है किन्तु निपुणिका के प्रति उसकी करुणा का अटूट प्रवाह है और भट्टिनी के प्रति आदर और श्रद्धा का। दोनों के हृदय-सौन्दर्य का वह पुजारी है। दोनों के भक्ति-भाव का वह आदर करता है। भट्टिनी के प्रति उसके भाव का मूल्य उस समय अभिव्यक्त हो जाता है जब वह वाममार्गी बाबा अघोर भैरव के सामने यह स्वीकार करता है– 'उस कन्या का सेवक होना गौरव का विषय है आर्य! मैं उसके मंगल के लिए प्राण तक दे सकता हूँ। X X X X भट्टिनी के प्रति मेरी पूज्य भावना है।

निपुणिका और भट्टिनी के प्रति बाण के भावों का रूप-चित्र उसके शब्दों में इस प्रकार दिया गया है– 'निपुणिका से मैं खुलकर बातें कर सकता हूँ। भट्टिनी के सामने

मुक में एक प्रकार की मोहनकारी वक्रिमा आ जाती है।" इससे स्पष्ट है कि भट्ट मित्र निपुणिका के 'मग्तर' का समीप से जानता है, किन्तु वह भट्टिनी के रूप पर मुग्ध है। भट्टिनी के रूप-माधुरी को वह देखता ही रह जाता है। बाण को निपुणिका का हृदय परमस्त मोहक और आकर्षक प्रतीत हुआ है। वह जानता है कि "निपुणिका में इतने गुण हैं कि वह समाज और परिवार की पूजा का पात्र हो सकती थी।" "निपुणिका में सेवा-भाव इतना अधिक है कि मुझे आश्चर्य होता है। उसने मेरी सेवा इतने प्रकार से और इतनी मात्रा में की है कि मैं उसका प्रतिदान जन्म-जन्मान्तर में भी नहीं कर सकूँगा। +++ निपुणिका जैसी सेवा-परायण कार्यस्मिता मीलावती ममता के प्रति जिस पुरुष की श्रद्धा और प्रीति उच्छ्वसित न हो उठे वह जड़ पाषाण-पिण्ड से अधिक मूल्य नहीं रखता।

बाण भट्टिनी के सौन्दर्य से अभिभूत तो है ही प्रतीत ऐसा भी होता है कि वह उसके कुल और वंश की पृष्ठभूमि से भी प्रभावित होता है। वह भट्टिनी के आदेश को पालने में गौरव समझता है और भट्टिनी की सेवा करने में अपना अहो-भाग्य। उसी के शब्दों में देखिये—"हाय महाकवि क्यों नहीं तुम मेरे चित्त में सचमुच अवतार ग्रहण करते ? कम से कम भट्टिनी का आदेश पालन करने की बुद्धि मुझे दो। ऐसा हो कि मेरी प्रतिभा का अकुण्ठ विलास नर-लोक से किन्नर-लोक तक फैले हुए एक ही रागात्मक हृदय का परिचय पा सके।' +++ मैंने व्याकुल गद्गद कंठ से कहा—"देवि, मेरे पास जो कुछ भी है वह तुम्हारा है। अगर कोई काव्य-शक्ति मेरे पास हो तो वह निश्चय ही तुम्हें समर्पित होकर धन्य होगी।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि भट्टिनी के प्रति बाण की ममता, भक्ति की गंगा में घुलकर पावन हो गई। बाण को हृदय से प्यार करने वाली भट्टिनी उसके द्वारा देवी रूप में पूजित होकर बड़े सकोच में पड़ गई। बाण ने भट्टिनी को सदैव एक ही ऊँचाई पर रख कर देखा है क्योंकि उसके अनुसार बचन ही सौंदर्य है आत्मदमन ही सुरुचि है, बाधाएँ ही माधुर्य है। नहीं तो यह जीवन व्यर्थ का बोझ होजाता। वास्तविकताएँ नग्न-रूप में प्रकट होकर कुत्सित बन जाती।"

बाण आलसी और कर्मठ निर्भीक और निरीह, कारुणिक और विनोदी मस्त और त्यागी, ब्राह्मण और वीर, अनासक्त और स्वाभिमानी तथा भोला और विद्वान् है। उसके चरित्र का एक लघु किन्तु दीप्त चित्र उसी के शब्दों में देख सकते हैं—

'आकाश के मतवाले हाथी रहना बाणभट्ट पद-प्राप्त अकर्मा नहीं है चित्र रज्जु धनवान् की भाँति मनहरणकारी नहीं है केदारोत्पाटित दूर्वादल की भाँति रास्ते पर विखिन्न हतभाग्य नहीं है वन में गिरकर मुरझा जाने वाले चंपकी फूल की भाँति निष्फल जन्मा नहीं है सुरसुन्दर पुलिकरण के समान आश्रयहीन नहीं है अन्धकारान्धार में सूख जाने वाली नदी के समान व्यर्थ काम नहीं है।" इस चित्र में बाण की आत्मा निष्ठा भावुकता, कर्मण्यता, धार्मिकता आदि का सहज संकेत मिल जाता है। हिन्दी

अनुमान लगाया जा सकता है । बाणके शब्दों में उसकी शक्ति का प्रमाण लीजिये–"मुझ में न जाने कहाँ से अद्भुत शक्ति आगई थी । भट्टिनी को मैंने पकड़ लिया और अपनी पीठ पर लाद लिया । XXXX धारा के विरुद्ध मैं पैर तक नहीं जमा सका । लाचार होकर धारा के अनुकूल बहने लगा ।

यह ठीक है कि बाण ने अपना सारा जीवन अलमस्त की भाँति मस्ती में बिताया है, किन्तु वह उसकी भाँति अकर्मण्यचारी नहीं है । उसे अपने कर्तव्य का ध्यान है । वह धीरवती और प्रणपालक है । एक बार भट्टिनी के उद्धार का बीड़ा उठाकर किसी भी परिस्थिति में भट्टिनी का साथ छोड़ने वाला नहीं है । कुमार कृष्णवर्धन को उसने अपनी प्रणवीरता का परिचय भी दे दिया है । उसे लोग लम्पट कहते हैं, यह उनका मिथ्याडम्बर आरोप है । उसमें एक विराट का-सा स्वाभिमान, वीर की-सी निर्भीकता, निःस्व व्यक्ति की-सी आत्मनिर्भरता और महातपस्वी का-सा आत्मविश्वास है ।

उसके मनमें आत्मोद्धारक की सहज संवेदन-शीलता का प्राधान्य है । वह दुखी-जनों के दु:ख-मोचन को धर्म समझता है । इससे स्पष्ट है कि वह धर्म-कर्म की संकीर्ण रूढ़ि-वीथियों में भटकने वाला ब्राह्मण नहीं है । उसने निउनिया को बड़े स्पष्ट शब्दों में बता दिया है– *साधारणतः लोग जिस उचित-अनुचित के बँधे रास्ते से सोचते हैं, उससे मैं नहीं सोचता । मैं अपनी बुद्धि से अनुचित-उचित की विवेचना करता हूँ । मैं मोह और लोभवश किये गये समस्त कार्यों को अनुचित मानता हूँ ।* इन वाक्यों से भी स्पष्ट है कि मोह और लोभ के घोर शत्रुओं को बाण के अनासक्ति-भाव के सामने घुटने टेकने पड़े हैं ।

फक्कड़ की जिन्दगी बितानेवाला बाण भट्टिनी के उद्धार के बन्धन में इतना कस जायगा यह कौन सोच सकता है । उसकी स्वतन्त्रता स्वारोपित परतंत्रता में बदल गई है । विस्मय की बात तो यह है कि जिस पराधीनता को बाण स्वयं मोल लेता है उसके विरुद्ध उसका मन एक बार भी तो विद्रोह नहीं करता है । भट्टिनी और निपुणिका दोनों उसके प्रेम-नवनीत की कोमल पुत्तलिकाएँ हैं । उसके अनुराग की परछाइयाँ दोनोंमें झलकती हैं । दोनों के प्रति उसकी अगाध सहानुभूति है किन्तु निपुणिका के प्रति उसकी करुणा का अटूट प्रवाह है और भट्टिनी के प्रति आदर और श्रद्धा का । दोनों के हृदय-सौन्दर्य का वह पुजारी है । दोनों के भक्ति-भाव का वह आदर करता है । भट्टिनी के प्रति उसके भाव का मूल्य उस समय अभिव्यक्त हो जाता है जब वह वामममर्मी वाक्य अघोर भैरव के सामने यह स्वीकार करता है– इस कन्या का सेवक होना गौरव का विषय है आर्य ! मैं उसके मंगल के लिए प्राण तक दे सकता हूँ । X X X X भट्टिनी के प्रति मेरी पूज्य भावना है ।

निपुणिका और भट्टिनी के प्रति बाण के भावों का रूप-चित्र उसके शब्दों में इस प्रकार दिया गया है– 'निपुणिका से मैं खुलकर बातें कर सकता हूँ । भट्टिनी के सामने

मुख में एक प्रकार की मोहनकारी कांकिका सा जाती है।" इससे स्पष्ट है कि भट्ट मित्र निपुणिका के 'मानस' को समीप से जानता है किन्तु वह भट्टिनी के रूप पर मुग्ध है। भट्टिनी की रूप-माधुरी को वह देखता ही रह जाता है। बाण को निपुणिका का हृदय अत्यन्त मोहक और आकर्षक प्रतीत हुआ है। वह जानता है कि "निपुणिका में इतने गुण हैं कि वह समाज और परिवार की पूजा का पात्र हो सकती थी।" "निपुणिका में सेवा-भाव इतना अधिक है कि मुझे आश्चर्य होता है। उसने मेरी सेवा इतने प्रकार से और इतनी मात्रा में की है कि मैं उसका प्रतिदान जन्म-जन्मान्तर में भी नहीं कर सकूँगा। +++ निपुणिका जैसी सेवा-परायण आर्तस्मिता लीलावती ललना के प्रति जिस पुरुष की श्रद्धा और प्रीति उच्छ्वसित न हो उठे वह वह पाषाण-पिण्ड से अधिक मूल्य नहीं रखता।

बाण भट्टिनी के सौन्दर्य से अभिभूत तो है ही, प्रतीत ऐसा भी होता है कि वह उसके कुल और वय की पृष्ठभूमि से भी प्रभावित होता है। वह भट्टिनी के आदेश को पालने में गौरव समझता है और भट्टिनी की सेवा करने में अपना अहो-भाग्य। उसी के शब्दों में देखिये—"हाय महाकवि क्यों नहीं तुम मेरे चित्त में सचमुच अवतार ग्रहण करते? कम से कम भट्टिनी का आदेश पालन करने की बुद्धि मुझे दो। ऐसा हो कि मेरी प्रतिभा का अस्पृष्ट विलास नर-लोक से किन्नर-लोक तक फैले हुए एक ही रागात्मक हृदय का परिचय पा सके।" +++ मैंने व्याकुल गद्गद कंठ से कहा— 'देवि मेरे पास जो कुछ भी है वह तुम्हारा है। अगर कोई काव्य-शक्ति मेरे पास हो तो वह निश्चय ही तुम्हें समर्पित होकर धन्य होगी।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि भट्टिनी के प्रति बाण की ममता, भक्ति की गाथा में घुलकर पावन हो गई। बाण को हृदय से प्यार करने वाली भट्टिनी उसके द्वारा देवी रूप में पूजित होकर बड़े संकोच में पड़ गई। बाण ने भट्टिनी को सदैव एक ही ऊँचाई पर रख कर देखा है क्योंकि उसके अनुसार 'बंधन ही सौंदर्य है, आत्मदमन ही सुरुचि है, बाधाएँ ही माधुर्य हैं। नहीं तो यह जीवन व्यर्थ का बोझ होजाता। वासनाएँ मन रूप न प्रकट होकर सुरभित बन जाती।"

बाण साहसी और भद्र, निर्मोह और निरीह, कारुणिक और विनोदी भक्त और रक्षक ब्राह्मण और वीर, मनमौजी और स्वाभिमानी तथा भोला और विश्वासी है। उसके चरित्र का एक अंश, किन्तु तीन चित्र उसी के शब्दों में देख सकते हैं—

'भावाल के कारणो, भावों रहना बाणभट्ट पथ भ्रान्त अकर्मा नहीं है, प्रिय रज्जु दण्डवान् की भाँति अनर्थकारी नहीं है बेदारोप्रस्थित दूर्वादल की भाँति पालने पर विक्षिप्त हतभाग्य नहीं है उनमें मिलकर मुरझा जाने वाले चंपक कुसुम की भाँति निरुपम कम्पा नहीं है धूमधूम्र धूमिकाएं के समान आधारहीन नहीं है, मन्दधमन्सार में घूम जाने वाली नदी के समान व्यर्थ काम नहीं है।" इस चित्र में बाण की आस्था निष्ठा भावुकता कर्मण्यता मार्मिकता आदि का सहज संकेत मिल जाता है। हिन्दी

साहित्य को कविकार का सबसे बड़ा अनुदान 'बाण' का चरित है। धार्मिक प्रबन्ध रचनाओं में ऐसे चरित्र मिल सकते हैं, किन्तु थोड़े से; परन्तु उपन्यासों में ऐसे चरित्र दुर्लभ हैं। "पुलिस की दृष्टि से आवारा, लम्पट, 'भुजंग,' 'बण्ड' आदि रूपों में प्रसिद्ध बाण के चरित्र को लेखक ने इस प्रकार चित्रित और अनुरंजित किया है कि वह अपने सम्पूर्ण मानवीय गुणों से दीप्त होकर 'नरोत्तम' बन गया है।

निपुणिका

इस कृति का दूसरा प्रमुख पात्र निपुणिका है। वह अवर्ण स्त्री थी। विवाह के एक वर्ष पश्चात् ही वह विधवा हो गई थी। इसके बाद कुछ ऐसे कारण समुपस्थित हो गये थे जिनसे वह घर छोड़ने के लिए विवश हो गई। उस समय बाण ने नाटक-मंडली बना रखी थी। वह उसी में सम्मिलित हो गई। जिस समय वह बाण के पास आई उसकी आयु १६ वर्ष के आसपास थी। वह बहुत डरी हुई मालूम हो रही थी। यद्यपि उसे आश्रय देने में बाण को भय की आशंका थी फिर भी उसे आश्रय दिया। वह बहुत रोती रही और उसके दुःख का अनुभव करके बाण को उस पर इतनी दया आई कि उस दिन रात भर वह सो भी नहीं सका। बाण ने उसकी परिस्थितियों के सम्बन्ध में अधिक पूछताछ भी नहीं की किन्तु वह उसने पहली बार अनुभव किया कि मनुष्य के सामाजिक संबंधों की जड़ में कहीं बहुत बड़ा दोष रह गया है। निपुणिका के गुणों को देख कर बाण को विस्मय होता था। वह सोचता था कि जिस स्त्री में इतने गुण हों वह समाज और परिवार की पूजा का पात्र हो सकती है। वह हँसमुख है, चतुर है, मोहिनी है, शीलवती है। उसमें सेवा-भाव तो इतना अधिक है कि उससे बाण को आश्चर्य होने लगता है।

सेवा भाव और त्याग-भावना के अतिरिक्त उसके स्वभाव की एक बड़ी विशेषता सहनशीलता है। भट्टिनी के कष्ट को देख कर वह व्याकुल हो उठती है और उसे मुक्त कराये बिना उसे चैन नहीं मिलता। यह काम सरल नहीं था। भट्टिनी को छुड़ाने के लिए उसने भट्ट का और अपने आपको खतरे में डाल कर जो काम किया उसमें परदुःख-कातरता, सहानुभूति, उत्साह और साहस का भाव स्पष्ट है। त्याग का भाव भी निपुणिका के हृदय की अनमोल निधि है। गंगा में दोनों डूब रही हैं। फिर भी वह भट्ट को कहती है—"मुझे छोड़ो, भट्टिनी को संभालो। मृत्यु के मुँह में पहुँचने पर इस प्रकार का त्याग विरले ही सज्जनों के बाँट में आता है।

निपुणिका और भट्टिनी दोनों का अवलम्ब बाण है किन्तु निपुणिका में ईर्ष्या या स्पर्धा का भाव कभी भी तो दृष्टिगोचर नहीं होता। वह जिस भाव को लेकर भट्टिनी के प्रति झुकती है उसका निर्वाह वह निरन्तर करती है। भट्टिनी के उद्धार के लिए उसके अन्तर्मन में जो सहानुभूति की भावना थी वह आजन्म सुरक्षित रहती है। इस सहानुभूति से प्रेरित होकर वह बाण को कहती है—"महावराह ही मेरे वास्तविक सहायक हैं।

उन्होंने ही तुम्हें यहाँ भेजा है। तुम न आते तो भी मुझे तो यह करना ही था। बोलो भट्ट! तुम यह काम कर सकोगे? तुम असुर गृह में आबद्ध लक्ष्मी का उद्धार करने का साहस रखते हो? मदिरा के पंक में डूबी हुई कामधेनु का उबारना चाहते हो? बोलो अभी मुझे बताना है।" इन वाक्यों में निपुणिका की करुणार्द्रता धैर्य उत्साह और आत्मविश्वास के भाव उमड़ते दीख रहे हैं।

इतना ही नहीं जिस भट्टिनी को निपुणिका अपने प्रयत्नों से मुक्त करती है उसके प्रति उसका भाव सन्त ऊँचा रहता है। वह उसके मान और सम्मान की रक्षा के लिए सदैव सतर्क रहती है। महाराजा के आमंत्रण पर भट्टिनी के स्थाण्वीश्वर जाने की बात पर वह उसके सम्मान की रक्षा के लिए तिलमिला उठती है। बाण को झिड़कती हुई सी निपुणिका बोलती है— 'ऐसा लगता भट्ट स्पष्ट बात को तुम फिर अस्पष्ट बना रहे हो। आभीर राज की सेना के साथ भट्टिनी स्वतन्त्र राज्य की रानी की भाँति जायेगी। महाराजाधिराज को गरज होगी तो बार भट्टिनी के दर्शन का प्रसाद जाँचने आयेंगे भट्टिनी की मर्यादा के विरुद्ध पत्ता भी खड़का तो रक्त की नदी बह जायगी। और कोई नहीं अकेला तो तुम और मैं तो निश्चय ही इस कार्य में बलि हो जायेंगे। इसमें डर कहाँ है? मैं भट्टिनी की मर्यादा की कसौटी होकर बचूँगी तुम प्राण देने में क्यों हिचकते हो?

भट्टिनी के सम्मान की रक्षा में प्रखर निपुणिका के भाव का दर्शन उसके इन शब्दों में भी किया जा सकता है— 'क्रोध में आहत सिंहिनी की भाँति गर्ज कर अपना कन्धा झाड़ते हुए उसने कहा—धिक्कार है भट्ट तुम कैसे भट्टिनी का अपमान करने पर उद्यत हो गये। कान्यकुब्ज का लम्पट-दास्य राजा क्या भट्टिनी के सेवक को अपना सभासद बनाने की स्पर्धा रखता है?'

प्रारम्भ में भट्ट के प्रति निउनिया को मोह उत्पन्न हुआ था, किन्तु उसे अपनी और भट्ट की प्रकृति का ज्ञान होने से वह सचेत हो गई। इसके पश्चात् उसने मोह का निवारण करने का प्रयत्न किया। छै वर्ष तक कुटिल दुनिया में असहाय मारी-मारी फिरी और फिर उसका मोह भक्ति में प्रेरित हो गया।

निपुणिका भट्ट की गरिमा को पहचानती है। वह उसको उपलब्धियों के संबंध में जागरूक है। इसके अतिरिक्त उसने अपने हृदय की प्रसून लिपि भट्ट को अर्पित करती है। वह भट्ट का ही कल्याण चाहती है। इसीलिए वह कहती है—'भट्ट मुझे किसी बात का पछतावा नहीं है। मैं जो हूँ उसके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकती थी। परन्तु तुम जो कुछ हो उससे कहीं श्रेष्ठ हो सकते हो। इसीलिए कहती हूँ तुम यहाँ मत रुको। मैं पश्चात्ताप करूँ तो जिस नरक में पड़ी हूँ वहाँ भी स्थान नहीं मिलेगा। तुम संभल जाओगे, तो जिस स्वर्ग में स्थान पाओगे उसकी कोई कल्पना मेरे मन में भी नहीं है तुम्हारे मन में भी नहीं है। मैंने दुनिया कम नहीं देखी है। इस दुनिया में तुम्हारे जैसे पुरुष रत्न दुर्लभ है।"

साहित्य को द्विवेदी का सबसे बड़ा अवदान 'बाण' का चरित्र है। धार्मिक प्रबन्ध-रचनाओं में ऐसे चरित्र मिल सकते हैं, किन्तु थोड़े थे; परन्तु उपन्यासों में ऐसे चरित्र दुर्लभ हैं। "दुनिया की दृष्टि से आवारा, लम्पट, 'भुजंग', 'बण्ड' आदि रूपों में प्रतीत बाण के चरित्र को लेखक ने इस प्रकार चित्रित और अनुरंजित किया है कि वह अपने सम्पूर्ण मानवीय गुणों से दीप्त होकर 'नरोत्तम' बन गया है।

निपुणिका

इस कृति का दूसरा प्रमुख पात्र निपुणिका है। वह अवर्ण स्त्री थी। विवाह के एक वर्ष पश्चात् ही वह विधवा हो गई थी। इसके बाद कुछ ऐसे कारण समुपस्थित हो गये थे जिनसे वह घर छोड़ने के लिए विवश हो गई। उस समय बाण ने नाटक-मंडली बना रखी थी। वह उसी में सम्मिलित हो गई। जिस समय वह बाण के पास आई उसकी आयु १६ वर्ष के आसपास थी। वह बहुत डरी हुई मालूम हो रही थी। यद्यपि उसे आश्रय देने में बाण को भय की आशंका थी, फिर भी उसे आश्रय दिया। वह बहुत रोती रही और उसके दुःख का अनुभव करके बाण को उस पर इतनी दया आई कि उस दिन रात भर वह सो भी नहीं सका। बाण ने उसकी परिस्थितियों के सम्बन्ध में अधिक पूछताछ भी नहीं की, किन्तु वह उसने पहली बार अनुभव किया कि मनुष्य के सामाजिक संबंधों की जड़ में कहीं बहुत बड़ा दोष रह गया है। निपुणिका के गुणों को देख कर बाण को विस्मय होता था। वह सोचता था कि जिस स्त्री में इतने गुण हों वह समाज और परिवार की पूजा का पात्र हो सकती है। वह हँसमुख है, चतुर है, मोहिनी है, सौभाग्यवती है। उसमें सेवा-भाव तो इतना अधिक है कि उससे बाण को आश्चर्य होने लगता है।

सेवा-भाव और त्याग भावना के अतिरिक्त उसके स्वभाव की एक बड़ी विशेषता सहनशीलता है। भट्टिनी के कष्ट को देख कर वह व्याकुल हो उठती है और उसे मुक्त कराये बिना उसे चैन नहीं मिलता। यह काम सरल नहीं था। भट्टिनी को छुड़ाने के लिए उसने भट्ट को और अपने आपको खतरे में डाल कर जो काम किया उसमें परदुःख-कातरता, सहानुभूति, उत्साह और साहस का भाव स्पष्ट है। त्याग का भाव भी निपुणिका के हृदय की अनमोल निधि है। गंगा में दोनों डूब रही हैं। फिर भी वह भट्ट को कहती है— 'मुझे छोड़ो भट्टिनी को संभालो।' मृत्यु के मुँह में पहुँचने पर इस प्रकार का त्याग विरले ही उदारमना के बाँट में आता है।

निपुणिका और भट्टिनी दोनों का अवलम्ब बाण है किन्तु निपुणिका में ईर्ष्या या स्पर्धा का भाव कभी भी तो दृष्टिगोचर नहीं होता। वह जिस भाव को लेकर भट्टिनी के प्रति झुकती है उसका निर्वाह वह निरन्तर करती है। भट्टिनी के उद्धार के लिए उसके प्रयत्नों में जो सहानुभूति की भावना थी वह आद्यन्त सुरक्षित रहती है। इस सहानुभूति से प्रेरित होकर वह बाण को कहती है—' महावराह ही मेरे वास्तविक सहायक हैं।

उन्होंने ही तुम्हें यहाँ भेजा है। तुम न आते तो भी मुझे तो यह करना ही था। बोलो भट्ट! तुम यह काम कर सकोगे? तुम असुर गृह में आबद्ध लक्ष्मी का उद्धार करने का साहस रखते हो? मदिरा के पंक में डूबी हुई कामधेनु को उबारना चाहते हो? बोलो अभी मुझे जाना है।' इन वाक्यों में निपुणिका की [illegible] का धैर्य उत्साह और आत्मविश्वास के भाव समझते दीख रहे हैं।

इतना ही नहीं जिस भट्टिनी को निपुणिका अपने प्रयत्नों से मुक्त करती है उसके प्रति उसका भाव सदैव ऊँचा रहता है। वह उसके मान और सम्मान की रक्षा के लिए सदैव सतर्क रहती है। महाराजा के पार्श्वभाग पर भट्टिनी के दण्डापतीश्वर आने की बात पर वह उसके सम्मान की रक्षा के लिए तिलमिला उठती है। बाण को भिड़कती हुई सी निपुणिका बोलती है—"कैसा बात भट्ट, स्पष्ट बात को तुम फिर अस्पष्ट बना रहे हो। आभीर राज की सेना के साथ भट्टिनी स्वतन्त्र राज्य की रानी की भाँति चलेगी। महाराजाधिराज की शरण होगी तो यहाँ भट्टिनी के दर्शन का प्रसाद बाँटने आयेंगे भट्टिनी की मर्यादा के विरुद्ध पत्ता भी खड़का तो एक भी नहीं बच पायगी। और कोई नहीं मरेगा तो तुम और मैं तो निश्चय ही इस कार्य में बलि हो जायेंगे। इसमें डर कहाँ है? मैं भट्टिनी की मर्यादा की कसौटी होकर जाऊँगी तुम प्राण देने में क्यों हिचकते हो?

भट्टिनी के सम्मान की रक्षामें तत्पर निपुणिका के भाव का दर्शन उसके इन शब्दों में भी किया जा सकता है—"अन्त में पादाहत सिंहिनी की भाँति गर्ज कर अपना कम्पा भड़ते हुए उसने कहा—धिक्कार है भट्ट, तुम कैसे भट्टिनी का अपमान करने पर राजी हो गये! कान्यकुब्ज का लम्पट-धारम्य राजा तथा भट्टिनी के सेवक को अपना सभासद बनाने की स्पर्धा रखता है?"

प्रारम्भ में भट्ट के प्रति निपुणिका को मोह उत्पन्न हुआ था, किन्तु उसे अपनी और भट्ट की प्रकृति का ज्ञान होने से वह सचेत हो गई। इसके पश्चात् उसने मोह का दिवा रूप करने का प्रयत्न किया। छः वर्ष तक कुटिल दुनिया में असहाय मारी-मारी फिरी और फिर उसका मोह भक्ति में प्रेरित हो गया।

निपुणिका भट्ट की प्रतिभा को पहचानती है। भट्ट उसकी उपलब्धियों के संबंध में जानकार है। इसके अतिरिक्त उसने अपने हृदय की अमूल्य निधि भट्ट को अर्पित करती है। वह भट्ट का ही कल्याण चाहती है। इसीलिए वह कहती है—"भट्ट मुझे किसी बात का पछतावा नहीं है। मैं जो हूँ उसके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकती थी। परन्तु तुम भी कुछ हो, उससे कहीं श्रेष्ठ हो सकते हो। इसीलिए कहती हूँ तुम यहाँ मत रुको। मैं पश्चाताप करूँ तो जिस नरक में पड़ी हूँ वहाँ भी स्थान नहीं मिलेगा। तुम सँभल जाओ, तो जिस स्वर्ग में स्थान पाओगे उसकी कोई कल्पना मेरे मन में भी नहीं है तुम्हारे मन में भी नहीं है। मैंने दुनिया कम नहीं देखी है। इस दुनिया में तुम्हारे जैसे पुरुष रत्न दुर्लभ हैं।"

साहित्य को हजारीप्रसाद का सबसे बड़ा अनुदान 'बाण' का चरित्र है। धार्मिक ग्रन्थ-रचनाओं में ऐसे चरित्र मिल सकते हैं, किन्तु थोड़े से परन्तु उपन्यासों में ऐसे चरित्र दुर्लभ हैं। "दुनिया की दृष्टि से आवारा, अस्पष्ट, 'भुजंग,' 'बण्ड' आदि रूपों में अतीत बाण के चरित्र को लेखक ने इस प्रकार चित्रित और अनुरंजित किया है कि वह अपने सम्पूर्ण मानवीय गुणों से दीप्त होकर 'नरोत्तम' बन गया है।

निपुणिका

इस कृति का दूसरा प्रमुख पात्र निपुणिका है। वह अवर्ण स्त्री थी। विवाह के एक वर्ष पश्चात् ही वह विधवा हो गई थी। इसके बाद कुछ ऐसे कारण समुपस्थित हो गये थे जिनसे वह घर छोड़ने के लिए विवश हो गई। उस समय बाण ने नाटक-मंडली बना रखी थी। वह उसी में सम्मिलित हो गई। जिस समय वह बाण के पास आई उसकी आयु १६ वर्ष के आसपास थी। वह बहुत डरी हुई मालूम हो रही थी। यद्यपि उसे आश्रय देने में बाण को भय की आशंका थी, फिर भी उसे आश्रय दिया। वह बहुत रोती रही और उसके दुःख का अनुभव करके बाण को उस पर इतनी दया आई कि उस दिन रात भर वह सो भी नहीं सका। बाण ने उसकी परिस्थितियों के सम्बन्ध में अधिक पूछताछ भी नहीं की, किन्तु यह उसने पहली बार अनुभव किया कि मनुष्य के सामाजिक संबंधों की जड़ में कहीं बहुत बड़ा दोष रह गया है। निपुणिका के गुणों को देख कर बाण को विस्मय होता था। वह सोचता था कि जिस स्त्री में इतने गुण हों वह समाज और परिवार की पूजा का पात्र हो सकती है। वह हंसमुख है, चतुर है, मोहिनी है, सेवाव्रती है। उसमें सेवा भाव तो इतना अधिक है कि उससे बाण को आश्चर्य होने लगता है।

सेवा-भाव और त्याग भावना के अतिरिक्त उसके स्वभाव की एक बड़ी विशेषता सहनशीलता है। भट्टिनी के कष्ट को देख कर वह व्याकुल हो उठती है और उसे मुक्त कराये बिना उसे चैन नहीं मिलता। यह काम सरल नहीं था। भट्टिनी को छुड़ाने के लिए उसने भट्ट को और अपने आपको खतरे में डाल कर जो काम किया उसमें परदुःख-कातरता, सहानुभूति, उत्साह और साहस का भाव स्पष्ट है। त्याग का भाव भी निपुणिका के हृदय की अनमोल निधि है। गंगा में दोनों डूब रही हैं। फिर भी वह भट्ट को कहती है— 'मुझे छोड़ो भट्टिनी को संभालो।' मृत्यु के मुँह में पहुँचने पर इस प्रकार का त्याग विरले ही व्यक्तियों के बाँट में आता है।

निपुणिका और भट्टिनी दोनों का अवलम्ब बाण है, किन्तु निपुणिका में ईर्ष्या या स्पर्धा का भाव कभी भी तो दृष्टिगोचर नहीं होता। वह जिस भाव को लेकर भट्टिनी के प्रति झुकती है उसका निर्वाह वह निरन्तर करती है। भट्टिनी के उद्धार के लिए उसके प्रयत्नों में जो सहानुभूति की भावना थी वह आजन्म सुरक्षित रहती है। इस सहानुभूति से प्रेरित होकर वह बाण को कहती है—"महावराह ही मेरे वास्तविक सहायक हैं।

दीखता है। भावुकता के प्रतिक्षण में वह अपने विक्षुब्ध भावों को खोलकर रख देती है। निपुणिका उन इने गिने पात्रों में से है जो साहित्य में स्पर्धा की भूमिका पर उतर कर अनेक गुणों से सम्पन्न होकर भी जीवन की ज्वाला में तिल-तिल भस्म होते हैं, किन्तु दूसरों के उजड़े जीवन को क्रीड़ा-कानन बनाने के लिए अपने त्यागमय प्रेम की धारा बहा जाते हैं।

निपुणिका भावुकता की शोभा, नारी सुलभ, त्याग की प्रतिमा, प्रेम की पुतली कला की मधुर कल्पना और सहायकता की सीमा-सीमा है। जाति और वर्ग के बन्धन से ऊपर उठकर जीवन की कठिन परिस्थितियों में भी उसने नारी समाज को जो मार्ग दिखलाया है, वह जीवन के मधुर और उज्ज्वल रूप को प्रशस्त करने में बड़ा सहायक सिद्ध हो सकता है। ममता में संयम, करुणा में अविचल की भावना और प्रेम में उदारता और निश्छलता का पावन स्वरूप दीप्त करके निपुणिका पाठकों के कोमल हृदयों को सदैव प्रभावित करती रहेगी। पाठक को लगता है मानो वह भट्ट से कह रही है—"मैंने कुछ भी नहीं रखा अपना सब कुछ तुम्हें दे दिया और भट्टिनी को भी दे दिया। दोनों में कोई विरोध नहीं है। प्रेम की दो विरुद्ध दिशाएँ एक सूत्र हो गई हैं।

भट्टिनी

यह राजकुल की मर्यादा में पलने वाली एक शीलवती नारी है। उसकी आयु और शालीनता का अद्भुत सम्मिश्रण पाठकों को मुग्ध किये बिना नहीं रहता। विकट समर विजयी तुवरमिलिन्द की यह प्राणप्रिय कन्या दस्युओं के हाथ पड़कर स्थाण्वीश्वर के छोटे राजकुल के वासनामय वातावरण में आ फँसती है। छोटा राजकुल अपने ऐसे अधम कार्यों से कलंकित हो चुका है किन्तु सम्भवतः विनाश उस कुल का आधार बन गया है।

भट्टिनी के सौन्दर्य की प्रभाव शक्ति उसे संयम के मार्ग पर प्रेरित करती हुई उसकी भक्ति-भावना को पुष्ट बनाती है। जिस प्रकार सुन्दरता ने भट्टिनी को अपना रखा है, उसी प्रकार भट्टिनी ने महावराह की भक्ति को अपना रखा है। महावराह के चरणों में प्रीति लिप्त रखने वाली इस राजकुमारी को देखते ही बाण विस्मित होकर यह सोचने लगता है— इतनी पवित्र रूपराशि किस प्रकार इस कलुष धरित्री में सम्भव हुई।

प्रथम दर्शन से ही भट्ट के भावों की सारी गठरी खुलकर भट्टिनी की रूप-माधुरी में इर्द-गिर्द बिखर जाती है। उसने भट्टिनी के अनेक रूपों को अनेक मानसिक परिस्थितियों का बड़े निकट से देखा है। चिन्ताकुल शोकमग्न अवस्था से लेकर बाण ने भट्टिनी को समाधिस्थ अभय मुद्रा तक में देखा है। प्रत्येक अवस्था में उसने उसे एक दिव्य शान्ति से मण्डित पाया है। उसके नेत्र नैन, वर्ण और मुद्राओं में लेखक की वर्णन-प्रतिभा ने बड़ी उदारता दिखलाई है। भट्टिनी के पास हृदय की असीम सम्पत्ति है, किन्तु वह उसका उपयोग बड़े संयम और गौरव से करती है।

बाण को भट्टिनी आदर करती है और उसके प्रति विनम्र रहती है। बाण अपने को उसका धर्मबान्धव समझता है दूसरे लोग भी यही मानते हैं किन्तु भट्टिनी भी भट्ट के

निपुणिका बाणभट्ट को देवता मानती है। वह उसके नाम पर किसी प्रकार का कलंक नहीं देख सकती। वह उसके सम्मान और शरीर की रक्षा करने में तत्पर रहती है। महामाया के मुख से उस्ताद पर्व के साथ निकले हुए बाणविषयक कुवाक्य को सुनकर उसका मर्म आहत हो जाता है और वह उसको सबपूर्वक उत्तर देती है—"बाणभट्ट आदमी नहीं है, वह देवता है, ऋषि।" बगलीय से निपुणिका बाण के प्राणों पर धार देख कर सांपी की तरह मारती है और एक ही धक्के में चण्डमण्डना को मटक कर छीन लेती है और मद्योग लेकर वह विकट नृत्य करके हवन कुण्ड आदि को विध्वस्त करके भयंकर स्थिति में क्षति पैदा कर देती है जिससे बाण की रक्षा हो जाती है।

बाण के सम्बन्ध में निपुणिका का देव-भाव बहुत दृढ़ है। वह भट्ट को स्वयं कह देती है— "मैं क्या नहीं जानती कि तुम जानबूझ कर कभी अनुचित बात नहीं कह सकते? देखो भट्ट तुम नहीं जानते कि तुमने मेरे इस पाप-पंकिल शरीर में कैसा प्रफुल्ल शतदल खिला रखा है। तुम मेरे देवता हो मैं तुम्हारा नाम जपनेवाली अधम नारी हूं। ऐसा कलुष मानस लेकर भी जो जी रही हूं सो केवल इसलिए कि तुमने जीने योग्य समझा है।" इस प्रकार की बातों से निपुणिका का सद्भाव विश्वास और विनतिभाव स्पष्ट हो जाता है।

निपुणिका की मामूली से मामूली बातचीत मे बाण का नाम सम्मिलित रहता है। इसका प्रमाण बाण को सुचरिता के इन शब्दो से मिल जाता है— वह आपका नाम लिए बिना मामूली से मामूली बात भी नहीं बता सकती बहुत दिनों से साथ थी कि आपके दर्शन कर ।"

निपुणिका धैर्य, साहस, सहनशीलता, प्रेम और भक्ति की साक्षात् प्रतिमा है। वह कलाविद् तो है ही कलावती भी है। उसमें प्रत्युत्पन्न बुद्धि का अभाव नहीं है। मारीच की भूमिका में मंच पर उतरे हुए कटिमभट्ट की अद्भुत चेष्टाओं से जब अभिनय बिगड़ने लगा तो निपुणिका ने घबराये हुए बाण को आश्वासन दिया और तितली की तरह नाचती हुई उसने रंगमंच पर पहुंच कर, अपने बांये हाथ को कटिप्रदेश पर रख कर चचल चारी के साथ स्थ ल नर्तन से रंगमच को मुखरित कर दिया। मूक कटिल उठकर खड़ा हो गया। निउनिया ने दाहिने हाथ से उसकी दाढ़ी पकड़ी और सप्रश्रय कण्ठ से कहा— 'नागर मेरे नाचोगे नहीं? इसमें क्षणभर में सारा वातावरण हास्यमय हो गया।

निउनिया, नृत्य और संगीत में कुशल थी किन्तु हृदयकी अनन्त संपत्ति को सुपात्रों में लुटाने में वह बड़ी भोली थी। निपुणिका देवी-जाति का गुं यार, सतीत्व की मर्यादा और सन्मार्गगामिनी नारियों की मार्गदर्शिका थी। उसने अपने सारे जीवन को तिल-तिल होम कर मङ्गलान्वित कर दिया था। निपुणिका में ईर्ष्या नहीं थी फिर भी बाण एवं भट्टिनी के सम्पर्क में आने के बाद उसका जीवन एक विचित्र मानसिक संघर्ष में बीतता

दीखता है। वात्सल्यता के प्रतिमान में वह अपने निगूढ़ भावों को खोलकर रख देती है। निपुणिका उन इने गिने पात्रों में से है जो साहित्य में स्त्री की भूमिका पर उतर कर अनेक गुणों से सम्पन्न होकर भी जीवन की ज्वाला मे तिल-तिल भस्म होते हैं किन्तु दूसरों के उनके जीवन की क्रीड़ा-कानन बनाने के लिए अपने त्यागमय प्रेम की धारा बहा जाते हैं।

निपुणिका मानवता की शोभा, नारी भूषण, त्याग की प्रतिमा प्रेम की पुतली क्षमा का मधुर स्वरूप और सहायपता की लोक-सीमा है। जाति और वर्ग के बन्धन से ऊपर उठकर जीवन की विषम परिस्थितियों में भी उसने नारी समाज को जो मार्ग दिखलाया है वह जीवन के मधुर और उज्ज्वल रूप को प्रशस्त करने में बड़ा सहायक सिद्ध हो सकता है। ममता में संयम, करुणा में बलिदान की भावना और प्रेम में उदारता और निःस्वार्थता का पावन स्वरूप दीप्त करके निपुणिका पाठकों के कोमल हृदय को सदैव प्रकाशित करती रहेगी। पाठक को लगता है मानो वह भट्ट से कह रही है— 'मैंने कुछ भी नहीं रखा अपना सब कुछ तुम्हें दे दिया और भट्टिनी को भी दे दिया। दोनों में कोई विरोध नहीं है। प्रेम की दो विरुद्ध दिशाएं एक सूत्र हो गई हैं।

भट्टिनी

यह राजवंश की मर्यादा में रहने वाली एक शीलवती नारी है। उसकी आयु और गम्भीरता का अद्भुत सम्मिश्रण पाठकों को वश किये बिना नहीं रहता। विकट समर विजयी तुवरमिलिन्द की वह प्राणाधिक कन्या दस्युओं के हाथ पड़कर स्थाण्वीश्वर के छोटे राजकुल के वासनामय वातावरण में आ फँसती है। छोटा राजकुल अपने ऐसे अधम कार्यों से कलंकित हो चुका है किन्तु सामन्तीय विलास उस कुल का आधार बन गया है।

भट्टिनी के सौन्दर्य की अगाध राशि उसे संयम के मार्ग पर प्रेरित करती हुई उसकी भक्ति-भावना को पुष्ट बनाती है। जिस प्रकार मुग्धता ने भट्टिनी को अपना रखा है उसी प्रकार भट्टिनी ने महावराह की भक्ति को अपना रखा है। महावराह के चरणों में प्रतिमा निष्ठा रखने वाली इस राजकुमारी को देखते ही बाण विस्मित होकर यह सोचने लगता है— 'इतनी पवित्र रूपराशि किस प्रकार इस कलुष धरित्री में सम्भव हुई।

प्रथम दर्शन से ही भट्ट के भावों की सारी गठरी खुलकर भट्टिनी की रूप-माधुरी के इर्द-गिर्द बिखर जाती है। उसने भट्टिनी के अनेक रूपों का अनेक, मानसिक परिस्थितियों को बड़े निकट से देखा है। चिन्तातुर शोकमग्न अवस्था से लेकर बाण ने भट्टिनी का समाहृत प्रथम पुण्य तक में देखा है। प्रत्येक अवस्था में उसने उसे एक दिव्य कान्ति से मण्डित पाया है। उसके वेश भूषा वर्ण और मुद्राओं में लेखक की वर्णन-प्रतिभा ने बड़ी उदारता दिखलाई है। भट्टिनी के पास हृदय की अमोघ सम्पत्ति है, किन्तु वह उसका उपयोग बड़े संयम और गौरव से करती है।

बाण को भट्टिनी आदर करती है और उसके प्रति निष्ठ रहती है। बाण अपने को उसका अभिभावक समझता है, दूसरे लोग भी यही मानते हैं किन्तु भट्टिनी भी भट्ट के

भट्टिनी के चरित्र में आत्मगौरव, पवित्र भक्ति, मातृत्व में प्रगाढ़ निष्ठा, हृदय की सरलता, उदारता, निष्कपटता के साथ विश्वासमय गंभीर प्रेम, संयम-साहस, व्यवहार-कौशल आदि गुणों का भी अद्भुत समन्वय है। समस्त विकारों और संयत भावरत्नों का सुमेल—सौन्दर्य-शील-सम्पन्न भट्टिनी के चरित्र की महान् उपलब्धि है। भट्ट से अन्तिम बार विदा होते समय उसकी व्यथाकातर वाणी हृदयों को व्यक्त कर देती है। भट्टिनी की अलौकिक रूप-राशि एवं भावपूर्ण मनों के रंगीन चित्र लेखक की कल्पना और कला के सूक्ष्म तथा सजीव स्पर्शों के मोहक चित्र हैं।

१६. दीदी का प्रसग

'बाणभट्ट की आत्मकथा' की ऐतिहासिकता पर सम्भवतः किसी को भी विश्वास न होता यदि इसमें आमुख और उपसंहार न होता। आमुख में प्रमुखता दीदी के परिचय को दी गई है। दीदी के परिचय की मनोहर वीथिका में होकर लेखक पाठक को उस पुलिंदे तक ले पहुँचा है जिसमें 'बाणभट्ट की आत्मकथा' मिलती है। इस वीथी का सौन्दर्य इतना आकर्षक है कि पाठक के मन को इधर-उधर जाने का अवकाश ही नहीं मिलता। पुलिंदे पर पहुँच कर तो हमारा विश्वास जम जाता है। अन्त में—उपसंहार में दीदी का पत्र बहुत विचित्र है। हमें उसके इन्द्रजाल में फाँस कर लेखक उसकी टिप्पणी करने लग जाता है जिससे विश्वास की जड़ें हिलने लगती हैं।

आमुख और उपसंहार इस रचना के प्राण हैं। कौतूहल और विस्मय की आधार शिला भी इन्हीं में निहित है और कथा के रहस्य का उद्घाटन भी इन्हीं से हो सकता है किन्तु पाठक को बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिये अन्यथा वह भूल-भुलैयों में पड़ कर स्वयं को भी भूल सकता है और 'यह रचना आत्मकथा है या कुछ और है', इस विषय में निर्णय नहीं कर सकता है। इस रचना को बाणभट्ट की कृति-जैसी प्रमाणित करने के लिए जो मोहक एवं सरस प्रमाण दिये जाते हैं उनमें चाहे कितनी ही प्रामाणिकता निहित हो, किन्तु कल्पना की उड़ान को विस्मय-विमुग्ध होकर देखने के सिवा और कोई चारा भी नहीं रहता। कथा में जिस प्रकार भट्टिनी और निपुणिका वास्तविक लगती हैं उसी प्रकार आमुख में दीदी भी वास्तविक लगती है।

इस रचना के रहस्य को समझने के लिए आमुख और उपसंहार के अध्ययन में बड़ी सावधानी बरतनी चाहिये। उन्हीं में से रचना की ऐतिहासिकता, साहित्यिकता, कल्पनात्मकता और कुशलता हमारे समक्ष आ सकती है। आमुख और उपसंहार के इन्द्रजाल से कुछ सूत्र पृथक करके समीक्षा के सामने मीमांसा के लिए प्रस्तुत किये जा सकते हैं। छाँट कर प्रमुख सूत्रों को इस प्रकार रख सकते हैं—

आमुख के सूत्र

(१) मिस कैथराइन आस्ट्रिया के एक सम्भ्रान्त ईसाई-परिवार की कन्या हैं। यद्यपि वे अभी तक जीवित हैं पर उन्होंने एक विचित्र ढंग का वैराग्य ग्रहण किया है और पिछले पाँच वर्षों में मुझे उनकी केवल एक चिट्ठी ही मिली है, जो इस लेख से सम्बद्ध होने के कारण अन्त में छाप दी गई है।

(२) वे मुझे देख कर बहुत प्रसन्न हुईं'। इसके कुछ सूत्र ही वास्तविक हैं।

इसमें अधिकांशतः कल्पना-सूत्रों का ही योग है और उनसे जो 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का पट तैयार हुआ है वह हिन्दी-साहित्य-गगन का एक जगमगाता तारा है।

कथामुख में निवेदन के पश्चात् 'बाणभट्ट की आत्मकथा' शीर्षक के अन्तर्गत ही लेखक ने मिस कैथराइन—अपनी तथाकथित दीदी—का जो परिचय दिया है, वह कथा की भूमिका और कथा का ही अङ्ग है। जो कथा दीदी के परिचय से प्रारम्भ होती है वह उसके पत्र तथा उसके सम्बन्ध में लेखक की टिप्पणी से समाप्त होती है। कथा के ये दोनों अंश पाठकों का विश्वास प्राप्त करने के लिए लेखक ने व्यवस्थित किये हैं और वह अपने उद्देश्य में सफल भी हो गया है। भूमिका और उपसंहार की कुछ बातें बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। उनको ध्यान में रखकर पाठक के सामने 'रहस्य' उत्पादित होने लगता है, किन्तु रहस्य की ओर ध्यान को बड़े मनोयोग से सजग रखना होगा। वे बातें ये हैं—

१ 'मिस कैथराइन आस्ट्रिया के एक सम्भ्रान्त ईसाई-परिवार की कन्या हैं। यद्यपि वे अभी तक जीवित हैं, पर उन्होंने एक विचित्र ढंग का वैराग्य ग्रहण किया है, और पिछले पाँच वर्षों में मुझे उनकी केवल एक चिट्ठी ही मिली है, जो इस लेख से संबद्ध होने के कारण अन्त में छाप दी गई है।

२ "मुझे देखकर बहुत प्रसन्न हुईं और बोलीं—'तुझे ही तो खोज रही थी। शोण यात्रा में उपलब्ध सामग्री का हिन्दी-रूपान्तर मैंने कर लिया है। तू इसे एक बार पढ़ तो जा। देख मेरी हिन्दी में जो गलती है उसे सुधार दे और आनन्द से इसका अं ग्रेजी में छपा करा ले। ले जा।

३ 'फिर बोलीं—देख मैं यहाँ ज्यादा नहीं ठहर सकती। इस अनुवाद को तू जरा ध्यान से पढ़ और कलकत्ते जाकर टाइप करा ला। दो-एक चित्र भी पुस्तक में देने होंगे। जा जल्दी कर।

४ 'कागजों का पुलिंदा लेकर मैं घर आया। यद्यपि मेरी आँखें कमजोर हैं और रात को काम करना मेरे लिये कठिन है फिर भी दीदी के कागजों को मैंने पढ़ना शुरू किया। शीर्षक के स्थान पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था—अथ बाणभट्ट की आत्म-कथा लिख्यते'। 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' तब तो दीदी को अमूल्य वस्तु हाथ लगी है। मैं ध्यान से सारी कथा पढ़ गया। मुझे अपार आनन्द आ रहा था। इतने दिन बाद संस्कृत-साहित्य में एक अनोखी चीज प्राप्त हुई है।"

५ 'एक दिन मैंने सोचा कि बाणभट्ट के ग्रन्थों से मिला कर देखा जाय कि कथा कितनी प्रामाणिक है। कथा में ऐसी बहुत-सी बातें था जो उन पुस्तकों में नहीं हैं। इसके लिए मैंने समसामयिक पुस्तकों का आश्रय लिया और एक तरह से कथा को नये सिरे से सम्पादित किया। आगे जो कथा दी हुई है वह दीदी का अनुवाद है और कुछ

नोट में पुस्तकों के हवाले दिये हुए हैं, वे मेरे हैं। कथा ही प्रसंग में महत्त्वपूर्ण है, टिप्पणियाँ तो उसकी प्रामाणिकता की सबूत हैं।"

६ 'भेजे बाणभट्ट की आत्म-कथा दे रहा हूँ। दीदी ने उसे प्रकाशित करने की आज्ञा दे दी है। लक्ष्य करने की बात यह है कि बाणभट्ट की अन्यान्य पुस्तकों की भाँति यह आत्मकथा भी अपूर्ण ही है।'

७ 'अब मेरे दिन गिने-चुने ही रह गये हैं। इसके पहले 'कथा' के बारे में मैंने जो पत्र लिखा था उसे मत छपाना। मैं अब फिर तुम लोगों के बीच नहीं आ सकूँगी। मैं सचमुच संन्यास ले रही हूँ। मैंने अपने निर्जन वास का स्थान चुन लिया है। यह मेरा अन्तिम पत्र है।"

८ आत्म-कथा' के बारे में तुम एक बड़ा गलती की है। तूने उसे अपने कथामुख में इस प्रकार प्रदर्शित किया है मानो वह 'ऑटोबायोग्राफी' हो। वे भला! तूने संस्कृत पढ़ी है ऐसी तो मेरी धारणा थी पर यह क्या अनर्थ कर दिया तूने। बाणभट्ट की आत्म-कथा शोण नद के प्रत्येक बालुका-कण में वर्तमान है। छि कैसा निर्बोध है तू उस आत्मा का आवाज तुझे नहीं सुनाई देती?

९ तुमसे मेरी एक शिकायत बराबर रही है। तू बात नहीं समझता। भोले, बाण-भट्ट' केवल भारत में ही नहीं होते। इस मर्त्यलोक से किन्नरलोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।

१० तो 'आत्मकथा' का अर्थ 'ऑटोबायोग्राफी' समझकर दीदी की दृष्टि में मैंने अनर्थ कर दिया है। × × × शोण नद के समस्त बालुका-कणों में से न जाने किस कण से बाणभट्ट की यह मर्मभेदी पुकार दीदी को सुना दी थी।

११ 'अस्त्रियवर्ष' की पवन-कुमारी वैष्णवसंगिनी तथा आस्ट्रिया देशवासिनी दीदी हैं। उनके इस वाक्य का क्या अर्थ है कि 'बाणभट्ट' केवल भारत में ही नहीं हैं। आस्ट्रिया में जिस नवीन 'बाणभट्ट' का आविर्भाव हुआ था, वह कौन था? हाय दीदी ने क्या हम लोगों से अज्ञात अपने उस कवि प्रेमी की आँखों से अपने को देखने का प्रयत्न किया था? यह कैसा रहस्य है? दीदी के सिवा और कौन है जो इस रहस्य को समझा दे? मेरा मन उस बाणभट्ट का संधान पाने को व्याकुल है।

१२ 'पत्र पढ़ने के बाद मेरे चित्त की यही प्रतिक्रिया हुई है। यदि मेरा अनुमान ठीक है तो साहित्य में यह अभिनव प्रयास है। मध्ययुग के किसी-किसी कवि ने राधिका की इस उत्कट अभिलाषा का वर्णन किया है कि वे समझ सकतीं कि कृष्ण उनसे क्या रस पाते हैं। श्रीकृष्ण ने भी, कहते हैं, राधिका की दृष्टि से अपने को देखना चाहा था और इसीलिए नवद्वीप में चैतन्य महाप्रभु के रूप में प्रकट हुए थे।" →

१३ 'काव्य की और धर्म-साधना की दुनिया में जो कल्पना थी उसे दीदी ने अपने जीवन

में सत्य करके दिखा दिया × × × परन्तु सहृदयों के मार्ग में इस व्याख्या को मैं बाधक नहीं बनाना चाहता। इसलिए मैं साहित्यिक समीक्षा के सम्बन्ध से विरत हो रहा हूँ। कथा जैसी है वैसी सहृदयों के सामने है।"—व्यो०।

इनमें से पहला और सातवाँ पॉइंट दीदी के अस्तित्व पर प्रकाश डालता है। 'मैं अब फिर तुम दोनों के बीच नहीं आ सकूँगी। मैं सचमुच सन्यास ले रही हूँ। मैंने अपने निर्मम बाप का स्थान चुन लिया है। यह मेरा अन्तिम पत्र है।' और 'यद्यपि वे अभी तक जीवित हैं पर उन्होंने एक विचित्र ढंग का वैराग्य ग्रहण किया है।' ये दोनों पॉइंट इस अनुमान की ओर पाठक को ले जाते हैं कि दीदी के साथ पत्र-व्यवहार नहीं हो सकता। उनका पता ज्ञात नहीं है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के सम्बन्ध में उनसे कोई जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकती। जानकारी प्राप्त करने के सम्बन्ध में कोई भी प्रयत्न व्यर्थ होगा।

आठवें और दसवें पॉइंट से यह प्रमाणित होता है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' 'ऑटोबायोग्राफ़ी' नहीं है। यह 'आत्मकथा' नहीं आत्मा की आवाज़ है, आत्मा की कथा है जो कहीं भी सुनाई दे सकती है। शोणनद के अनन्त बालुका-कणों में से न जाने, किस कण से बाणभट्ट की आत्मकथा की यह मर्मभेदी पुकार दीदी को सुनाई दी थी।

बारहवें और तेरहवें पॉइंट से इस रचना का कल्पना-प्रसूत प्रमाणित होता है। 'काव्य की और धर्म-साधना की दुनिया में जो कल्पना की उसे दीदी ने अपने जीवन में सत्य करके दिखा दिया' से व्यक्तिगत कल्पना से ऊपर समष्टिगत व्यापक काव्य-कल्पना की प्रस्थापना भी इस कृति का आधार सिद्ध हो गई। 'साहित्य में यह अभिनव प्रयोग है' से इस रचना की साहित्यिकता (काव्य-कल्पना-प्रसूति) ही सिद्ध होती है। इससे यह भी प्रकट होता है कि यह साहित्यिक कृति तो है ही किन्तु साहित्य में भी ऐसा प्रयोग है जो अभूतपूर्व है। स्पष्ट है कि आत्मकथा का प्रयोग साहित्य में एक परम्परा का स्थान ले चुका है। इसे अभिनव प्रयोग नहीं कहा जा सकता। अतएव 'बाणभट्ट की आत्मकथा' आत्मकथा न होकर साहित्य में एक नवीन प्रयोग है। इस भ्रम के निवारण के लिए कि यह कृति 'आत्मकथा' है, इस उक्ति से अधिक सबल प्रमाण नहीं मिल सकता।

नवाँ पॉइंट पाठक के सामने लेखक की मीमांसा करने लगता है। इस कथा में बाणभट्ट के 'रागात्मक हृदय' की अभिव्यक्ति हो, ऐसी बात नहीं है। लोक में ऐसा हृदय कोई वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं है ऐसे तो अनेक हृदय मिल सकते हैं। अतएव यह कृति बाणभट्ट के हृदय की अभिव्यक्ति नहीं अपितु सामान्य 'रागात्मक हृदय' की अभिव्यक्ति है जो आत्मकथा (ऑटोबायोग्राफ़ी) नहीं हो सकती। जो बाणभट्ट आत्मकथाकार के रूप में इस कृति में हमारे सामने आता है वह भारत में ही नहीं, आस्ट्रिया में[1] भी

---

1 देखिये २१वाँ पॉइंट।

हो सकता है। इस प्लॉट से कथा का व्यक्ति-सम्बन्ध हमारे सामने न आकर सामान्य सम्बन्ध ही आता है। फिर कादम्बरी के रचयिता बाणभट्ट के जीवन पर इससे कुछ नया प्रकाश पड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता।

आत्मकथा के कल्पना-प्रसव पर कुछ नया प्रकाश डालने के लिए व्याख्यायें प्लॉट को कुछ अधिक ध्यान से काम में लिया जा सकता है। दीदी और देवपुत्र-नंदिनी (भट्टिनी) का अभेद करके लेखक ने न केवल भट्टिनी को कल्पना-प्रसूत सिद्ध कर दिया, वरन् कृति की ऐतिहासिकता और कल्पनात्मकता को भी बड़े कौशल से सिद्ध कर दिया।

दीदी बड़ी रहस्यमयी महिला हैं। इस देवी का जन्म कहाँ हुआ था—इस बात को तो पण्डितजी ही जानते होंगे किन्तु वह पण्डितजी के मस्तिष्क की बड़ी सुन्दर उपज है बड़ी ऐन्द्रजालिक सृष्टि है शायद इस बात को कुछ रहस्यज्ञ अवश्य जानते हैं। बाणभट्ट की आत्मकथा के रूप में दीदी ने पण्डितजी को जो कुछ दिया है वह हिन्दी साहित्य की एक अनुपम उपलब्धि है। अतएव 'दीदी' स्वयं हिन्दी साहित्य का एक अपूर्व उपादान है। यदि दीदी को पण्डितजी ने न पाया होता तो बाणभट्ट की आत्मकथा भी पाठकों को आकाश कुसुम बनी होती।

पं० हजारीप्रसादजी ने आत्मकथा में दीदी को दो बार प्रकट किया है—एक बार प्रत्यक्ष रूप में और दूसरी बार परोक्ष रूप में। कथामुख में दीदी लेखक से बातें करती है यह प्रत्यक्ष है। उपसंहार में दीदी अपने पत्र में प्रकट होती है। आमुख में पण्डितजी को दीदी से मधुर डाँट के साथ कागजों का एक पुलिन्दा मिलता है। उसके सम्बन्ध में वे लिखते हैं—"दीदी के कागजों को मैंने पढ़ना शुरू किया। शीर्षक के स्थान पर मोटे अक्षरों में लिखा था—अथ बाणभट्ट की आत्मकथा लिख्यते।" फिर वे विस्मय प्रकट करते हुए लिखते हैं— 'बाणभट्ट की आत्मकथा! तब तो दीदी को अमूल्य-वस्तु हाथ लगी है। आमुख को समाप्त करते हुए द्विवेदीजी लिखते हैं— 'सो मैं बाणभट्ट की आत्मकथा दे रहा हूँ। दीदी ने उसे प्रकाशित करने की आज्ञा दे दी है। सत्य कहने की बात यह है कि बाणभट्ट की अन्यान्य पुस्तकों की भाँति यह आत्मकथा भी अधूरी ही है। उक्त वाक्यों के साथ दीदी के इन वाक्यों को भी रख कर देखने से कुछ विशेष बातें सामने आती हैं— 'शोण-भाषा में उपलब्ध सामग्री का हिन्दी-रूपान्तर मैंने कर लिया है। तू इसे एक बार पढ़ तो भला! देख मेरी हिन्दी में जो गलती है उसे सुधार दे और आरंभ से इसका [illegible] में छपा दे।'

उक्त वाक्यों से स्पष्टतः ये निष्कर्ष निकलते हैं—

(१) 'बाणभट्ट की आत्मकथा' नाम की एक पुस्तक दीदी की शोण-भाषा में लिखी थी।

(२) उक्त पुस्तक अपने मौलिक रूप में संस्कृत में लिखी हुई थी।

(३) इसका हिन्दी-रूपान्तर दीदी ने किया।

(४) संशोधन-कार्य पंडितजी को सौंपा गया।

(५) बाणभट्ट की अन्य रचनाओं की भाँति यह कृति भी अपूर्ण है।

ये बातें पाठक की बुद्धि पर 'वशीकरण' का प्रभाव डालती हैं।

उपसंहार में दिये हुए दीदी के पत्र से भी कुछ बातें सामने आती हैं। पत्र में दीदी लिखती है— 'आत्मकथा" के बारे में तूने एक बड़ी गलती की है। तूने उसे अपने कथामुख में इस प्रकार प्रदर्शित किया है मानों वह 'आटोबायोग्राफी' हो। रे भला! तूने संस्कृत पढ़ी है ऐसी ही मेरी धारणा थी पर यह क्या अनर्थ कर दिया तूने। बाणभट्ट की आत्मकथा शोणनद के प्रत्येक बालुका-कण में वर्तमान है। छि: कैसा निर्बोध है तू, इस आत्मा की आवाज तुझे नहीं सुनाई देती ?+++ भोले 'बाणभट्ट' केवल भारत में ही नहीं होते। इस नरलोक से किन्नरलोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।" उपसंहार में पंडितजी के अपने कुछ वाक्य भी महत्त्व के हैं—

'शोणनद के अनन्त बालुका-कणों में से न जाने किस कण से बाणभट्ट की आत्मा की यह मर्मभेदी पुकार दीदी को सुना दी थी ? + + + प्रतिवर्ष की यवन कुमारी देवपुत्र-नन्दिनी आस्ट्रिया देशवासिनी दीदी ही हैं। आस्ट्रिया में जिस नवीन 'बाणभट्ट' का आविर्भाव हुआ था वह कौन था ? हाय दीदी ने क्या हमलोगों के प्रभाव अपने उसी कवि प्रेमी की आँखों से अपने को देखने का प्रयत्न किया था। यह कैसा रहस्य है दीदी के सिवा और कौन है जो इस रहस्य को समझा दे मेरा मन उस 'बाणभट्ट' का संधान पाने को व्याकुल है। + + + पत्र पढ़ने के बाद मेरे मन में बड़ी प्रतिक्रिया हुई है। यदि मेरा अनुमान ठीक है तो साहित्य में यह अभिनव प्रयोग है।"

इन उक्तियों के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं वे ये हैं—

(१) बाणभट्ट की आत्मकथा 'ऑटोबायोग्राफी' नहीं है।

(२) यह आत्मा की आवाज है। यह उस रागात्मक हृदय का चित्र है जो नरलोक से किन्नरलोक तक व्याप्त है। यह किसी विशेष व्यक्ति की कहानी नहीं है।

(३) यवन-कुमारी देवपुत्र-नंदिनी ही दीदी हैं। जो हृदय यवन-कुमारी को प्राप्त है वही दीदी को प्राप्त है। दीदी ने बाणभट्ट की आवाज नहीं सुनी वरन् बाणभट्ट की आत्मा की पुकार सुनी है।

(४) आत्मकथा एक प्रेमी हृदय की कहानी है।

(५) दीदी कवि की कल्पना है।

(६) सामग्री के अभाव और कथा की पूर्णता ने इस कृति को अधूरी-जैसी प्रकट करवाया है, अन्यथा यह रचना अपने आपमें पूर्ण है। अधूरी और 'पूरी' का अन्तर भी एक रहस्य है।

इस प्रकार मामुख के आधार पर निकाले गये पहले तीन (और अन्तिम भी) निष्कर्ष रह जाते हैं और यही सिद्ध होता है कि (१) यह कृति आत्मकथा नहीं है, (२) यह बाणभट्ट के हाथ की प्राचीन संस्कृत-रचना भी नहीं है, तथा (३) यह किसी दीदी के द्वारा किया हुआ अनुवाद भी नहीं है। पाँचवीं बात भी असिद्ध हो जाती है। यह कृति अपूर्ण रचना नहीं है। कौशल से अपूर्ण-जैसी दिखलाई गई है। यह दिखावटी अपूर्णता झूठ को सच-जैसा दिखाने में बड़ी सहायक हुई है। हाँ चौथी बात में थोड़ा-सा सत्यांश है और वह यह कि बाणभट्ट की प्राप्त जीवन-सामग्री में कल्पना का पुट देकर इसे विशेष कृति का रूप दिया है।

पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी की दीदी चाहे कल्पना का पुत्र न रहा हो, किन्तु बाणभट्ट की आत्मकथा के संबंध में उसका यह प्रसंग कल्पना का उद्गम-विलास-मात्र है। दीदी को कथामुख का चरित्र बनाया गया है। उपसंहार में भी दीदी की प्रमुखता कल्पित नहीं हुई है। कथा के आदि और अन्त में दीदी के प्रसंग ने कथा-सृष्टि में दीदी के महत्त्व को प्रमाणित कर दिया है। दीदी के बिना यह कथा विश्वसनीयता नहीं प्राप्त कर सकती थी। इस कथा की भूमिका भी दीदी और उपसंहार भी दीदी ही है। यदि दीदी ऐतिहासिक भावुकता की सृष्टि है तो बाणभट्ट की आत्मकथा भावुक ऐतिहासिकता का प्रतिफलन है। यदि दीदी का प्रसंग न होता तो कथा को इतना ऐतिहासिक आधार न मिल पाता।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' का प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने 'दीदी' के साथ जो सम्बन्ध स्थापित किया है वह ऐतिहासिक भ्रम की रक्षा के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण है। लेखक ने 'दीदी' से एक ओर अपना सम्बन्ध व्यक्त किया है और दूसरी ओर आत्मकथा का। आत्मकथा के मूलभाग से प्रत्यक्षतः दीदी का कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु जिस भाग से दीदी का सम्बन्ध है वह आत्मकथा का बड़ा महत्त्वपूर्ण अंग है। इसके बिना यह सारा आयोजन किसी एक तरह से विनष्ट हो जाता है। अतएव बाणभट्ट के महान् व्यक्तित्व आत्मकथा के विशाल प्रासाद और वातावरण के इसमें बड़े भण्डार की रक्षा के लिए 'दीदी' का अस्तित्व अनिवार्य है। दीदी के साथ कथामुख और उपसंहार भी अनिवार्य है। इसलिए जब तक इस उपन्यास का सम्बन्ध कथामुख और उपसंहार से रहेगा तब तक 'दीदी' इसमें एक पात्र के रूप में प्रस्तुत रहेगा।

'दीदी' के पात्रत्व पर आलोचकों को मतभेद हो सकता है किन्तु सन्देह के लिए कोई अवकाश नहीं है। यदि लेखक के मन में 'दीदी' को पात्र बनाने की बात न रही होती तो उसके चरित्र का इतना सूक्ष्मता से अंकन न किया गया होता।

'दीदी' को भाषा का बड़ा शौक था। पालि-भाषा में उनकी बड़ी रुचि थी। भाषाओं में उनकी प्रवेश-शक्ति आश्चर्यजनक थी।[१] वे कभी कोई शिलालेख की कॉपी कभी [illegible] मठ की कोई पुरानी पोथी और कभी पुराने सिक्के खोज कर ले

जाती थी। ये बातें उनकी ऐतिहासिक रुचि को प्रमाणित करती हैं। उनकी ऐतिहासिक जिज्ञासा में भावुकता का अभाव नहीं था। पोथी, जिसके मालिक का परिचय देते समय उनका चेहरा श्रद्धा से गद्‌गद हो जाता था और उनकी आँखों में पानी उमड़ आता था।

'दीदी' बड़ी मिष्ट एवं गम्भीर स्वभाव की महिला थीं। जब कभी वे ध्यान-मग्न होतीं तो उनका अलौकिक चित्त मुखमण्डल बहुत ही आकर्षक होता और ऐसा भास पड़ता मानों साक्षात् सरस्वती का आविर्भाव हुआ हो। उधम करते हुए छोकरे पास से निकल जाते, धूल उड़ाती हुई बैलगाड़ियाँ पास से चली जातीं, कुत्ते उछल-कूद से थक कर लड़ाई-झगड़े पर आमादा हो जाते; पर दीदी कपू प्रतिमा की भाँति निर्वाक निश्चल निस्पन्द ही रहतीं। जब उनकी समाधि टूटती तब उनकी बातें सुनने लायक होतीं। उनके स्वभाव की कुछ विशेषताओं में से एक भारी सुखद ममता भी थी। बिल्ली के बच्चे पर उनकी बड़ी ममता थी जिसको वे पाँच बच्चों के साथ आस्ट्रिया ले गईं और पूर्ण परिवार के साथ भी पालती रहीं। उनके स्वभाव में करुणा आभासित थी। करुणादि गुणों को लेकर 'दीदी' सम्य-क्रीड़ा आपण दे सकती थीं।

बूढ़ा होने पर भी उस बुढ़िया में विस्मयकारी उत्साह और अध्यवसाय-क्षमता थी। 'दीदी' को संस्कृत व हिन्दी का अच्छा ज्ञान था। लिखने का भी अच्छा अभ्यास था। लिखने बैठतीं तो रातों रात लिखती रहतीं। संस्कृत से हिन्दी में आत्मकथा का अनुवाद उन्होंने एक ही रात में कर डाला था।

'दीदी' के कुछ प्रिय शब्द और वाक्य थे। 'जेमसा' और 'तू बड़ा आलसी है'—ये दीदी के पेट वाक्य थे। कुछ देते समय तथा किसी मधुरमर्त्सनात्मक व्यंग्य के समय उनके मुख से सहसा 'जे मसा' का प्रयोग हो जाता था। 'तू बड़ा आलसी है' यह वाक्य 'दीदी' के उत्साह का व्यंजक था। इसका प्रयोग भी वे मधुर भर्त्सना के अवसर पर ही करती थीं।

उपसंहार में दीदी के पत्र का उल्लेख किया गया है। लेखक को दीदी 'व्योम' नाम से अभिहित करती हैं। लेखक को इस प्रकार से कभी अभिहित किया गया हो मैं नहीं कह सकता, किन्तु मुझे तो यह पत्र भी जाली ही लगता है। यदि इस प्रकार का कोई पत्र लेखक को किसी पाश्चात्य वृद्धा से मिला भी हो तो भी मैं 'आत्मकथा' से सम्बन्धित प्रसंग को लेखक की ही कपोल-कल्पित समझता हूँ।

पाठक को पत्र से एक बड़ा लाभ यह होता है कि 'आत्मकथा' के मर्म से सम्बन्धित उसकी भ्रान्ति का पर्दा उठने लगता है। कथामुख में जिस ढंग से अपना शिकंजा जमा लिया था वह इस पत्र से प्रकाश में आ जाता है। इस पत्र से दीदी के चरित्र की कुछ और बातें प्रकाश में लाई जाती हैं—एक तो यह कि दीदी को युद्ध से बड़ी घृणा है। वे युद्ध को क्रूरता का प्रतीक मानती हैं। वे यह मानती हैं कि युद्ध के अनेक भावुक तैयार

करके भी मनुष्य पराजय की दिशा में ही बढ़ता जा रहा है। युद्ध के भयानक दृश्य को सामने लाती हुई दीदी कहती है—"यह अच्छा ही हुआ कि तुमने वह कुत्सित नर-संहार नहीं देखा। वह मनुष्य का नहीं मनुष्यता के नाश का दृश्य था।

दीदी के मत से यह कृति बाणभट्ट की आत्मकथा न होकर उसकी आत्मा की कथा है। इसलिए वे कहती हैं—

'आत्मकथा' के बारे में तूने एक बड़ी गलती की है। तूने इसे अपने कथामुख में इस प्रकार प्रदर्शित किया है मानो यह 'ऑटो-बायोग्राफी' हो। 'अ अस्ता' तूने संस्कृत पढ़ी है ऐसी ही मेरी धारणा थी पर यह क्या अनर्थ कर दिया तूने? बाणभट्ट की आत्मा शोणनद के प्रत्येक बालुका-कण में वर्तमान है। फिर कैसा निर्बोध है तू, उस आत्मा की आवाज तुझे नहीं सुनाई देती? देख रे तू पुरुष है तू युवक है, तुझे इतना प्रमाद नहीं शोभता।"

दीदी के इन वाक्यों से उनके चरित्र पर कुछ और प्रकाश पड़ता है और वह यह कि उनको आलस्य और प्रमाद अच्छा नहीं लगता। युवक पुरुष के लिए तो प्रमाद बहुत ही शोचनीय है।

दीदी आत्मा की एकता और व्यापकता में विश्वस्त हैं। उनकी यह मान्यता है—"बाणभट्ट' केवल भारत में ही नहीं होते। इस नरलोक से किन्नरलोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है।"

दीदी के विचार से तीन दोष बड़े भयंकर हैं और मनुष्य को उनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिये—वे हैं प्रमाद, आलस्य और क्षिप्रकारिता।

अवतरणवृत्ति से लेकर दीदी के पत्रव्यवहार तक कथामुख और उपसंहार में उनके संबंध में जो कुछ कहा गया है वह उनकी महत्ता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त से अधिक है। आत्मकथा में कितने ही ऐसे पात्र हैं जिनके संबंध में दीदी से कुछ कम या अधिक कह दिया गया है किन्तु उनका महत्त्व मूलकथा में जितना आँका जा सकता है, अपने प्रसंग में दीदी का महत्त्व उससे कहीं अधिक है। दीदी 'आत्मकथा' की ऐतिहासिकता की सूत्रधारिणी साहित्यिक प्राण का प्राणतत्त्व और कुतूहल की आधार-शिला है। यदि कथामुख और उपसंहार आत्मकथा से किसी भी प्रकार संबद्ध माने जा सकते हैं तो 'आत्मकथा' के रचनात्मक गठन में दीदी का प्रसंग अविस्मरणीय है।

आती थी। ये बातें उनकी ऐतिहासिक रुचि को प्रमाणित करती हैं। उनकी ऐतिहासिक जिज्ञासा में भावुकता का अभाव नहीं था। पोथी लिखने आदि का परिचय देते समय उनका चेहरा श्रद्धा से गद्गद हो जाता था और उनकी आँखों में पानी उमड़ आता था।

'दीदी' बड़ी विनम्र एवं गम्भीर स्वभाव की महिला थीं। जब कभी वे ध्यान-मग्न होतीं तो उनका वयोवृद्ध चित्त मुखमण्डल बहुत ही आकर्षक होता और ऐसा भान पड़ता मानों साक्षात् सरस्वती का आविर्भाव हुआ हो। ऊधम करते हुए छोकरे पास से निकल जाते, धूल उड़ाती हुई बैलगाड़ियाँ पास से चली जातीं, कुत्ते उछल-कूद से शुरू कर लड़ाई-झगड़े पर आमादा हो जाते पर दीदी प्रस्तर प्रतिमा की भाँति निर्वाक्, निश्चल निस्पन्द ही रहतीं। जब उनकी समाधि टूटती तब उनकी बातें सुनने लायक होतीं। उनके स्वभाव की कुछ विशेषताओं में से एक नारी सुलभ ममता भी थी। किसी के बच्चे पर उनकी बड़ी ममता थी जिसको वे पाँच बच्चों के साथ आस्ट्रिया ले गईं और पूर्ण परिवार के साथ भी पालती रहीं। उनके स्वभाव में करुणा आच्छादित थी। करुणादि गुणों को लेकर 'दीदी' सम्या-पीड़ा आपल्ल दे सकती थी।

वृद्धा होने पर भी उस बुढ़िया में विस्मयकारी उत्साह और अध्यवसाय-क्षमता थी। 'दीदी' को संस्कृत व हिन्दी का अच्छा ज्ञान था। लिखने का भी अच्छा अभ्यास था। लिखने बैठतीं तो रातों रात लिखती रहतीं। संस्कृत से हिन्दी में आत्मकथा का अनुवाद उन्होंने एक ही रात में कर डाला था।

'दीदी' के कुछ प्रिय शब्द और वाक्य थे। 'लेमना' और 'तू बड़ा आलसी है'—ये दीदी के पेट वाक्य थे। कुछ देते समय तथा किसी मधुरभर्त्सनात्मक प्रसंग के समय उनके मुख से सहसा 'ले मना' का प्रयोग हो जाता था। 'तू बड़ा आलसी है' यह वाक्य 'दीदी' के उत्साह का द्योतक था। इसका प्रयोग भी वे मधुर भर्त्सना के अवसर पर ही करती थीं।

उपसंहार में दीदी के पत्र का उल्लेख किया गया है। लेखक को दीदी 'व्योम' नाम से अभिहित करती हैं। लेखक को इस प्रकार से कभी अभिहित किया गया हो मैं नहीं कह सकता, किन्तु मुझे तो यह पत्र भी जाली ही लगता है। यदि इस प्रकार का कोई पत्र लेखक को किसी पाश्चात्य वृद्धा से मिला भी हो तो भी मैं 'आत्मकथा' से सम्बन्धित प्रसंग का लेखक की ही 'नमक-मिर्च' समझता हूँ।

पाठक को पत्र से एक बड़ा लाभ यह होता है कि 'आत्मकथा' के गर्भ से सम्बन्धित उसकी भ्रान्ति का पर्दा उठने लगता है। कथामुख में जिस तथ्य को अपना लिखकर जमा दिया था वह इस पत्र से प्रकाश में आ जाता है। इस पत्र से दीदी के चरित्र की कुछ और बातें प्रकाश में लाई जाती हैं—एक तो यह कि दीदी को युद्ध से बड़ी घृणा है। वे युद्ध को क्रूरता का प्रतीक मानती हैं। वे यह मानती हैं कि युद्ध के अनेक भावुक विचार

करके भी मनुष्य पराजय को विवश न ही चला जा रहा है। युद्ध के भयानक दृश्य को सामने आती हुई दीदी कहती है—"यह अच्छा ही हुआ कि तुमने यह पुष्पित नर-संहार नहीं देखा। यह मनुष्य का नहीं मनुष्यता के वध का दृश्य था।"

दीदी के मत से यह कृति बाणभट्ट की आत्मकथा न होकर उसकी आत्मा की कथा है। इसलिए वे कहती हैं—

'आत्मकथा' के बारे में तूने एक बड़ी गलती की है। तूने उसे अपने व्याख्यान में इस प्रकार प्रदर्शित किया है मानो वह 'ऑटो-बायोग्राफी' हो। 'मैं समझ', तूने समझा थी है ऐसी ही मेरी धारणा थी, पर यह क्या अनर्थ कर दिया तूने? बाणभट्ट की आत्मा [illegible] के प्रत्येक बालुका-कण में वर्तमान है। फिर कैसा निर्बोध है तू, उस आत्मा की आवाज तुझे नहीं सुनाई देती? देख रे, तू पुरुष है, तू युवक है, तुझे [illegible] नहीं सोचना।'

दीदी के इन वाक्यों से उनके चरित्र पर कुछ और प्रकाश पड़ता है और वह यह कि उनको आलस्य और प्रमाद अच्छा नहीं लगता। युवक पुरुष के लिए तो उत्साह का ही शोभनीय है।

दीदी आत्मा की एकता और व्यापकता में विश्वस्त हैं। उन्हीं का यह कहना है—'बाणभट्ट' केवल भारत में ही नहीं होते। इस मर्त्यलोक के चिरन्तन [illegible] आत्मक हृदय व्याप्त है।'

दीदी के विचार से दीन देश बड़े भयंकर हैं और मनुष्य को [illegible] प्रयास करना चाहिये—[illegible] निबन्धित।

१७ भाषा-शैली

इस कृति के यशस्वी रचयिता डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी उत्कृष्ट शैलीकार हैं। उनकी भाषा बड़ी ओजस एवं समर्थ है। कबीर, हिन्दी साहित्य की भूमिका, अशोक के फूल, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, बाणभट्ट की आत्मकथा, चारुचन्द्रलेख आदि अनेक रचनाएँ डॉ. द्विवेदी की गद्यशैली के अनेक प्रकारों को सामने लाती हैं। इन कृतियों में लेखक के दो रूप सामने आते हैं:—कवि-रूप तथा आलोचक-रूप। गद्य में भी कवि रहता है यह चौंकाने वाली बात नहीं है। प्राचीनों ने भी गद्य को काव्य-कोटि से बहिष्कृत नहीं किया था। इसीलिए 'काव्यञ्च द्विविधं गद्यञ्च पद्यञ्च' जैसी प्राचीन काव्योक्ति का प्रयोग आज तक सम्मानित है।

द्विवेदीजी की संस्कृत-पद्य-रचना से मैं परिचित हूँ किन्तु मुझे ज्ञात नहीं है कि उन्होंने हिन्दी में कोई पद्य-रचना की है। फिर भी उनके कवित्व का परिचय गद्य रचनाओं से मिल जाता है। सामान्य गद्य में तो द्विवेदीजी का कवि मुखर रहता ही है परन्तु आलोचनात्मक गद्य में भी उनका 'कवि' दबता नहीं है। उनके व्यक्तित्व की मस्ती तथा वाणी की व्यंग्यात्मकता उनकी गद्य रचनाओं में स्थान-स्थान पर झलकती दिखाई पड़ती है। उनकी वाणी में भावुकता भी है और तीखापन भी, किन्तु तीखापन शुष्क एवं नीरस नहीं है। व्यंग्यमय माधुर्य उसका प्रमुख गुण है।

बाणभट्ट की आत्मकथा की सफलता एवं सार्थकता जिन बातों पर निर्भर है, उनमें से एक बाणभट्ट की शैली का अनुकरण भी है। कादम्बरी और हर्षचरित के पाठक भलीभाँति जानते हैं कि बाणभट्ट ने तीन प्रकार की शैली का प्रयोग किया है। ये तीनों प्रकार हर्षचरित की ही विशेषता हों, ऐसी बात नहीं है; कादम्बरी की भी विशेषता है। कादम्बरी की भाषा अधिक ओजस रसप्रवाहिनी तथा काव्यात्मक है। इन ग्रन्थों में बाण की शैली का एक प्रकार तो वह है जिसमें आडम्बरपूर्ण समासबहुल बड़े-बड़े वाक्यों का बाहुल्य है, दूसरी शैली छोटे-छोटे समासों वाली है और तीसरी समासों से रहित है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में ये तीनों शैलियाँ मिलती हैं। प्रथम शैली का अनुमान निम्नलिखित उदाहरण से कर सकते हैं—

'जिनके दोर्दण्ड के प्रताप से रोमकपत्तन के उत्तर के देश काँपते हैं, जिनकी खरतर असि-धारा-स्रोतस्विनी में शक-पार्थिव-जैसे पार्थिव फेन-बुद्बुद की भाँति बह गये, जिनकी प्रतापाग्नि ने उद्दण्ड बाह्लीकों को इस प्रकार तोड़ डाला जैसे क्रीड़ा-परायण शिशु कमल-दण्ड को तोड़ देते हैं और जिनकी स्फूर्जित दीप्त कीर्तिचन्द्रिका में प्रशस्त सामन्त स्तबक पर्यावर्तमान हो रहे हैं।

"महाश्वेता ही थी—प्रफुल्ल ज्योत्स्नाच्छादित नील आवरण में से उनका मनोहर मुख सौगुना रमणीय दिखाई दे रहा था, मानों ज्योत्स्ना-रूप धवल-मन्दाकिनी-धारा में बहते हुए शैवाल-जाल में उलझा हुआ प्रफुल्ल कमल हो क्षीरसागर में सेवरण करती हुई नील वसना पद्मा हो कैलाश-पर्वत पर खिली हुई अपुष्पा-यमुना-पंक्ति हो नील-मेघ-मंडल में मुस्करानेवाली स्थिर सौदामिनी हो।'

"आकाश के मयूखो। सखी रहना बाणभट्ट पथ भ्रान्त अकर्मा नहीं है किन्तु रज्जु भ्रमवाद की भाँति अनर्थकारी नहीं है, वैद्यरोत्पादित दुर्वासन की भाँति रास्ते पर विक्षिप्त इतभाग्य नहीं है, वन में खिलकर मुरझानेवाले वाले जंगली फूल की भाँति निष्फलजन्मा नहीं है सुपक्कुम्भ भूमिकल्प के समान आश्रयहीन नहीं है मरुकान्तार में सूख जाने वाली नदी के समान आश्रयहीन नहीं है।'

उक्त तीनों उदाहरणों में सम्पूर्ण वाक्य अनेक उपवाक्यों से आपूरित हैं जिनमें समासों को छटा देखने योग्य है। ऐसे वाक्यों और समासों का प्रयोग आख्यायिकाकार ने अनेक वर्णनों में किया है। आख्यायिका के वर्णनों की प्रमुख विशेषता ही यह है कि समासों से अलंकृत दीर्घ वाक्य-विन्यास कहीं कहीं चरित्र-वर्णनों में भी इसी शैली का अनुपम मिलता है। तीसरा उदाहरण इसका प्रमाण है।

दूसरे प्रकार की शैली का प्रयोग आख्यायिकाकार कहीं भी कर लेता है। उसमें समास हैं, किन्तु इतने आडम्बर नहीं है। वाक्य भी छोटे छोटे हैं अनेक उपवाक्यों से दुर्गम नहीं होते। लेखक अपनी बात को एक ही वाक्य में पूर्ण कर लेता है। इस शैली में मस्ती है। उदाहरण देखिये—

"मानव चतुर वीभत्स परिहास का रूप बना हुआ था। चन्दन के अनुलेपन से चर्चित उसके वक्ष-स्थल पर मालती-दाम सुशोभित हो रहा था, घुंघरुओं में नकुला का मनोहर वलय बड़ी सुकुमार मणी से सजा हुआ था और सँवारे हुए पुष्पित केशों के पिछले भाग में दुर्लभ पारात कुसुमों का गुच्छ बड़ा ही अभिराम दिखाई दे रहा था। पान खाने में उसने बड़ी निर्दयता का परिचय दिया था। न मुँह पर ही उसने दया दिखाई थी और न ताम्बूल-पत्रों पर ही। परन्तु पान के इतने पत्ते मिल कर भी उसका कालिमा दूर नहीं कर सके थे। वह मुँह को ऊपर उठाकर अधरोष्ठ को आकाश के समानान्तर करके बोल रहा था फिरभी निर्बाध अनर्गल कपिल धारा इस प्रकार बह रही थी मानों कोई ऊर्ध्वमुख पापपुञ्ज (फव्वारा) हो।"

इस शैली में समासों का अभाव नहीं है किन्तु पहले प्रकार की सी शैली का आडम्बर भी नहीं है। वाक्यों की दीर्घता स्वाभाविक है। वाक्यों में मिलकर मस्ती झूम रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक के सामने उसका कोई बनारसी मित्र खड़ा हो और वे उसी का 'फोटो' खींच रहे हों।

तीसरी शैली में समासों का एकान्ताभाव तो होता नहीं है, किन्तु पहली और

दूसरी शैली की भाँति समस्त और लंबे लंबे वाक्य नहीं होते। ऐसे वाक्यों में शब्द बड़े चुस्त होते हैं और प्रत्येक शब्द, विशेषतः विशेषण अपने स्थान पर जुड़ता प्रतीत होता है। विशेषणों के पीछे मनोविज्ञान की शक्ति काम करती है और कभी कभी अभिप्रेत शक्ति का वह प्रकार के बड़े दीप्त दीख पड़ते हैं। नीचे के उद्धरण इसी शैली को व्यक्त करते हैं—

(१) 'उनमें अपने आपको दूसरों के लिए गला देने की भावना नहीं है इसी लिए वे कपास पर चढ़ जाते हैं एक स्थित पर टिक जाते हैं। वे फेन बुद्बुद की भाँति अनित्य हैं। वे सैकत सेतु की भाँति अस्थिर हैं। वे जल-रेखा की भाँति नश्वर हैं। उनमें अपने आपको दूसरों के लिए मिटा देने की भावना जब तक नहीं आती, तब तक वे ऐसे ही रहेंगे। उन्हें जब तक पूजाहीन दिवस और सेवाहीन रात्रियाँ अनुतप्त नहीं करतीं और जब तक निष्फल अर्घ्यदान उन्हें कुरेद नहीं देता तब तक उनमें निषेध-रूपा नारी तत्त्व का अभाव रहेगा और तब तक वे केवल दूसरों को दुःख दे सकते हैं।"

(२) 'मैं इस प्रकार जड़ हो गया था कि कहीं किसी प्रकार के सौजन्य का लेशमात्र भी अनुभव नहीं कर पा रहा था। इतना बड़ा व्यापार मेरी आँखों के सामने देखते-देखते होगया और मैं हतसंज्ञ निश्चेष्ट बैठ रहा। भट्टिनी को अश्रुपात की अवस्था में देखकर मुझे जैसे होश सा हुआ। मैं तड़फड़ा कर उठ पड़ा। 'क्या कह रही हो देवि ! निपुणिका ने उन्माद की अवस्था में जो कुछ कहा है, उसीको प्रमाण मान कर मुझे अपराधी बना रही हो!'

प्राचीन परिभाषा में पहली शैली को 'उत्कलिका' या 'तन्मक' कहा जा सकता है और दूसरी को, जो अल्पसमासयुक्त एवं बहुत बड़े-बड़े वाक्योंवाली नहीं है 'चूर्णक' अभिधा दी जा सकती है। तीसरी शैली की शब्दावली स्वच्छन्द फुदकते हुए पक्षियों की भाँति कलरव करती हुई जान पड़ती है। यह 'सहज' शैली है। एक में प्रदर्शन-प्रवृत्ति, दूसरी में मोहक प्रेषणीयता और तीसरी में सहजाभिव्यक्ति है।

यद्यपि बाणभट्ट की आत्मकथा में टकसाली शब्दों का (उर्दू-फ़ारसी के भी) प्रयोग मिलता है, किन्तु उनमें केवल अनुवादक ही सामने आता है, भाव नहीं। वस्तुतः तत्सम बाहुल्य और संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति ही 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की विशेषता है। लेखक ने शब्द का अंग-भंग कहीं नहीं होने दिया। शब्दों का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया गया है। यह ठीक है कि लेखक पर संस्कृत का प्रचुर प्रभाव है किन्तु यह भी ठीक है कि तत्सम शब्दावली के प्रयोग में सामान्यतया उन्हें आयास नहीं करना पड़ा। तीसरे प्रकार की शैली में आये हुए शब्द यही आभास देते हैं कि उनपर लेखक का पूर्ण अधिकार है और प्रत्येक शब्द उसके संकेत से यथास्थान बैठता चला जाता है मानों वह पूर्वप्रतिष्ठित हो।

यदि यह ठीक है कि शैली में शैलीकार का साक्षात्कार किया जासकता है तो

यह भी ठीक है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में आचार्य द्विवेदी के दर्शन स्थान-स्थान प
होते हैं। बाण के व्यक्तित्व में आचार्यजी का व्यक्तित्व, उसके आदर्श में उनका आदर्श
उसके शिष्टिमत आचरण में उनका आचरण उसके स्वभाव में उनका स्वभाव और उसं
व्यंग्यों में उनके व्यंग्य संनिहित हैं। संस्कृत भाषा पर जैसा अधिकार बाण का था वैसा
ही हिन्दी भाषा पर आचार्यजी का है। बाण की भाषा बड़ी मादक थी, किन्तु आचार्यजी
की भाषा और भी अधिक मादक है और उसका कारण है भाषा की मनोवैज्ञानिक भूमिका।—

आचार्यजी की भाषा खड़ी बोली है और खड़ी बोली में तत्सम-शब्दावली को
आत्मसात् करने की बड़ी क्षमता होती है किन्तु बाणभट्ट की आत्मकथा की भाषा ने
तत्सम-शब्दावली को जिस प्रकार स्वायत्त किया है उसीसे तो उसकी 'बाणीयता' प्रमा-
णित-सी होती है। बाणभट्ट की आत्मकथा की भाषा की एक विशेषता यह भी है कि
उसका स्वर कई स्थानों पर व्यक्तिपरक तथा ध्वनि मनोवैज्ञानिक है। बाण की भाषा
अधिकांशत अपनी वस्तुपरकता के लिए ही प्रशस्त है। सामान्यतया इतने प्रचुर एवं पुष्कल
वर्णनों में आत्मपरकता का निर्वाह असंभव नहीं तो अतिदुष्कर अवश्य होता है किन्तु
डा० हजारीप्रसादजी ने दुष्कर को सुकर कर दिखाया है। एक उदाहरण देखिये—

'अपने आवास पर लौटा तो देखा कि भट्टिनी उत्सुकता के साथ मेरी प्रतीक्षा
कर रही हैं। आते ही उन्होंने मृदु तिरस्कार के साथ कहा—'इतनी देर करना ठीक नहीं
है। उनकी आँखें नीचे झुकी हुई थीं अधरोष्ठ कुंचित थे और चिबुक आरक्त था
स्पष्ट ही भट्टिनी को मेरे देर से आने के कारण खीझ हुई थी पर सहज आभिजात्य गौरव
से उस कोप में मारीत्व आगया था। उनकी वाणी में शासन का ओज था अधिकार का
स्वर था स्नेह की मृदुता थी। मैंने ससम्भ्रम उत्तर दिया कि मैं दुर्ग में ही था। क्षणभर
के लिए मैं विस्मित भी हुआ। इसमें क्या रहस्य होगा।"

व्यंग्य-स्थलों पर अधिकांशत: भाषा हास्यप्रधान है और शब्दावली बड़ी चटुल एवं
ध्वनिमयी है। चण्डीमण्डप के पुजारी के वर्णन में ऐसे स्थलों पर भाषा की यह विशेषता
प्रकट हो सकती है—"उन्होंने बताया कि पुजारी कोई वृद्ध द्रविड़ साधु हैं। उनके काले
काले शरीर में शिराएँ इस प्रकार फूटी दिखाई देती हैं मानो उन्हें जला हुआ रस्सा
समझकर गिरगिट चढ़े हुए हों। सारा शरीर घाव के दागों से इस प्रकार भरा है, मानों
अपनी देवी के शुभ लक्षणों को उस देह से काट-काट कर अलग कर लिया है। वे काफी
शौकीन भी हैं। यद्यपि वृद्ध हैं तो भी कानों में गोरख-गुम्फ का लटकना नहीं भूलते।
वे भक्त भी हैं क्योंकि चण्डी-मन्दिर की चौखट पर सिर टुकराने-टुकराते उनके ललाट
में अर्बुद हो गया है। वे तांत्रिक भी हैं प्रायः ही बूढ़ा दार्य-चामिणियों पर वशीकरण
चूर्ण फेंका करते हैं। वे रसोन-कुंगल भी हैं क्योंकि एक बार दुष्टस्यापों की निधि दिखाने
वाला अञ्जन लगाकर एक आँख खो चुके हैं। वे चिकित्सक भी हैं अपने आप वाले

दूसरी शैली की भाँति समासता और बड़े लंबे वाक्य नहीं होते। ऐसे वाक्यों में शब्द बड़े चुटुल होते हैं और प्रत्येक शब्द, विशेषतः विशेषण अपने स्थान पर फुदकता प्रतीत होता है। विशेषणों के पीछे मनोविश्लेषण की शक्ति काम करती है और कभी कभी अभिधेतर शक्ति का बल पाकर वे बड़े तीव्र तीखे पड़ते हैं। नीचे के उद्धरण इसी शैली को व्यक्त करते हैं—

(१) 'उनमें अपने आपको दूसरों के लिए मिटा देने की भावना नहीं है, इसी लिए वे कटाक्ष पर बह जाते हैं, एक स्मित पर बिक जाते हैं। वे फेन बुद्बुद की भाँति अनित्य हैं। वे शैवाल सेतु की भाँति अस्थिर हैं। वे जल-रेखा की भाँति नश्वर हैं। उनमें अपने आपको दूसरों के लिए मिटा देने की भावना जब तक नहीं आती, तब तक वे ऐसे ही रहेंगे। उन्हें जब तक पुष्पहीन दिवस और शैयाहीन रात्रियाँ अनुतप्त नहीं करतीं और जब तक निष्फल अन्वेषण उन्हें कुरेद नहीं देता तब तक उनमें निषेध-रूपा नारी तत्त्व का अभाव रहेगा और तब तक वे केवल दूसरों को दुःख दे सकते हैं।"

(२) 'मैं इस प्रकार जड़ हो गया था कि कहीं किसी प्रकार के संवेदन का लेशमात्र भी अनुभव नहीं कर पा रहा था। इतना बड़ा व्यापार मेरी आँखों के सामने देखते-देखते होगया और मैं हतचेत निश्चेष्ट बैठ रहा। भट्टिनी को वात्याघात की अवस्था में देखकर मुझे जैसे होश सा हुआ। मैं तड़फड़ा कर उठ पड़ा। 'क्या कह रही हो देवि! निपुणिका ने उन्माद की अवस्था में जो कुछ कहा है उसीको प्रमाण मान कर मुझे अपराधी बना रही हो!

प्राचीन परिभाषा में पहली शैली को 'उत्कलिका' या 'दण्डक' कहा जा सकता है और दूसरी को, जो अल्पसमासयुक्त एवं बहुत बड़े-बड़े वाक्योंवाली नहीं है, 'चूर्णक' अभिधा दी जा सकती है। तीसरी शैली की शब्दावली स्वच्छन्द फुदकते हुए पक्षियों की भाँति कलरव करती हुई जान पड़ती है। यह 'सहज' शैली है। एक में प्रदर्शन-प्रवृत्ति दूसरी में मोहक प्रेषणीयता और तीसरी में सहजाभिव्यक्ति है।

यद्यपि बाणभट्ट की आत्मकथा में टकसाली शब्दों का (उर्दू-फारसी के भी) प्रयोग मिलता है, किन्तु उनमें केवल अनुवादक ही सामने आता है, बाण नहीं। वस्तुतः तत्सम बाहुल्य और संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति ही बाणभट्ट की आत्मकथा की विशेषता है। लेखक ने शब्द का अप-भ्रंश कहीं नहीं होने दिया। शब्दों का प्रयोग बड़ी सफाई से किया गया है। यह ठीक है कि लेखक पर संस्कृत का प्रचुर प्रभाव है किन्तु यह भी ठीक है कि तत्सम शब्दावली के प्रयोग में सामान्यतया उसे आयास नहीं करना पड़ा। तीसरे प्रकार की शैली में आये हुए शब्द यही आभास देते हैं कि उनपर लेखक का पूर्ण अधिकार है और प्रत्येक शब्द उसके संकेत पे यथास्थान बैठता चला जाता है मानों वह पूर्वप्रतिष्ठित हो।

यदि यह ठीक है कि शैली में शैलीकार का साक्षात्कार किया जा सकता है तो

यह भी ठीक है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में आचार्य द्विवेदी के दर्शन स्थान-स्थान पर होते हैं। बाण के व्यक्तित्व में आचार्यजी का व्यक्तित्व, उसके आदर्श में उनका आदर्श, उसके निर्विकल्प आचरण में उनका आचरण, उसके स्वभाव में उनका स्वभाव और उसके व्यंग्यों में उनके व्यंग्य संनिहित हैं। संस्कृत भाषा पर जैसा अधिकार बाण का था वैसा ही हिन्दी भाषा पर आचार्यजी का है। बाण की भाषा बड़ी मादक थी, किन्तु आचार्यजी की भाषा और भी अधिक मादक है और उसका कारण है भाषा की मनोवैज्ञानिक भूमिका।

आचार्यजी की भाषा खड़ी बोली है और खड़ी बोली में तत्सम-शब्दावली को आत्मसात् करने की बड़ी क्षमता होती है, किन्तु बाणभट्ट की आत्मकथा की भाषा ने तत्सम-शब्दावली को जिस प्रकार स्वायत्त किया है उसीसे तो उसकी 'बाणोपमता' प्रमाणित-सी होती है। बाणभट्ट की आत्मकथा की भाषा की एक विशेषता यह भी है कि उसका स्वर कई स्थलों पर व्यक्तिपरक तथा ध्वनि मनोवैज्ञानिक है। बाण की भाषा अधिकांशतः अपनी वस्तुपरकता के लिए ही प्रख्यात है। सामान्यतया इतने प्रचुर एवं पृथुल वर्णनों में आत्मपरकता का निर्वाह असंभव नहीं तो अतिदुष्कर अवश्य होता है, किन्तु डा० हजारीप्रसादजी ने दुष्कर को सुकर कर दिखाया है। एक उदाहरण देखिये—

"अपने आवास पर लौटा, तो देखा कि भट्टिनी उत्सुकता के साथ मेरी प्रतीक्षा कर रही हैं। आते ही उन्होंने मृदु तिरस्कार के साथ कहा—'इतनी देर करना ठीक नहीं है।' उनकी आँखें नीचे झुकी हुई थीं, अधरोष्ठ कुंचित थे और चिबुक आरक्त था। स्पष्ट ही भट्टिनी को मेरे देर से आने के कारण खीझ हुई थी पर सहज आभिजात्य गौरव से उस क्रोध में भारीपन आ गया था। उनकी वाणी में शासन का ओज था, अधिकार का स्वर था, स्नेह की मृदुता थी। मैंने ससंभ्रम उत्तर दिया कि मैं दुर्ग में ही था। क्षणभर के लिए मैं चिन्तित भी हुआ। इतना क्या सह होगा।"

व्यंग्य-स्थलों पर अधिकांशतः भाषा व्यंजनाप्रधान है और शब्दावली बड़ी चटुल एवं ध्वनिमयी है। जरीपरस के पुजारी के वर्णन से ऐसे स्थलों पर भाषा की यह विशेषता प्रकट हो जाती है—'उन्होंने बताया कि पुजारी कोई वृद्ध शैव साधु हैं। उनके काले स्थूल शरीर में शिराएँ इस प्रकार फूटी दिखाई देती हैं मानो उन्हें जला हुआ खम्भा समझकर गिरगिट चढ़े हुए हों। सारा शरीर घाव के दागों से इस प्रकार भरा है, मानो चमरसी देवी ने शुभ लक्षणों को उस देह से काट-काट कर अलग कर लिया है। वे काफी शौकीन भी हैं। यद्यपि वृद्ध हैं तो भी कानों में चौर-पुष्प का लटकना नहीं भूलते। वे भक्त भी हैं क्योंकि चण्डी-मन्दिर की चौखट पर सिर टुकराते-टुकराते उनके ललाट में अर्बुद हो गया है। वे तांत्रिक भी हैं; अक्सर ही बूढ़ी तीर्थ-यात्रिणियों पर वशीकरण चूर्ण फेंका करते हैं। वे प्रयोग-कुशल भी हैं क्योंकि एक बार गुप्तस्थानों की लिपि दिखाने वाला कज्जल लगाकर एक आँख खो चुके हैं। वे चिकित्सक भी हैं, अपने पाये वाले

लम्बे और ऊँचे दाँतों को समान बनाने के उद्योग में अन्य दाँतों को खो चुके हैं; पर वे ऊँचे दाँत वहीं के वहीं हैं। वे विनोदी भी हैं क्योंकि बालकों के पीछे एक बार ईंट लेकर दौड़ पड़े थे और झुक कर गिर गये थे, जिससे होंठ कुछ कट गये हैं। उनकी विद्या का भाण्डार अक्षय है। समस्त दक्षिणापथ की सम्पत्ति प्राप्त करने की आशा से कपाल में तिलक धारण करते हैं + + + ।"

आचार्य जी ने लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग 'भरपूर' किया है, किन्तु यह प्रयोग उस भूमि नहीं किया है जहाँ उनकी भाषा सहज और समासहीन है। ऐसे स्थलों पर ही शब्दों में चुहल और वाक्यावली में चुस्ती है। मुहावरे, बड़े जानदार और दैनिक उपयोग के होने के कारण, टकसाली भाषा के अङ्ग बन गये हैं। इसी प्रकार का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है —

"निपुणिका की अन्तिम बात मेरे मर्म में चुभ गई।१ वह अगर पश्चात्ताप करती है, तो किस नरक में पड़ी है २ कहाँ भी स्थान नहीं मिलेगा ?३ वह कुलभ्रष्टा स्त्री है उसके सद्गुणों का समाज में क्या मूल्य है ?४ गुणों की तो फिर भी कुछ-न-कुछ पूछ है ही। मैंने उसकी कोटरगामिनी आँखों को एक बार फिर देखा। उनमें आँसू भरे हुए थे। मैं बोला—'निउनिया तू झूठ बोलती है। तू पछता रही है तू कष्ट में है तू आश्रय चाहती है तू मुझे यहाँ से हटने नहीं देना चाहती। मैं जो पहले था वह आज भी हूँ सारी दुनियाँ भी तुझे मेरे आश्रय से अलग नहीं कर सकती। यह दुकान अभी बन्द करदे।५ जहाँ लोग तेरी कोई बात नहीं जानते, ऐसे किसी स्थान पर शान्तिपूर्वक रह। मैं तुझे कीचड़ में छोड़ कर नहीं जा सकता।६ मेरे प्रति तेरा मोह कट गया है, यह अच्छी बात है। तू इस कालिमा-भरी नगरी के राजमार्ग को छोड़ दे। तेरी आँखें कैसी धँस-गई हैं।८ हा अभागी तू मुझ से भी छिपा रही है।' निपुणिका इस बार बेबस हो गई।९ वह फूट-फूट कर रो पड़ी।"

भाषा में मुहावरों की शक्ति तो है ही साथ ही उसमें एक अनूठी कसावट भी है। प्रत्येक शब्द अर्थ-गरिमा से आपूर्ण है। वह जहाँ है वहीं सजा हुआ दीखता है। एक भी शब्द के हटने-बदलने से वाक्य शिथिलता-मुक्त नहीं रह सकता। नाटकीयता और प्रभावात्मकता से भाषा सरस हो गई है। नीचे के उद्धरण में शक्ति-चमत्कार देखा जा सकता है—

'निर्दय तुमने बहुत बार बताया था कि तुम नारी-देह को देव-मन्दिर के समान पवित्र मानते हो पर एक बार भी तुमने समझा होता कि यह मन्दिर हाड़-मांस का है ईंट-चूने का नहीं।१ जिस क्षण मैं अपना सर्वस्व लेकर इस आशा से तुम्हारी ओर बढ़ी थी कि तुम उसे स्वीकार कर लोगे उसी समय तुमने मेरी आशा को धूलिसात् कर दिया।४ उस दिन मेरा निश्चित विश्वास हो गया कि तुम जड़ पाषाण-पिण्ड हो

१, २ + + + ९ = इस उद्धरण में इतने मुहावरे हैं।

म्हारे भीतर न देखता है, न पशु है एक मलिन भरता । जीवन में मैंने उसके बाद बहुत दुःख झेले हैं पर उस दारुणतर है प्रत्याख्यान के समान कष्ट मुझे कभी नहीं हुआ ।"

परिष्कृत शब्दों में शक्ति का चमत्कार देखता हुआ पाठक भाषा की कसावट भी देख सकता है । भाषा में प्रसाद के साथ माधुर्य गुण का ऐसा सम्मिश्रण प्राय दुर्लभ होता है । शृ गार का ऐसा पुटपाक आचार्य द्विवेदीजी के ही वश की बात है । 'कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि+ + + आदि वाक्यों में शृ गार अपनी तरंग की वास्तविकता प्रकट किये बिना नहीं रहा सका था किन्तु निपुणिका के उक्त वाक्यों में शृ गार वास्तविक भूमिका पर न आकर आन्दोलित सरोवर की तरंगों के समान हृदय-तट से ही टकरा रहा है । यह भाषा की गरिमा नहीं तो और क्या है ? सच तो यह है कि बाणभट्ट की आत्मकथा की भाषा-शैली एक ही साथ मोहक, मारक मधुर, चटुल और प्रवर्तनमयी है । कहीं उसका एक गुण प्रधान है तो कहीं दूसरा और कहीं-कहीं गुण-निष्पण-सौष्ठव भी है । व्यस्य कहीं ओज का प्रभाव करते हैं तो कहीं प्रसाद-माधुर्य का । कहीं-कहीं सरल स्थलों में भी बड़ी वक्रता दिखाई देती है और कभी-कभी वक्रता अतिशय हो जाती है । मौलिक वक्रता का एक उदाहरण यह है—

मेरे जीवन में जो कुछ घटा है उसे जानने की क्या जरूरत है । आजकल मैं पान बेचती हूँ और छोटे राजकुल के अन्तःपुर में पान पहुँचाया करती हूँ । सब मिलाकर मैं दुःखी नहीं हूँ । तुम मेरी चिन्ता छोड़ो । जहाँ जा रहे हो, वहाँ जाओ । यदि इस नगर में रहो, तो कभी-कभी दर्शन पाने की आशा में अवश्य रहूँगी ।"

इन वाक्यों में सरलता है, किन्तु इनके पीछे विदग्धता भी देखी जा सकती है । इसमें चुटीली वक्रिमा और तीव्रता का अनुभव न करना भाषा के मनोवैज्ञानिक पक्ष को विस्मृत करना है ।

कथा-शैली भावोद्रेक से आरम्भ होकर तल्लीनता की ओर बढ़ती जाती है । भाषा सुगम या क्लिष्ट ही नहीं है, वरन् प्रसंगानुरोध से रूप-रंग बदलती चलती है । द्विवेदीजी की भाषा का एक पक्ष चटुलता है और दूसरा व्यावहारिकता । बीच-बीच में संस्कृत-तत्सम शब्दों के घटाटोप से वह अधिक अलंकृत हो गई है । भाषा की यह छटा रूप-रंग, उत्सव-शोभा प्राकृतिक दृश्य आदि के वर्णनों में विशेषतया देखी जा सकती है । उद्बुद्ध कल्पना की सीमित छटा में प्रयासों का वैभव अधिक आकर्षक दृष्टिगोचर होता है । यथास्थल प्रसंगों में विप्रलम्भ का समावेश लेखक की उस निरुपम-रुचि का परिचय देता है जिसमें सफलता का रंग उसे बिना नहीं रह सकता । चित्रांकन की सूक्ष्मता और वर्णन की मार्मिकता भाव-परिवर्तन के अनेक चित्रों से प्रकट होती है । यही चित्र लेखक के वर्णन-कौशल के प्रमाण हैं । नूतन विषय, नूतन काव्य नूतन कथा-शैली, उपन्यास में नूतन नाटकीयता, नूतन प्रसंग और नूतन भाषा-शैली—बाणभट्ट की आत्मकथा में सभी कुछ तो नूतन है । एक बाणभट्ट पुराना है तो क्या उसकी पुरातनता की आधार शिला पर भी सृष्टि की गई है उसमें नवबाणभट्ट नवचिन्तन और नवकल्पना है ।

१८ कृति की विशेषताएँ

बाणभट्ट की आत्मकथा एक वर्णनप्रधान रचना है और वर्णनों का इतना प्राचुर्य है कि इसे वर्णन-कोश कहना अनुचित न होगा। प्रकृति, नगर, उत्सव, धर्म, संस्कार, कला, राजनीति आदि से सम्बन्धित वर्णन इतने अधिक हैं कि कई बार उनकी प्रचुरता में कथा का वास्तविक सूत्र खो जाता है फिर भी वर्णन पाठक के मन में ऊब पैदा करने वाले नहीं हैं। कथा के कोमल मधुर और मोहक स्पर्श ने उन्हें इतना भव्य बना दिया है कि मन उनमें रमे बिना नहीं रहता। इसके अतिरिक्त वर्णनों की एक विशेषता यह भी है कि वे उपयुक्त स्थान पाकर-हृदयंगम हो गये हैं। यह ठीक है कि वे संस्कृत ग्रन्थों की सम्पत्ति हैं, वे दीर्घकाय हैं वे कथा के सहज प्रवाह को रोक कर स्थित हैं फिर भी वे कथा में इस प्रकार व्यवस्थित हो गये हैं कि वे अपने-अपने स्थान की शोभा बढ़ा रहे हैं। उनकी स्थिति मे कोई परिवर्तन कथा-सौन्दर्य को बिगाड़े बिना नहीं किया जा सकता। वे जिन स्थानों पर व्यवस्थित हैं वे उनकी प्रकृति के अनुरूप हैं। उस स्थान का वातावरण उनके स्वभाव के अनुकूल है। वे वर्णन स्थिति और परिस्थिति को कहीं प्रस्तुत करते हैं कहीं सजाते हैं और कहीं उनकी व्याख्या करके उनके रहस्यों की व्याख्या और मीमांसा करते हैं।

इस रचना की दूसरी विशेषता नारी-पात्रों का प्राधान्य है। जिस प्रकार प्रमुख कथा अनेक वर्णनों और प्रसंगों के योग से पुष्ट एवं पीन दिखाई पड़ती है उसी प्रकार प्रमुख पात्र (बाण) का चरित्र अनेक नारी-पात्रों के संदर्भ में दीप्ति एवं कान्ति प्राप्त करता है। राज्यश्री की नगण्य पात्रता को छोड़कर प्रायः सभी प्रमुख नारी-पात्र कल्पित हैं। ऐसी बात नहीं है कि अनेक नारी-पात्रों का सम्पर्क केवल बाण से है, किन्तु प्रायः सभी नारियाँ प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षत बाण के चरित्र की उदारता और भास्वरता को प्रकट करने में अपना-अपना योग देती हैं। वे एक ओर तो बाण को दूसरे पुरुष पात्रों की तुलना में गौरव प्रदान करती हैं और दूसरी ओर नारी-जीवन के विविध दुर्बल एवं हीन पक्ष को पाठकों के सामने ला देती हैं। निपुणिका भट्टिनी और सुचरिता के अतिरिक्त चारुस्मिता का 'पार्ट' भी अपने पक्ष विपक्ष में बहुत कुछ अर्पित कर देता है।

शृंगार के प्रचुर उपकरण होते हुए भी रतिभाव कभी भी अनुभावों के मार्ग से अभिव्यक्त होता नहीं देखा जाता। भाव का उस समय तक पता नहीं चल सकता जब तक कि वह अनुभाव का मार्ग स्वीकार न करे। वाचिक और कायिक अनुभाव ही स्पष्ट-भाव-सूचना के माध्यम हैं। 'सात्त्विक' भाव की प्रामाणिक अभिव्यक्ति के लिए निर्विक

सिद्ध होता है। कभी-कभी तो 'सात्विक' भाव के सम्बन्ध में प्रबल भ्रम जाग्रत कर देता है। बाणभट्ट की आत्मकथा में निपुणिका और भट्टिनी के सात्विकों से कभी-कभी ऐसे ही भ्रम की स्थिति पैदा हो जाती है। भट्टिनी के सात्विक भाव में ऐसे भ्रम के लिए अवकाश देखिये —

"उनका गला रुँधा हुआ था, दृष्टि कातर थी, और करुण स्वेदधारा से आर्द्र थी। मुख में तब भी उठने की शक्ति नहीं थी। मैंने आँखें मूँद लीं और भट्टिनी की स्नेह मधुर मुखश्री का ध्यान करने लगा।" ऐसा ही एक उदाहरण निपुणिका के सम्बन्ध में देखिये—

"निपुणिका पर-कटे पक्षी की भाँति मेरे चरणों पर लोट गई। + + +। निपुणिका अपनी संज्ञाहीन अवस्था में भी कसकर मेरा पैर पकड़े रही। बड़ा कठोर बन्धन था वह। मैंने भट्टिनी को देखकर आत्मलज्जावश उठना चाहा पर उस बन्धन ने मेरी चेष्टा में बाधा दी।"

इसी प्रकार के उदाहरण बाण के सम्बन्ध में भी दिये जा सकते हैं। कहने का आशय यह है कि प्रेम को दिशा बदलने के लिए पर्याप्त अवसर मिलते हैं, किन्तु उसमें कलुष कभी नहीं आता। विश्लेषण और व्याख्या की किसी सीमा में 'आत्मकथा' का प्रेम वासित नहीं होता। जिस दिशा में हिन्दी-उपन्यास चल रहा है अथवा जो मार्ग अधिकांश हिन्दी उपन्यासकारों ने स्वीकार कर रखा है वह आत्मकथा के लेखक को स्वीकार नहीं है। आत्मकथा में प्रेम है किन्तु वासना से अनाविल है प्रेम-सम्बन्ध है किन्तु औदार्यमय है। सच तो यह है कि 'आत्मकथा' अपने मूल प्रवाह में 'उदात्त-प्रेम-कथा' है।

इसकी इतर विशेषता इसके स्वरूप की है। 'आत्मकथा' के प्रकाश में आते ही बहुत दिनों तक तो यही विवाद चलता रहा कि "यह 'आत्मकथा' नहीं है।' कुछ विद्वान् इसके कथामुख की वास्तविकता को या इसके आशय को न समझ कर इस कृति को 'बाणभट्ट' की कृति ही मानते रहे किन्तु पुनः पुनः चिन्तन और मनन करने पर विद्वानों की धारणा में परिवर्तन होने के लक्षण दिखाई देने लगे। इतने पर भी स्वरूप निर्णय के सम्बन्ध में सन्देह की स्थिति बनी ही रही। जैसे-जैसे कथामुख और उपसंहार के भावों की गहराई में बुद्धि ने उतरने का उपक्रम किया वैसे-वैसे इस कृति का स्वरूप अनावृत होने लगा। अब इसकी औपन्यासिकता सिद्ध हो चुकी है, किन्तु यह सामान्य उपन्यासों से भिन्न है। इसका आत्मकथात्मक रूप इसकी विशेषता नहीं है, इसकी विशेषता है इतिहास की नींव पर खड़ी हुई 'आत्मकथा', उस व्यक्ति की आत्मकथा जिसकी कोई कृति

अपनी पूर्णता का आभास नहीं कर सकते। इतिहास, आत्मकथा उपन्यास, प्रेम-कथा कल्पनालोक, कहानी आदि अनेक रूपों की सम्मिलित झाँकियाँ पाने के लिए इस कृति में पर्याप्त अवकाश है फिर भी यह सिद्ध है कि यह आत्मकथात्मक ऐतिहासिक उपन्यास है जिस पर रोमांस का गहरा रंग चढ़ा हुआ है।

आत्मकथा' में बाण-विषयक रूप भिन्न संस्कृत से भिन्न है। संस्कृत-साहित्य का बाण अपने चरित्र को उज्ज्वल रूप में व्यक्त नहीं कर सका है। जैसे ही वह हर्ष का राजकवि बनता है उसकी जीवनचर्या परिवर्तित हो जाती है, किन्तु आत्मकथा के बाण का अपटत्व अक्षिप्त ही रहता है प्रत्युत वह एक महान् कलाकार और महापुरुष के रूप में ही अपने चरित्र और स्वभाव को सिद्ध करता है। ऐसे अनेक स्थल आते हैं जहाँ इस सन्देह का अवसर मिलता है किन्तु इधर-उधर के आवरण की भूमिका पर आधा रित संदेह की बालुका-भित्ति सहसा ढह जाती है। यह बड़े विस्मय की बात है कि जो व्यक्ति इतना बड़ा कलाकार है जो अविवाहित है और जिसका यौवन—आकर्षक व्यक्तित्व, प्रतिपल परीक्षा-क्षण अर्पित करता है, वह आत्मकथा में इतना संयत संतुलित, उदार, सहृदय, प्रेमी और न जाने क्या-क्या एक ही साथ बना रहता है। उसके चरित्र में कोई धब्बा भी तो सिद्ध नहीं हो पाता है उसके प्रेमाचार में कहीं भी तो दुर्गन्ध नहीं आ पाती। बाण को यही चरित्र अर्पित करने के लिए लेखक का प्रयास हुआ है और उसमें वह पूर्णतः सफल हुआ है।

यों तो साहित्य की विशेषता कुतूहल की सृष्टि करना है, किन्तु प्रबन्ध रचनाओं में तो इस कुतूहल की अनुस्यूतता रहनी-ही चाहिये। जब तक रचना कुतूहल की सृष्टि और संचार को साधे रहती है तब तक उसकी सफलता अक्षुण्ण रहती है। बाणभट्ट की 'आत्मकथा' कुतूहल की अनेक परिस्थितियों से आपूर्ण है। बाण, निपुणिका और भट्टिनी का सम्बन्ध कुतूहल की धारा को बहाता हुआ भी अनेक परिस्थितियों में अतिरिक्त कुतूहल प्रस्तुत करता है। धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के विविध पक्ष कुतूहल को नये-नये आकार देते दिखाई देते हैं। इसीलिए वर्णनों की प्रचुरता और पृथुलता में भी—कथांश से विप्रकृष्ट होकर भी पाठक की रुचि कुतूहल के अवलम्ब से जीवित एवं पुष्ट बनी रहती है।

जिस प्रकार आत्मकथा के प्रसंगों में कुतूहल प्रविष्ट है उसी प्रकार आत्मकथा के सामाजिक सांस्कृतिक राजनीतिक, और धार्मिक वातावरण में नारी-जीवन उपेक्षित या गर्हित ही रहा है। बहुत कम कलाकारों ने नारी के महत्त्व को समझा-समझाया है। आधुनिक युग में भारत के विविध आन्दोलनों में नारी ने जो योग दिया उसका सारा

जिक महत्व अविस्मरणीय है। उसके योग देते ही पुरुष को अपने अहंकार का खोखलापन प्रतीत हुआ और उसने यह महसूस किया कि समाज की गाड़ी नारी के सहयोग के बिना चल नहीं सकती है। इधर टाल्स्टाय के 'मानववादवाद' ने भारतीय विचार-धारा में एक क्रान्ति पैदा की और गांधी आदि नेताओं ने पश्चिम से प्रेरणा प्राप्त की। परिवर्तन की इस लहर का न तो सामना किया जा सकता था और न सामना करना कोई बुद्धिमत्ता की बात थी; अतएव मानववादवाद के अन्तर्गत में नारी के स्वरूप, महत्व और उसकी अनेक समस्याओं को भी निरखा-परखा गया। कुछ तो पुरुष ने नारी को समझने का प्रयत्न किया और कुछ उसने पुरुष को समझाया। बस फिर क्या था। नारी उठी उसने व्यक्ति का झंडा उठाया और पुरुष के साथ समानाधिकार का दावा करके वह अपनी समस्या को सुलझाती हुई देश की समस्या के हल खोजने में अपना योग देने लगी।

आचार्य द्विवेदी ने कुछ तो अपने स्वभाव के कारण कुछ नागरिक शालीनता के कारण और कुछ देश-काल की आवश्यकता के अनुरूप नारी को प्रकाश में लाने और उसके अन्दर की शक्ति को चमकाने की विलक्षण, किन्तु सफल चेष्टा की। लेखक ने पुरुष के वैराग्य की दुर्बलता बतलाते हुए जीवन-साधना में नारी के सहयोग को बड़े कौशल से सिद्ध किया। मध्यकाल में नारी के प्रति जो घृणा पैदा करदी गई थी उसे उन्मूलन करने में लेखक ने बहुत बड़ा साहित्यिक योग दिया।' इस योग की विशेषता यह थी कि दूसरे साहित्यकारों ने अधिकांशत नारी की दुर्बलता दयनीयता आदि को व्यक्त करना ही बस समझा किन्तु लेखक ने नारी के पावन स्वरूप और उसके महत्व पर भी प्रकाश डाला। इससे न केवल पाठक की करुणा उद्बुद्ध हुई वरन् नारी के प्रति उनकी श्रद्धा और आस्था भी जाग्रत हुई। नारी को काम-नीति का खिलौना न कहकर आचार्य द्विवेदी ने उसे अन्तर्योग बना दिया और नारी के शरीर में देव-मन्दिर की आस्था कर करने लगे। लेखक ने नारी में प्रेम के महान् देवता को प्रतिष्ठित करके आधुनिक लेखकों और साहित्यकारों को ही नहीं वरन् अपने पाठकों को जीवन की एक निगूढ़ निधि एक नई दिशा से अवगत कराया।

प्रायः यह कहा जाता है कि आधुनिक साहित्य में देश प्रेम की लहर कहीं-न-कहीं मिल ही जाती है। मैं इस उक्ति या सिद्धान्त से सहमत नहीं हूँ। न तो प्रत्येक रचना में देश-प्रेम मिलता है और न प्रत्येक रचयिता देश-प्रेमी होता है। इसके अतिरिक्त देश-प्रेमी होना एक बात है और देश प्रेम से ओतप्रोत रचना लिखना दूसरी बात है। दोनों में समय की अनिवार्यता सिद्ध नहीं होती है। फिर भी जो देश-प्रेमी साहित्यकार हैं उनकी कृतियों में देश-प्रेम का मिलना स्वाभाविक बात है।

साहित्य में देश-प्रेम किसी न किसी भाषा में पाया तो प्रत्येक युग में गया है किन्तु उसके स्वरूप में भेद मिलता है उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार में भेद मिलता है। देश-प्रेम की नई झलक, देश-भक्ति की एक नई चेतना भारतेन्दु-काल में ही प्रकट हो गई थी, किन्तु समय की गति के साथ उस चेतना में विकास होता गया। जैसे-जैसे विदेशी सत्ता अपनी जड़े मजबूत करने के लिए भारतीय जनता को दुर्बल और असहाय बनाने का प्रयत्न करने लगी वैसे-वैसे चेतना को उद्दीपन और विकास मिलता चला गया। एक समय ऐसा आया कि देश के कर्णधारों ने विदेशी सत्ता से लोहा लेने का व्रत ले लिया। कांग्रेस ने आन्दोलन छेड़ दिया और असहयोग के साथ देश के कोने-कोने में प्रभावात्मक उद्बोध फैला दिया। देश के भू-भाग प्राकृतिक दृश्य तथा पुण्य साहित्यिक प्रेम बनने लग गये और प्राचीन भारत का गौरवमय इतिहास साहित्य के माध्यम से देश की जनता में जागृति और स्फूर्ति उद्वेलित करने लग गया। कहानियों, उपन्यासों निबन्धों और नाटकों के अतिरिक्त कविता ने जन-जागरण की दिशा में बड़ी दृढ़ता से कदम उठाया।

इस समय के साहित्य के भी दो रूप थे—क्रान्तिकारी साहित्य तथा उद्बोधन-कारी साहित्य। जिन साहित्यकारों ने अपने को देशार्पित कर दिया वे क्रान्तिकारी सर्जना में जुटे रहे और जो सन्तुलन के साथ देशप्रेम को जगाने और देश की परिस्थितियों का रूप-चित्रण सामने प्रस्तुत करने में लगे रहे वे वस्तुतः सृजनशील साहित्यकार थे। वे देश-प्रेम में निमग्न अवश्य थे किन्तु साहित्य से दूर जाकर नहीं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ऐसे ही साहित्यकार हैं जो स्वतंत्रता से पूर्व देश-प्रेम की लहर को उद्वेलित करने के लिए लालायित थे और 'आत्मकथा' जैसी रचना के माध्यम से उन्होंने इतिहास की ओट लेकर वर्तमान आवश्यकताओं के अनुरूप सामग्री संकलित करने की प्रेरणा दी। देश पर संकट आने के समय देश के प्रत्येक नर-नारी का कर्तव्य उसके उद्धार के लिए जुट जाना है। वेतन-भोगी सेना के भरोसे देश को संकट के हाथों सौंप देना देश-प्रेम का कोई प्रमाण नहीं है। ऐसे समय बच्चे-बच्चे को देश की रक्षा के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। प्रत्येक व्यवसाय का आदमी देश की रक्षा के लिए उपयोगी बन सकता है। इस प्रकार 'आत्मकथा' के लेखक ने समाज की दृष्टि को बदलने का अपूर्व प्रयत्न किया।

स्वतंत्रता से पूर्व इस कृति के सृजन-काल में देश में सामन्तयुग की सभी दुर्बल-ताएँ उपस्थित थीं। सामन्तों के 'रावलों' में नारियों की दशा दयनीय थी। उनकी सेवक-सेविकाओं की दशा पर कठोरता भी आँसू बहाती थी। किसानों और श्रमिकों को सुख नहीं था। परिश्रम की भट्टी में तप-तप कर भी उनको भस्म का शीतलता नहीं मिल सकती थी।

सामन्तगण नारियों को अपहृत कर ले जाते थे और उनके सतीत्व को नष्ट

करने के लिए उन्हें मद्य-वासनाएँ दी जाती थीं। सामन्तों के रावलों में उनको बन्दी की भाँति रखकर उन पर कठोर प्रतिबन्ध रखा जाता था। अनेक उज्ज्वल चरित्र वाली कुल वधुएँ अपने सतीत्व को रक्षित करने के लिए विवश हो जाती थीं। न जाने कितनी भट्टिनियाँ सामन्तों के प्रासादों में कारा-भोग कर रही थीं, किन्तु निपुणिका और बाण के समान उदार और त्यागी नर-नारी बहुत कम दृष्टिगोचर होते थे। इन परिस्थितियों को सामने लाने तथा उनकी मुक्ति का उपाय सुझाने के प्रयासों ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को एक अपूर्व कृति बना दिया है।

इन विशेषताओं के अतिरिक्त 'आत्मकथा' की एक विशेषता यह है कि इसे भारतीय ललितकलाओं की व्याख्या और उपयोगिता को प्रकट करने में अमोघ सफलता मिली है। कादम्बरी और हर्षचरित में कलाओं का जो रूप अनावृत किया था उसको बड़ी कुशलता से 'आत्मकथा' में उद्घाटित या रूपायित किया है। अतएव कलाओं के वैशिष्ट्य को सामने लाने और उनसे पाठक से परिचय कराने की दृष्टि से लेखक ने उनके रूप का पृथक्-पृथक् विश्लेषण किया है।

१६ कृतिकार की औपन्यासिक सिद्धियाँ

साहित्यिक सर्जना अधिकांशतः गद्य और पद्य दो ही शैलियों में होती है, किन्तु इन दोनों का एक मिश्ररूप भी प्रचलित रहा है जो चंपू नाम से अभिहित रहा है। गद्य और पद्य स्पष्टतः दो भिन्न शैलियाँ हैं, किन्तु चम्पू को दोनों का सामान्य मिश्रण समझ लेना भ्रम होगा। कहीं और कभी भी गद्य के बाद पद्य की स्थिति किसी भी रचना को चम्पू नहीं बना देती। यदि ऐसा होता तो प्राचीन संस्कृत नाटक अथवा आज का नाटक भी जिसमें पद्य का समावेश होता है, चम्पू की संज्ञा पा लेता किन्तु नाटक 'चम्पू' नहीं होता है। चम्पू श्रव्य काव्य होता है, दृश्य काव्य नहीं। चम्पू में स्थलों व्यक्तियों स्वभावों गुण-दोषों परिस्थितियों आदि की व्याख्या करने में लेखक का निजी अधिकार होता है। इसके अतिरिक्त वह कुछ पात्रों का उपयोग करके कहानी और उपन्यास की भाँति कथोपकथनों का आश्रय भी ले सकता है। दूसरी विशेषता यह है कि चम्पूगत पद्य मर्मोद्घाटन के लिए ही प्रयुक्त होता है। पद्य में किसी कथन की पुष्टि को संक्षिप्त अवकाश मिलता है और एक पद्य का संकेत दूसरे पद्य के लिए प्रेरणा-स्रोत बनकर अपनी स्थिति के औचित्य को सिद्ध करता है। इन सब पद्यों का निचोड़ अन्तिम पद्य में निहित रहता है जो आरम्भ के साथ अपना निकटतम सम्बन्ध जोड़े बिना नहीं रह सकता। यहाँ यह बात भी स्मरणीय है कि आरम्भ और अन्त कथा-सूत्र से सम्बद्ध रहते हैं। यह सम्बन्ध यद्यपि गद्य के द्वारा ही प्रमुखतः स्थापित होता है किन्तु पद्य—भाग उसको शक्ति देकर बढ़ाने में बड़ा योग देता है। इस प्रकार गद्य और पद्य से चम्पू का भेद स्पष्ट है।

यों तो गद्य और पद्य दोनों ही अभिव्यक्ति की शैलियाँ रही हैं किन्तु गद्य की व्यावहारिकता भुलाई नहीं जा सकती। गद्य और पद्य दोनों ही जीवन को धारण करके साकार होते हैं, किन्तु पद्य में जीवन की व्याख्या को किसी न किसी स्तर पर परिमिति स्वीकार करनी ही पड़ती है। इसके अतिरिक्त उत्तम काव्य की अभिधा पाने के लिए पद्य को लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का आश्रय भी लेना पड़ता है। गद्य भी काव्य स्तर पर आने के लिए इन शक्तियों से विरहित नहीं रह सकता किन्तु उपन्यास कहानी सामान्य लेख आदि के गद्य में उनको उतना अवकाश नहीं होता जितना पद्य में होता है। इसके अतिरिक्त गद्य के ऊपर अभिव्यक्ति-सम्बन्धी कोई भी कुछ नहीं होता। छन्द अनुप्रास आदि के बन्धन गद्य के स्वातन्त्र्य की सीमाएँ निर्धारित नहीं करते। पद्य और गद्य अपने अपने बन्धनों को छोड़कर एक दूसरे के इतने निकट आ सकते हैं कि उनके भेद की अवगति दुष्कर हो जाती है। सामान्यतया यह माना जाता है कि गद्य वाच्यार्थ को अपना कर केवल वस्तु के निरूपण का साधन बनता है। मेरी समझ में यह बात सर्वां

अतः सिद्ध नहीं हो सकती। गद्य–साहित्य में सर्वत्र नहीं तो यत्र-तत्र, कुछ स्थल ऐसे भी देखे जा सकते हैं जिनमें सत्यार्थ या स्पर्शार्थ अपनी पूरी शक्ति के साथ प्रतिष्ठित होते हैं। ऐसे स्थलों पर गद्य को वाच्यार्थ की सीमाओं में आबद्ध नहीं किया जा सकता और फिर उस पर वस्तु-परकता आरोपित नहीं की जा सकती। भावात्मक या व्यक्तिपरक गद्य में भी वस्तुपरकता का अवसान हो जाता है।

लय, छन्द, तुक आदि के प्रयोग से पद्य साहित्य को गद्य से अलग जो मान्यता मिली हुई है वह एक भेदक दृष्टि की सूचना देती हुई काव्य-बन्धन को स्वीकार करती है। आज यह स्वीकृति पर्यवसित होती जा रही है। नई कविता और गद्य-काव्य दोनों में पर्यवसान की दिशा का स्पष्ट संकेत मिल रहा है। गद्य में लेखक की अभिव्यक्ति को स्वतन्त्रता रहने से और स्वतन्त्रता की पिपासा के प्रति उदय होने से गद्य की विधाएँ नये-नये रूप लेकर विकसित हो रही हैं।

हिन्दी-गद्य प्रमुखतः आज दो धाराओं में प्रवाहित हो रहा है—प्रबन्धात्मक गद्य और मुक्तक गद्य। प्रबन्धात्मक गद्य के दो भेद दृष्टि-गोचर होते हैं—एक कथामय और दूसरा कथाहीन। कथामय गद्य के अन्तर्गत कहानी, उपन्यास, एकांकी नाटक जीवनचरित आत्मकथा संस्मरण, रेखाचित्र रिपोर्ताज आदि। कथाहीन प्रबन्धों में विवेचन का अनुक्रम मिलने पर भी उनमें किसी कथा का आग्रह नहीं होता। स्थान-स्थान पर लेखक अपने कथन की पुष्टि के लिए वैयक्तिक अथवा इतर सन्दर्भों का उपयोग कर सकता है किन्तु कथात्मक प्रबन्धक की भाँति कथाहीन प्रबन्ध किसी बिन्दु विशेष पर जाकर समाप्त करने के लिए विवश नहीं होता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि कथात्मक प्रबन्ध एक ऐसा पुरुष है जिसके दवाओं और उन्मवाओं की एकतानता अनिवार्य है। इसके विपरीत कथाहीन प्रबन्ध में केवल रूपात्मक सम्बन्ध की एकता उद्दिष्ट होती है।

निबन्ध लेख फीचर आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। फीचर यात्रा या दृश्य वर्णन में स्थानों का वह महत्त्व मिलता है जो कथात्मक प्रबन्ध में नायक को मिलता है। विज्ञापन पत्र आदि में कभी-कभी जिस गद्य का साक्षात्कार होता है, वह मुक्तक गद्य का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है।

आजकल कहानी और उपन्यास का भारी ज़ोरशोर है। भारत के कोने के हिन्दी-अखबार भी उपन्यास और कहानी का ही सबसे अधिक सम्मान करते हैं। ये विधाएँ प्रचुर मात्रा में लिखी जा रही हैं और अधिकता से पढ़ी जाती हैं। अतएव प्रचार और प्रसार की दृष्टि से इनका स्थान सर्वोपरि है। इन दोनों में भी सामान्य लोगों ने कहानी को लिखने की दृष्टि से सरलतम विधा समझ रखा है क्योंकि वह आकार में छोटी होती है। इनके लिखने में अधिक ज़ोर नहीं आता किन्तु मैं कहानी-कला को उपन्यास-कला से कुछ कठिन या कठिन मानता हूँ। कहानी के छोटे पात्र में भावों को निचोड़ कर भरना

अधिक दुरूह कार्य है। इसमें उद्देश्य पर पहुँचने के लिए लेखक को बहुत थोड़ा अवकाश मिलता है और इस अवकाश में कुतूहल की व्यवस्था बड़ी दुरूह होती है। वातावरण और चरित्र को विकसित विभाग का अवसर मुश्किल के हाथों में हो मिल सकता है। उपन्यास में इनको विकास के लिए अधिक अवकाश मिल जाता है। जो हो, यदि 'समय' की बात को भुला दिया जाये तो पाठक उपन्यास को ही अधिक पसंद करता है।

जहाँ लेखक आधुनिक जीवन की जटिलता और व्यस्तता का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित होता है अथवा जहाँ वह हृदय की व्यस्त जटिलता को रूपायित करना चाहता है वहाँ उसका काम कहानी से नहीं चलता है। महाकाव्य और नाटक के अतिरिक्त उपन्यास ही इस काम के लिए उपयुक्त होता है।

नाटक और महाकाव्य के लिए अब तक रंगमंच की कौशल की अपेक्षा रही है। इस आवश्यकता का ह्रास आज भी नहीं हुआ है। यद्यपि साहित्यिक नाटकों के विकास ने इस आवश्यकता को कुछ कम अवश्य कर दिया है, फिर भी रंगमंचीय आवश्यकताओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। महाकाव्य के बंधन भी कुछ शिथिल हुए हैं, किन्तु हरएक व्यक्ति महाकवि होने की क्षमता नहीं रखता है। यद्यपि उपन्यासकार होना भी हर किसी के वश की बात नहीं है फिर भी यह विधा उक्त साहित्यिक विधाओं से अधिक सुकर है। सुकरता और आवश्यकता की दृष्टि से उपन्यास प्रचार और प्रसार में अग्रगण्य है।

यद्यपि उपन्यास के विकास मे पश्चिमी साहित्य की प्रेरणा को भुलाया नहीं जा सकता है किन्तु भारतीय साहित्य में 'कादम्बरी' और 'दशकुमारचरित' की परम्परा भी अविस्मरणीय है। 'कादम्बरी और दशकुमारचरित' में वर्णनों के प्राधान्य के साथ शैली का अपना निजी वैशिष्ट्य भी था। समासों के विधान में अलंकार-योजना संस्कृत 'कथा-साहित्य' के गौरव की दुंदुभी बजाती है। वर्णन-प्राचुर्य कथा के कलेवर को विस्तार देने के अतिरिक्त वातावरण को साकार बनाने में भी योग देता था। वैसा वातावरण और वैसे वर्णन आज के कथा-साहित्य में नहीं मिलते हैं और उनके मिलने के लिए अधिक गुंजाइश भी नहीं है। युग-परिवर्तन की भूमिका में वातावरण भी परिवर्तित हो जाता है, किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास भूत में वर्तमान की झाँकियाँ देकर ही तो अपनी महिमा बढ़ाता है।

एक और बात है जो प्राचीन 'कथा-साहित्य' को आधुनिक कथा साहित्य से भिन्न करती है और वह है 'वाद'-विशिष्ट। आज के उपन्यासकार के दर्शित जो राजनीतिक 'वाद' समाज के वातावरण को 'धुँआधार' और बोझिल बनाये हुए हैं वे उसकी कृति में भी घुस जाते हैं। उपन्यास में उनके प्रवेश के लिए बहुत बड़ी गुंजाइश है। उपन्यास के 'नायक' को लेखक जिन पात्रों से संयुक्त करता है उनके सम्बन्ध से राजनीतिक वादों के अनेक परिवेश प्रस्तुत हो जाते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि साहित्यकार

अपनी कृति में अपने युग की उपेक्षा नहीं कर सकता और उपन्यास-जैसी विधा में तो युग अपनी समग्रता में प्रस्फुटित होता है। इसलिए युग के अनेक परिपार्श्वों की इन्द्रधनुषी झाँकियाँ अपने-अपने रूप-रंग में आविर्भूत होती हैं। इन्हीं झाँकियों में वादों का प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा प्रच्छन्न रूप अवगत हो सकता है। प्राचीन कथा-साहित्य में इन राजनीतिक वादों का नाम तक नहीं था। राजनीतिक दाव-पेंच अवश्य थे किन्तु राजनीति अनेक सिद्धान्तों के आधार पर समाज को अनेक वर्गों में विभक्त नहीं करती थी। हाँ, धर्म की विविधता राजनीति को प्रभावित अवश्य करती थी। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में धर्म का पक्ष बहुत प्रबल रहा है फिर भी धर्म साहित्य के अपने मूल्य को अवमानित नहीं कर पाया है। धर्म के सिद्धान्तों के प्रचार को मन में रखता हुआ भी लेखक साहित्यिक उद्देश्य को निभाने में प्रमाद अथवा स्वेच्छाचारिता से काम नहीं लेता था।

आज धर्म की यह बागडोर राजनीति के हाथों में गिर गई है और राजनीति भी धर्म से प्रेरणा नहीं ले रही है। धर्मनिरपेक्ष राज्य की सैद्धान्तिक मान्यता का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ रहा है। धर्म तिरस्कृत होकर भी विस्मृत नहीं है, किन्तु प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य के भेद को स्पष्ट करने के लिए उसके ह्रास का भी मूल्य है। 'वाद' इसी ह्रास के रूप को प्रत्यक्ष करते हैं।

आज के साहित्य में मूलतः दो ही प्रकार के वाद अवगत होते हैं—राजनीतिक वाद तथा साहित्यिक वाद। 'प्रगतिवाद' स्पष्टतः राजनीतिक वाद है। यह मार्क्स के भौतिक द्वन्द्ववाद की धरा पर पला है। छायावाद और प्रयोगवाद को साहित्यिकवादों में ही गिना जाता है क्योंकि इनका सम्बन्ध मूलतः भाषा-शैली से है। '[illegible]' की धरा पर भी 'अर्थवाद की समस्याएँ' निहित हैं। व्यक्तिवाद और यौनवाद की भूमिका में मनोवैज्ञानिक आधार को नहीं भुलाया जा सकता है। इनके अतिरिक्त आधुनिक साहित्य और भी अनेक वादों से आक्रान्त है जिससे साहित्य अपने मौलिक लक्ष्य का निर्वाह नहीं कर पाता है।

नये हिन्दी उपन्यास ने वादों को अपनाते हुए अपना 'टेकनीक' में भी कुछ विकास कर लिया है। उसमें वाद प्रवाह की विशेषताएँ बहुत स्पष्ट हैं। इन वादों को राजनीति ने जन्म देकर पोषण भी किया है। इसलिए वादों का मूल कारण—राजनीति है। अनेक सिद्धान्तों और मतमतान्तरों के सम्बन्ध से राजनीति अपने जितने पहलुओं में स्पष्ट हो रही है साहित्य भी उनको अपनाता चलता है। इसके अतिरिक्त जैसा कि कहा जा चुका है कुछ वाद विज्ञान या मनोविज्ञान से भी सम्बन्ध रखते हैं। फ्रायड और युग ने ऐसे वादों को जन्म देकर साहित्य के विस्तार के लिए एक बड़ी भूमिका तैयार कर दी है। कुछ वाद शुद्ध दार्शनिक पथ पर मनोविज्ञान से निकल पड़े हैं। साहित्य ने उनको भी अपना लिया है। भाग्यवाद और व्यक्तिवाद का साहित्यिक [illegible] या धर्म को

मनोवैज्ञानिक धरा पर ही विकसित हुआ है। यदि यथार्थवाद और प्रगतिवाद में मार्मिक समस्याओं की उलझन है तो छायावाद और प्रयोगवाद में शैलीगत उलझन भी कुछ कम नहीं है। छायावाद के प्रतीक कुछ जाने पहचाने से दीखने लगे थे कि प्रयोगवाद ने अपने कदम, प्रतीकों के क्षेत्र में, बहुत आगे बढ़ा दिये। रहस्यवाद में शैलीगत विशेषता होते हुए भी एक विशेष चिन्तन-पद्धति है जो छायावाद में नहीं है। छायावाद में प्रकृति का मानवीकरण ही होता है किन्तु रहस्यवाद में ईश्वरीकरण। ये दोनों वाद शैलीगत होते हुए भी अपनी चैन्तनिक विशेषताओं में अपनी भिन्नता सुरक्षित रखते हैं। फ्रायड का यौनवाद साहित्य में ऐसी सैद्धान्तिक समस्या लेकर अवतीर्ण हुआ है कि उससे साहित्य की तात्त्विक धरा बहुत कुछ बदल गई है।

इन बातों को लेकर उपन्यास-कला मे अनेक अंगड़ाइयाँ ली हैं। उपन्यास ने अब तक इतिहास को अपनाया था वर्तमान समाज को अपनाया था, आधुनिक मानव के हृदय और मस्तिष्क को अपनाया था और उसने अपनाया था आधुनिक विज्ञान और कला की उपलब्धियों को किन्तु वह भूगोल को इतने आग्रह से नहीं अपना रहा था कि वह वाङ्-क्षेत्र में अपना स्थान बना लेता। जैसे-जैसे वैयक्तिक रुचि समाज-रुचि पर हावी होने लगी कि भूगोल भी अपने महत्त्व को लेकर साहित्य के दरबार म प्रस्तुत हुआ। उसने अन्य बातों को चुनौती दी और साहित्य ने उसे अपने क्षेत्र में स्वीकृति दी। जिस प्रकार भाषावार प्रान्तों का झगड़ा अथवा प्रादेशिक मोह तीव्र हुआ है उसी प्रकार साहित्य में 'आंचलिकता' का आग्रह तीव्र हुआ है। प्रारम्भ में इसका आधार साहित्यिक नवीनता की भावना रही होगी किन्तु पश्चिम के विद्वानों का कहना है कि 'अ ब में पूर्व' की देखने दिखाने की भावना ने आंचलिक कला साहित्य को जन्म दिया। ध्यान रखने की बात है कि आंचलिकता अनेक भूमिकाओं पर विकसित होती है। भाषा प्राकृतिक दृश्य और रीति-रिवाज तथा रहन-सहन में आंचलिकता की प्रमुख भूमिकाएं प्रस्तुत होती हैं। वैसे तो लेखक अपनी कृति में अपनी सहज अनुभूति की अभिव्यञ्जना करता है और उसकी महत्तम अनुभूति उसके अपने अंचल के सम्बन्ध में ही हो सकती है। जहाँ मनुष्य जन्म लेता है अथवा पालित-पोषित होता है वहाँ की अनुभूतियाँ उसके मानस में इतर स्थानों की अपेक्षा गहनतर होती हैं। इससे उसकी कृति में जितनी सबल अभिव्यक्ति उन अनुभूतियों की होती है उतनी दूसरी अनुभूतियों की नहीं होती। वहाँ की भूमि प्राकृतिक दृश्य वहाँ के रीति-रिवाज और रहन-सहन के क्रम लेखक के मानस पर अपना सिक्का जमाये रहते हैं। वहाँ की भाषा का प्रभाव भी स्थायी होता है। चाहे लेखक अनेक भाषाओं का पण्डित हो, किन्तु उसकी मातृभाषा उसका साथ देने के लिए प्रतिक्षण तत्पर रहती है। वहाँ अभिव्यक्ति दुर्बल होती है उसकी भाषा अपने शब्द-कोष से लेखक की सहायता करती है। इस प्रकार आंचलिकता की भूमिकाओं का निर्माण इन तीनों बातों से हो सकता है। प्राय कई कलाकार तो इन तीनों का एक ही साथ उपयोग करते

है किन्तु एक या दो का उपयोग भी आंचलिकता की प्रवृत्ति को प्रकाशित किये बिना नहीं रहता है।

यह ठीक है कि इस वाद के प्रकाश में लेखक अपनी कृति में आंचलिक विशेषताओं का अनावरण करता है। आंचलिक या प्रादेशिक भाषा या बोली तथा रीति रिवाज को स्थान तो प्राचीन संस्कृत नाटक में भी दिया जाता था, किन्तु उपन्यास या कहानी में आया हुआ 'आंचलिकतावाद' हिन्दी में तेजी से कदम बढ़ाता आ रहा है। कथा-साहित्य इसे एक प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार कर रहा है। हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासों ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया और बहुत बाद तक हिन्दी उपन्यासकार का ध्यान इस ओर नहीं गया। मैं नहीं कह सकता कि पश्चिम के प्रभाव ने अथवा संस्कृत नाटक के अनुकरण की भावना ने इस प्रवृत्ति को प्रेरित किया है, किन्तु प्रेरणा में दोनों विचारों के प्रभाव को स्वीकार कर लेना भी अनुचित न होगा। इसके अतिरिक्त 'आंचलिकतावाद' को रुचि के मोल को भी मान्यता देनी ही पड़ेगी। जिस प्रकार देश-प्रेम की अखण्डता की रक्षा के प्रयास में स्वतन्त्रता का बीजारोपण हुआ उसी प्रकार चुनावों के स्तर में प्रादेशिकता की भावना का उदय हुआ। साहित्य और राजनीति के सम्मिलित 'प्लेटफॉर्म' पर प्रादेशिकता उभरती चली गई जो एक ओर राजनीतिक अखाड़ा बन गई और दूसरी ओर साहित्यिक। यदि राजनीति के दाव-पेच में आकर साहित्य ने इस प्रवृत्ति को स्वीकार कर लिया है तो समस्त युग-महिमा के सामने आश्चर्य की क्या बात है।

यह नहीं कहा जा सकता कि 'आंचलिकतावाद' की प्रवृत्ति से हिन्दी-कथा-साहित्य किस दिशा को अपनायेगा। यह आशंका है कि दिशा बदलता हुआ हिन्दी-उपन्यास इस प्रवृत्ति की भूल भुलैयों में कहीं प्रादेशिकता की संकीर्णता में न फँस जावे। यदि ऐसा हो गया तो उससे न केवल भावात्मक एकता के प्रयत्न ही असफलता में विलीन हो जायेंगे अपितु प्रादेशिकता का अवांछनीय अभ्युत्थान भी होगा। इससे राष्ट्रभाषा की व्यापकता एवं महत्ता को आघात पहुँच सकता है। किसी स्तर पर राजनीतिक एकता को भी खतरा हो सकता है। विराट् को लघु में देखने का अधिक सूक्ष्म अनुभूति की अभिव्यक्ति का तथा अंचल-विशेष के गौरव के बढ़ने का अवसर देकर भी 'आंचलिकतावाद' पाठक की कठिनाइयों की उपेक्षा नहीं कर सकता। जहाँ पाठक के ज्ञान-वर्धन को अवसर मिलता है वहाँ आंचलिक भाषा को समझने में सुदूर व अंचल के पाठक को कठिनाई भी हो सकती है आंचलिक मुहावरों के बीच में घिर कर किसी पाठक की ऊब या अरुचि भी पैदा हो सकती है। अंचल विशेष की विशिष्ट सामाजिक एवं धार्मिक रूढ़ियाँ साहित्य में अवतीर्ण होकर पाठक को समझ के लिए कुछ समस्या पैदा कर सकती हैं।

भय है कि कथा साहित्य में 'आंचलिकता' के प्रति बढ़ती हुई ममता कहीं साहित्यिक विकास को अवरुद्ध न कर बैठे। यह अनुमान असंगत नहीं है कि हिन्दी-कथाकार, चाहे नवीनीकरण के मोह में ही सही एक ऐतिहासिक युग को जन्म दे रहा है जिसका

परिणाम उसको न सही तो, उसके बाद में आनेवाली पीढ़ियों को भोगना पड़ेगा। जिस नवीनता को उपन्यासकार या कहानीकार एक वरदान के रूप में साहित्य को अर्पित कर रहा है, वह अभिशाप बन सकती है—ऐसा अभिशाप जिसके मोह से उसकी मुक्ति भी शायद ही हो पाये। उपन्यास-जैसी बड़ी विधा में प्रादेशिकता या आंचलिकता का पुट बुरा नहीं है, बुरा होगा उसका 'अत्याग्रह', जिसके अन्धकार में आंचलिक बोलियों द्वारा राष्ट्रभाषा के आक्रान्त होने की आशंका निर्मूल नहीं है।

आज का हिन्दी-उपन्यास प्रारम्भिक हिन्दी-उपन्यास से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर चुका है। विज्ञान के प्रकाश में अय्यारी और तिलस्म का आकर्षण क्षीण हो गया है। जासूसी रुचि सामाजिक समस्याओं में डूब गई है। उपन्यासकार के सामने नाना प्रकार की समस्याओं का आवर्तन-प्रत्यावर्तन हो रहा है। उपन्यासकार को केवल कुतूहल-वर्धन की समस्या ही नहीं सुलझानी है वरन् जीने की समस्या विकट रूप में प्रस्तुत हो गयी है। वह एक ऐसे युग में जी रहा है, जीने की चेष्टा कर रहा है, जो पहले से कहीं अधिक जटिल हो गया है। वह केवल अपनी समस्याओं में ही उलझा हुआ नहीं है वरन् उसके आसपास की और देश की समस्याएँ भी उसकी दृष्टि को उलझाये बिना नहीं रह रही हैं। उसका युग नयी समस्याएँ लेकर आया है और उनमें से अधिकांश व्यापक हैं। वह पिछली बातों का स्मरण केवल वर्तमान के संदर्भ में—अपने युगवातावरण के सन्दर्भ में ही कर सकता है, इसलिए आज के उपन्यास में चालीस-पचास वर्ष पहले के उपन्यास से भिन्न वातावरण की सृष्टि दिखाई देती है।

वातावरण का सम्बन्ध उपन्यास के उद्देश्य या विषय से भी है। देश-काल की समस्याओं का सामना करने के लिए उपन्यासकार नये-नये प्रस्ताव प्रस्तुत कर रहा है, हल की दिशा में नये संकेत दे रहा है। यह हो सकता है कि इनमें उसका एकांगी दृष्टिकोण निहित हो, किन्तु उनका मूल्य विचारणीय अवश्य है। साहित्यकार के सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह विज्ञान के प्रकाश में अपने जीवन की गुत्थी कैसे सुलझाये। एक ओर समाज के बंधन पूरी तरह टूटे नहीं हैं अतएव वह उनमें भी उलझ रहा है और दूसरी ओर उसके सामने विज्ञान प्रलोभन दे रहा है। विज्ञान के नूतन चरण मानव-जीवन के अभ्यास की प्रतिष्ठा में बहुत बड़ा योग दे सकते हैं, इस पहलू पर वह सजग नयी दृष्टि से विचार कर रहा है। कभी-कभी वर्तमान कहानीकार विज्ञान और मनोविज्ञान के सहारे साहित्य के नये पहलुओं को भी प्रकाश में ला रहा है। कुण्ठाओं और कुत्साओं के परिपोषण की भावना से उसका लक्ष्य जिस मार्ग को अपना रहा है वहाँ से वह धुँधला दीखता है। उसकी सही तस्वीर पाठक के सामने नहीं आ पाती अथवा परिपोषण की निमीलिका उसकी दृष्टि को अस्थिर करके लक्ष्य को धुँधला बना देती है। अतएव आजके बहुत से साहित्यकार 'लोक-मंगल' के स्वरूप का परिचय न कराके विज्ञान के यथार्थ रूप को ही प्रस्तुत करके रह जाते हैं। इसी साहित्यिक उद्देश्य के एक पहलू

के रूप में स्वीकार करते हुए भी बोध के अभाव में सामान्य पाठक के पक्ष अ व की तथा कथा की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

वातावरण की दृष्टि में आर्थिक समस्या भी बड़ी महत्वपूर्ण है। पञ्चवर्षीय योजनाओं का लक्ष्य ही वस्तुतः देश की आर्थिक समस्या के हल को लिया है। देश के रीति-रिवाजों तक में आर्थिक समस्या निहित है। इसलिए उपन्यास इस समस्या की उपेक्षा कदापि नहीं कर सकता है। स्त्री-पुरुष के बीच में भी आर्थिक समस्या के झोंके दिखाई पड़ते हैं। पारस्परिकता को धक्का देने वाली समस्याओं में भी इस समस्या का हाथ किसी-न-किसी रूप में अवश्य मिलता है। सामाजिक आचरण के स्खलन एवं नविकृता के अ त के मूल में भी इस समस्या की दुष्ट प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इसी कारण आज का उपन्यास समस्या-उपन्यास का रूप लिए बिना नहीं रह सकता है।

वाद, वातावरण और उद्देश्य की नवीनता के साथ समस्याओं के समन्वय की अपेक्षा उपन्यास की टेक्नीक का एक महत्वपूर्ण परिणाम बन गया है। उपन्यास के पात्र बदल गये हैं उनका चरित्र बदल गया है उनके रीति-रिवाज और रहन-सहन में परिवर्तन हो गया है और उपन्यास की शैली बदल गई है। सन् १९५४ का उपन्यासकार सन् १९४२ ४९ में नहीं लौट सकता। गांधीयुग और शास्त्री युग में बहुत अन्तर हो गया है। इसलिए उपन्यास का टेकनीक भी बदली है। टेक्नीक का परिवर्तन आकस्मिक नहीं है क्रमिक है। इसमें विकास का बड़ा सूक्ष्म क्रम है। जिस प्रकार आर्थिक या वर्गिक दृष्टि से ऊँचे व्यक्तिने प्रेमचन्दजी के हाथों में अपना महत्व खो दिया था उसी प्रकार आज किसान और मजदूर ने भी साहित्यिक स्तर पर अपना 'सामाजिक भेद' खो दिया है। जब तक वे उपेक्षित थे तब तक साहित्यकार ने उन्हें ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया और जैसे ही वे ऊँचे उठ गये उनको राजनीतिक और सामाजिक सम्मान मिल गया कि उसकी कलम ने अपनी दिशा बदल दी। पात्रों के प्रति उपन्यासकार ने जो रुख अपनाया उसका प्रभाव चरित्र-चित्रण पर भी पड़ा। इसके अतिरिक्त चरित्र को रूढ़ मान्यताओं के चश्मे से देखने के स्थान पर सामाजिक परिस्थितियों के मोड़ से नई दृष्टि का आविर्भाव हुआ और चरित्र-चित्रण में नया रंग आ गया। मनोविज्ञान ने इस क्षेत्र में विशेष योग दिया।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी वादों के चक्कर में नहीं पड़े हैं। हाँ उनकी शैली का मोड़ अवश्य पड़ा है। इसी मोड़ के वश में होकर उन्होंने वर्णनों की ऐसी संरचना की है। उन्होंने वर्णनों में वातावरण का रूप प्रस्तुत करके परिपोषण के लिए अवसर दे दिये हैं। जबकि आज का उपन्यासकार मार्क्स फ्रायड युग के पीछे दौड़ने का प्रयत्न करता है अथवा यथार्थवाद आदर्शोन्मुखवाद मनोविज्ञानवाद, व्यक्तिवाद आदि में घूमता है तब डॉ० द्विवेदी निर्द्वन्द्व होकर अपनी गति और अपने ढंग से चले हैं। उनका लक्ष्य किसी वाद का प्रचार करना नहीं है अपितु समाज को एक ऐसी कृति अर्पित करना है

परिणाम, उसको न सही तो, उसके बाद में आनेवाली पीढ़ियों को भोगना पड़ेगा। जिस नवीनता को उपन्यासकार या कहानीकार एक वरदान के रूप में साहित्य को अर्पित कर रहा है, वह अभिशाप बन सकती है—*ऐसा अभिशाप जिसके मोह से उसकी मुक्ति भी* शायद ही हो पाये। उपन्यास-जैसी बड़ी विधा में प्रादेशिकता या आंचलिकता का पुट बुरा नहीं है बुरा होगा उसका 'आग्रह', जिसके अन्धकार में आंचलिक बोलियों द्वारा राष्ट्रभाषा के आक्रान्त होने की आशंका निर्मूल नहीं है।

आज का हिन्दी-उपन्यास प्रारम्भिक हिन्दी-उपन्यास से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर चुका है। विज्ञान के प्रकाश में अय्यारी और तिलस्म का आकर्षण क्षीण हो गया है। जासूसी रुचि सामाजिक समस्याओं में डूब गई है। उपन्यासकार के सामने नाना प्रकार की समस्याओं का आवर्तन-प्रत्यावर्तन हो रहा है। उपन्यासकार को केवल सुख-दुख-वर्णन की समस्या ही नहीं सुलझानी है वरन् जीने की समस्या विकट रूप में प्रस्तुत हो गयी है। वह एक ऐसे युग में जी रहा है जीने की चेष्टा कर रहा है जो पहले से कहीं अधिक जटिल हो गया है। वह केवल अपनी समस्याओं में ही उलझा हुआ नहीं है वरन् उसके आसपास की और देश की समस्याएँ भी उसकी दृष्टि को उलझाये बिना नहीं रह रही हैं। उसका युग नयी समस्याएँ लेकर आया है और उनमें से अधिकांश व्यापक हैं। वह पिछली बातों का स्मरण केवल वर्तमान के संदर्भ में—अपने युगवातावरण के संदर्भ में ही कर सकता है, इसलिए आज के उपन्यास में चालीस-पचास वर्ष पहले के उपन्यास से भिन्न वातावरण की सृष्टि दिखाई देती है।

वातावरण का सम्बन्ध उपन्यास के उद्देश्य या विषय से भी है। देश-काल की समस्याओं का सामना करने के लिए उपन्यासकार नये-नये प्रस्ताव प्रस्तुत कर रहा है इस की दिशा में नये संकेत दे रहा है। यह हो सकता है कि इनमें उसका एकांगी दृष्टिकोण निहित हो किन्तु उनका मूल्य विचारणीय अवश्य है। साहित्यकार के सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह विज्ञान के प्रकाश में अपने जीवन की गुत्थी कैसे सुलझाये। एक ओर समाज के बंधन पूरी तरह टूटे नहीं हैं, अतएव वह उनमें भी उलझ रहा है और दूसरी ओर उसके सामने विज्ञान प्रलोभन दे रहा है। विज्ञान के मूलत कारण मानव-जीवन के कल्याण की प्रतिष्ठा में बहुत बड़ा योग दे सकते हैं, इस पहलू पर वह सशंक भरी दृष्टि से विचार कर रहा है। कभी-कभी वर्तमान कहानीकार विज्ञान और मनोविज्ञान के सहारे साहित्य के नये पहलुओं को भी प्रकाश में ला रहा है। कुण्ठाओं और कुंठाओं के ओपरेशन की भावना से उसका लक्ष्य जिस मार्ग को अपना रहा है वहां से वह धुंधला दीखता है। उसकी सही तस्वीर पाठक के सामने नहीं आ पाती अथवा ऑपरेशन की विभीषिका उसकी दृष्टि को अस्थिर करके लक्ष्य को धुंधला बना देती है। अतएव आजके बहुत से साहित्यकार 'लोक-मंगल' के स्वरूप का परिचय न कराके विज्ञान के भयावह रूप को ही प्रस्तुत करके रह जाते हैं। ऐसे साहित्यिक उद्देश्य के एक पहलू

के रूप में स्वीकार करते हुए भी बोध के अभाव में सामान्य पाठक के पथ प्रदर्शन की सफलता की अपेक्षा नहीं की जा सकती है।

वातावरण की दृष्टि से आर्थिक समस्या भी बड़ी महत्वपूर्ण है। वर्ग-संघर्ष मोक-नामों का सत्य ही वस्तुतः देश की आर्थिक समस्या के हल की दिशा है। देश के रीति-रिवाजों तक में आर्थिक समस्या निहित है। इसलिए उपन्यास इस समस्या की उपेक्षा कदापि नहीं कर सकता है। स्त्री-पुरुष के बीच में भी आर्थिक समस्या के कई दिखाई दे सकते हैं। पारस्परिकता को धक्का देने वाली समस्याओं में भी इस समस्या का हाथ किसी-न-किसी रूप में अवश्य मिलता है। सामाजिक वातावरण के स्वतन्त्र एवं गतिक्रिया के प्रश्न के मूल में भी इस समस्या की पुष्ट प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इसी कारण आज का उपन्यास समस्या-उपन्यास का रूप लिए बिना नहीं रह सकता है।

काल वातावरण और उद्देश्य की नवीनता के साथ समस्याओं के सम्यक् की परीक्षा उपन्यास की टैक्नीक का एक महत्वपूर्ण परिणाम बन गया है। उपन्यास के पात्र बदल गये हैं उनका चरित्र बदल गया है उनके रीति-रिवाज और रहन-सहन में परिवर्तन हो गया है और उपन्यास की शैली बदल गई है। सन् १९१४ का उपन्यासकार सन् १९४२-४६ में नहीं लौट सकता। आर्यायुग और शास्त्री युग में बहुत अन्तर हो गया है। इसलिए उपन्यास की टैक्नीक भी बदली है। टैक्नीक का परिवर्तन आकस्मिक नहीं है क्रमिक है। उसमें विकास का बड़ा सूक्ष्म क्रम है। जिस प्रकार आर्थिक या वर्गिक दृष्टि से ऊंचे व्यक्तियों ने प्रेमचन्दजी के हाथों में अपना महत्त्व खो दिया था उसी प्रकार आज किसान और मजदूर ने भी साहित्यिक स्तर पर अपना 'सामाजिक भेद' खो दिया है। जब तक वे उपेक्षित थे तब तक साहित्यकार ने उन्हें ऊंचा उठाने का प्रयास किया और वैसे ही वे ऊंचे उठ गये उनको राजनीतिक और सामाजिक सम्मान मिल गया कि उसकी रुचि ने अपनी दिशा बदल दी। पात्रों के प्रति उपन्यासकार ने जो दृष्टि अपनाया उसका प्रभाव चरित्र-चित्रण पर भी पड़ा। इसके अतिरिक्त चरित्र को कुछ मान्यताओं के बन्धने से देखने के स्थान पर सामाजिक परिस्थितियों के मोड़ से नई दृष्टि का आविर्भाव हुआ और चरित्र-चित्रण में नया रूप आ गया। मनोविज्ञान ने इस क्षेत्र में विशेष योग दिया।

डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी वादों के चक्कर में नहीं पड़े हैं। हाँ उनको शैली का भेद अवश्य रहा है। इसी मोड़ के वश में होकर उन्होंने वर्णनों की ऐसी योजना की है। उन्होंने वर्णनों में वातावरण का रङ्ग प्रस्तुत करके कल्पना के लिए अवसर दे दिये हैं। जबकि आज का उपन्यासकार मार्क्स, फ्रायड, युंग के पीछे दौड़ने का प्रयास करता है अथवा अहंवाद, प्रगतिवाद, मनोविज्ञानवाद, व्यक्तिवाद आदि में फंसा है तब डॉ॰ द्विवेदी निर्द्वन्द्व होकर अपनी गति और अपने ढंग से चले हैं। [illegible] किसी वाद का प्रचार करना नहीं है अपितु समाज को एक ऐसी दृष्टि [illegible]

को उसके ज्ञान का वर्णन भी करे और उसको मार्ग भी दिखलाये। कृति में जिस गिर-म्भरता का परिचय मिलता है वह लेखक के व्यक्तित्व और आचरण की झलक है। उसमें जो दिशा पकड़ी गई है वह आदर्श की दिशा है और सत्साहित्य उसको भुलाकर अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता।

उपन्यास के रूप में डा० साहब ने बाणभट्ट की आत्मकथा में वह सब भर दिया है जो आज के उपन्यास की आवश्यकता है। यह बात सर्वसम्मत है कि आज का उपन्यास 'प्रेम' की नींव पर खड़ा होता है और उसके मूल का विकास अनेक दिशाओं में दिखलाया जाता है, किन्तु उन दिशाओं में समस्याएँ निहित रहती हैं। आधुनिक हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्ति अपने कौमार्य से ही समस्याओं को 'सेक्स' के रूप में ग्रहण करने की रही है। इसमें कृतिकार अपनी कृति को शुद्ध आदर्श की दिशा दिखलाने में बहुधा असफल रहा है। डा० द्विवेदी ने किसी समस्या को 'सेक्स' के रूप में नहीं अपनाया और न 'प्रेम' के ज्वार का तापमान देखने-दिखाने का प्रयत्न ही उनका अभिप्रेत रहा है। उन्हें 'प्रेम' के संयम की दिशा प्रिय है। संयत प्रेम जीवन का सार है, असंयत प्रेम 'जीवन का ज्वार' है मानों इसी सिद्धान्त को रूपायित करने के लिए डा० द्विवेदी ने निपुणिका और भट्टिनी की कल्पना की है।

प्रेम में वासना आ सकती है किन्तु उसको संयत भी किया जा सकता है। वासना की लहरों का आभास देकर भी लेखक उनके उद्दाम रूप को कभी सामने नहीं लाता। संयम और कर्तव्य के बहार से तरंगें जिस प्रकार विलीन हो जाती हैं, वही तो लेखक के आदर्श की दिशा है। लेखक चरित्र के संकलन के लिए परिस्थितियाँ पैदा करके भी संयम और आदर्श की दिशा प्रस्तुत करता है। वह फोड़े का ऑपरेशन करके मवाद निकाल कर उसको सुखाने की चेष्टा में विश्वास नहीं करता है, प्रत्युत् उसका विश्वास है कि फोड़े के आसार दीखते ही उसे बैठा दिया जाये। यही संयम का मार्ग है।

आत्मकथा को इतिहास ने वातावरण दिया है, लेखक के व्यक्तित्व ने चरित्र दिया है और आदर्श ने दिशा दी है। वातावरण चरित्र-चित्रण, शैली और उद्देश्य की दृष्टि से यह कृति अपूर्व है। आज के उपन्यास का शायद ही कोई विषय हो जो इस कृति में छूटा हो। प्रेम यौन, धर्म, राजनीति, कला शिक्षा, कर्तव्य नारी युद्ध सामन्ती विलास साहित्य आदि अनेक विषयों का आकलन करके आत्मकथाकार ने उपन्यास की समस्त निधि का उपयोग किया है। इन सबको प्रस्तुत करने में लेखक का निजी दृष्टिकोण रहा है। लेखक ने हिन्दी-उपन्यास की प्रवृत्तियों का अनुसरण न करके प्रचलित प्रवृत्तियों को दिशा दी है।

यह कहने में मुझे संकोच नहीं है कि स्वर्गीय प्रेमचन्द ने हिन्दी-कथासाहित्य को जो मार्ग और लक्ष्य दिया था उसको डा० द्विवेदी ने अधिक मार्जित और स्पष्ट बनाया।

प्रेमचन्द जी के 'यथार्थ' में जो परिस्थितियाँ अनावृत हुई हैं वे आत्मकथा में भी हुई हैं, किन्तु आत्मकथा में उन परिस्थितियों के रूप का विगलन नहीं हो पाया। परिस्थितिक विकृति का संकेत मिथ्या सिद्ध होता है। जहाँ आज का 'उपन्यास' चारित्रिक पतन को परिस्थितियों के माथे मढ़ता है वहाँ 'आत्मकथा' परिस्थितियों को चरित्र का निकष सिद्ध करती है। दृष्टि का यह अन्तर चरित्र के क्षेत्र में आत्मकथा की बड़ी भारी उपलब्धि है।

यह ठीक है कि हिन्दी कथासाहित्य ने 'नारी' की स्थिति पर सहानुभूतिपूर्ण विचार किया है। प्राचीन साहित्य की तुलना में उसकी यह उपलब्धि बड़ी महत्वपूर्ण है। इसमें समाज और राजनीति का योग ही सही किन्तु मानव को मानव के रूप में देखकर दृष्टि-विषमता के परिष्कार की चेष्टा अवश्य है। हिन्दी कथाकार ने नारी के उत्पीड़न का उसके प्रति हुये अत्याचारों का बड़ा मर्मभेदी चित्र प्रस्तुत किया है और उसके प्रति बड़ी सहानुभूति भी व्यक्त की है, किन्तु उसके स्थान को निर्धारित करने में वह पीछे रह गया है। इस अभाव की पूर्ति मानों डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी की लेखनी से हुई है। बाणभट्ट के मुख से नारी के शरीर को देव मन्दिर की प्रतिष्ठा दिलवा कर डा॰ द्विवेदी ने नारी के प्रति केवल सहानुभूति ही व्यक्त नहीं करवायी, वरन् उसका गौरव बढ़ा दिया है। इससे उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि नारी 'वासनाजन्य प्रेम' की अधिकारिणी नहीं है, अपितु अकलुष प्रेम की अधिकारिणी है। उसके सौन्दर्य, उसके हृदय की कोमलता और उदारता को देव-सम्मान मिलना चाहिये।

इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास के माध्यम से वर्तमान को चित्रित करना एक कठिन कार्य है किन्तु कौशल से यह सम्पन्न हो सकता है। इतिहास के पट पर चित्रित वर्तमान अधिक प्रभावशाली भी होता है। तुलनात्मकता और प्रभाव, दोनों का सम्मिश्रित रूप व्यक्त करने के लिए बाणभट्ट की आत्मकथा एक आदर्श उदाहरण है। देश और समाज के लिये साहित्यकार क्या कर सकता है? संकट के समय नारियों की क्या उपयोगिता है? क्या वैराग्य और सन्यास सामाजिक जीवन के लिए वर्जनीय है? क्या आधुनिक शिक्षा-पद्धति उपयुक्त है? क्या युद्ध-काल में वैयक्तिक शक्तियों से ही विजय की आशा की जा सकती है? क्या नर-नारी के प्रेम में वासना के अतिरिक्त और कोई प्रेरणा नहीं हो सकती? नाटकों में अभिनय करने वाली सभी नारियों को बुरी दृष्टि से क्यों देखा जाता है? आदि आदि प्रश्नों पर विचार करके लेखक ने वर्तमान समस्याओं पर विहंगम दृष्टि डालने की चेष्टा की है। लेखक ने प्रमुखतः इन बातों पर विशेष रूप से विचार किया है—नारी सम्बन्धी विचार, शैव धर्म, वैष्णव धर्म, कौलाचार, बौद्धधर्म, शिक्षा-पद्धति, ललित कलाएँ—वास्तु कला, संगीत कला, नृत्य कला, चित्र, काव्य कला, भाषा, वैराग्य और सन्यास, युद्ध और वैयक्तिक सैनिक, राजसभा, उत्सव—पानागार, मदनोत्सव, धर्मसभाएँ तथा राजसभा में नारियों का स्थान।

जो उसके ज्ञान का वर्धन भी करे और उसको मार्ग भी दिखलाये। कृति में जिस मित्र-भरता का परिचय मिलता है वह लेखक के व्यक्तित्व और आचरण की झलक है। उसमें जो दिशा पकड़ी गई है वह आदर्श की दिशा है और सत्साहित्य उसको भुलाकर अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता।

उपन्यास के रूप में डा० साहब ने बाणभट्ट की आत्मकथा में वह सब भर दिया है जो आज के उपन्यास की आवश्यकता है। यह बात सर्वसम्मत है कि आज का उपन्यास 'प्रेम' की नींव पर खड़ा होता है और उसके मूल का विकास अनेक दिशाओं में दिखलाया जाता है, किन्तु उन दिशाओं में समस्याएँ निहित रहती हैं। आधुनिक हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्ति अपने कौमार्य से ही समस्याओं को 'फैशन' के रूप में ग्रहण करने की रही है। इससे कृतिकार अपनी कृति को शुद्ध आदर्श की दिशा दिखलाने में बहुधा असफल रहा है। डा० द्विवेदी ने किसी समस्या को 'फैशन' के रूप में नहीं अपनाया और न 'प्रेम' के स्तर का अपमान देखने-दिखाने का प्रयत्न ही उनका अभिप्रेत रहा है। उन्होंने 'प्रेम' के संयम को दिशा दिया है। संयत प्रेम जीवन का सार है, असंयत प्रेम 'जीवन का क्षार' है, मानों इसी सिद्धान्त को रूपायित करने के लिए डा० द्विवेदी ने निपुणिका और भट्टिनी की कल्पना की है।

प्रेम में वासना आ सकती है किन्तु उसको संयत भी किया जा सकता है। वासना की लहरों का आभास देकर भी लेखक उनके उद्दाम रूप को कभी सामने नहीं लाता। संयम और कर्तव्य के पहाड़ से तरंगें जिस प्रकार विलीन हो जाती हैं, वही तो लेखक के आदर्श की दिशा है। लेखक चरित्र के संकलन के लिए परिस्थितियाँ पैदा करके भी संयम और आदर्श की दिशा प्रस्तुत करता है। वह फोड़े का ऑपरेशन करके मवाद निकाल कर उसको सुखाने की चेष्टा में विश्वास नहीं करता है, प्रत्युत् उसका विश्वास है कि फोड़े के आसार दीखते ही उसे बैठा दिया जावे। यही संयम का मार्ग है।

आत्मकथा को इतिहास ने वातावरण दिया है लेखक के व्यक्तित्व ने चरित्र दिया है और आदर्श ने दिशा दी है। वातावरण चरित्र-चित्रण, शैली और उद्देश्य की दृष्टि से यह कृति अपूर्व है। आज के उपन्यास का शायद ही कोई विषय हो जो इस कृति में छूटा हो। प्रेम, यौन धर्म राजनीति कला शिक्षा कर्तव्य नारी मुक्त सामन्ती विलास साहित्य आदि अनेक विषयों का आकलन करके आत्मकथाकार ने उपन्यास की समग्र निधि का उपयोग किया है। इन सबको प्रस्तुत करने में लेखक का निजी दृष्टिकोण रहा है। लेखक ने हिन्दी-उपन्यास की प्रवृत्तियों का अनुसरण न करके प्रवर्तित प्रवृत्तियों को दिशा दी है।

यह कहने में मुझे संकोच नहीं है कि स्वर्गीय प्रेमचन्द ने हिन्दी-कथासाहित्य को जो मार्ग और लक्ष्य दिया था उसको डा० द्विवेदी ने अधिक मार्जित और स्पष्ट बनाया।

प्रेमचन्द जी के 'यथार्थ' में जो परिस्थितियाँ अभिव्यक्त हुई हैं वे आत्मकथा में भी हुई हैं, किन्तु आत्मकथा में उन परिस्थितियों के रूप का विश्लेषण नहीं हो पाया। पारिस्थितिक विकृति का संकेत मिथ्या सिद्ध होता है। जहाँ भाव का 'उपन्यास' चारित्रिक पक्ष को परिस्थितियों के आगे झुकता है वहाँ 'आत्मकथा' परिस्थितियों को चरित्र का निकष सिद्ध करती है। दृष्टि का यह अन्तर चरित्र के क्षेत्र में आत्मकथा की बड़ी भारी उपलब्धि है।

यह ठीक है कि हिन्दी कथासाहित्य ने 'नारी' की स्थिति पर सहानुभूतिपूर्ण विचार किया है। प्राचीन साहित्य की तुलना में उसकी यह उपलब्धि बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसमें समाज और राजनीति का बोध ही नहीं किन्तु मानव को मानव के रूप में देखकर दृष्टि-विषमता के परिष्कार की चेष्टा सक्षम है। हिन्दी कथाकार ने नारी के उत्पीड़न का उसके प्रति हुये अत्याचारों का बड़ा मर्मभेदी चित्र प्रस्तुत किया है और उसके प्रति बड़ी सहानुभूति भी व्यक्त की है किन्तु उसके स्थान को निर्धारित करने में वह पीछे रह गया है। इस अभाव की पूर्ति मानों डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी की लेखनी से हुई है। बाणभट्ट के मुख से नारी के शरीर को देव मन्दिर की प्रतिमा दिखला कर डा० द्विवेदी ने नारी के प्रति केवल सहानुभूति ही व्यक्त नहीं करवायी, वरन् उसका गौरव बढ़ा दिया है। इनसे उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि नारी 'वासनाजन्य प्रेम' की अधिकारिणी नहीं है, अपितु, वस्तुत प्रेम की अधिकारिणी है। उसके सौन्दर्य, उसके हृदय की कोमलता और उदारता को देव-सम्मान मिलना चाहिये।

इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास के मार्ग से वर्तमान को चित्रित करना एक कठिन कार्य है किन्तु कौशल से वह सम्भव हो सकता है। इतिहास के पट पर चित्रित वर्तमान अधिक प्रभावशाली भी होता है। पुरातनता और प्रभाव दोनों का परिपुष्ट रूप व्यक्त करने के लिए बाणभट्ट की आत्मकथा एक आदर्श उदाहरण है। देश और समाज के लिए साहित्यकार क्या कर सकता है, सकट के समय नारियों की क्या उपयोगिता है, क्या वैराग्य और संन्यास सामाजिक जीवन के लिए अहंनीय है, क्या आधुनिक शिक्षा-पद्धति उपयुक्त है क्या युद्ध-काल में वेतनिक सैनिकों से ही विजय की आशा की जा सकती है क्या नर-नारी के प्रेम में वासना के अतिरिक्त और कोई प्रेरणा नहीं हो सकती नाटकों में अभिनय करने वाली सभी नारियों को बुरी दृष्टि से क्यों देखा जाता है? आदि आदि प्रश्नों पर विचार करके लेखक ने वर्तमान समस्याओं पर विहंगम दृष्टि डालने की चेष्टा की है। लेखक ने प्रमुखत इन बातों पर विशेष रूप से विचार किया है—नारी, सामन्ती शिक्षा, धर्म, वैष्णव धर्म कौलाचार बौद्धधर्म शिक्षा-पद्धति तथा निषिद्ध कलाएँ—वास्तु कला संगीत कला नाट्य कला, गीत वाद्य कला भाषा, वैराग्य और संन्यास युद्ध और वेतनिक सैनिक परस्पर उत्तर—राजेश्वर प्रजोत्तर, धर्मभक्त तथा राजसभा के व्यक्तियों का स्थान।

डा० हजारीप्रसाद के आदर्शवाद की पीठिका में ऐतिहासिक आधार है और आधार ऐसा जिसमें कवि-कल्पना को आदर्श की सीमाओं में ही घूमना पड़ा है। फिर भी कथाकार ने अपने ढंग की स्वतन्त्रता से आदर्श को पोषित किया है इतिहास की भावना को रक्षित किया है। इतिहास का सबसे बड़ा उपयोग यही है कि वह वर्तमान को पोषण देता हुआ भविष्य के रूप का सामने की दिशा पकड़े। आत्मकथाकार ने हर्षकालीन इतिहास से बिल्कुल नहीं काम लिया है। यद्यपि अनेक पात्र लेखक की कल्पना के शिशु हैं, किन्तु उन्होंने ऐतिहासिक वातावरण को सुरक्षित रखा है। कुछ कथा अनेक घटनाएं काल्पनिक हैं किन्तु उनसे वातावरणिक ऐतिहासिकता कुण्ठाओं नहीं गई है। बाणभट्ट की आत्मकथा पढ़कर ऐसी प्रतीति नहीं होती कि पाठक हर्षयुग में नहीं है। जिस प्रकार पारस का योग पाकर लोहा सोना बन जाता है उसी प्रकार इतिहास के कुछ इनेगिने तथ्यों का योग पाकर आत्मकथा के कथानक को विश्वसनीय रूप प्राप्त हो गया है। इतिहास और साहित्य का यह सम्बन्ध उपन्यास के क्षेत्र में विशेष अनुकरणीय है।

इतिहास की पीठिका पर प्रतिष्ठित होकर और कल्पना के विविध वर्ण ग्रहण करके भी बाणभट्ट की आत्मकथा ने अपने अन्तर में आधुनिक समस्याओं को अक्षुण्ण रखा है। लेखक के समय की समस्याएं इतिहास के मुँह से बोल रही हैं। जो काम प्रसाद ने अपने नाटकों के सम्बन्ध से साहित्य-क्षेत्र में किया था, वही आचार्य द्विवेदी ने अपने दोनों उपन्यासों से किया है। प्रसाद ने ऐतिहासिक आधार लेकर अपने युग को मार्ग दिखलाया था। द्विवेदीजी ने भी ऐसा ही किया है। *बाणभट्ट लेखक का प्रिय नायक है। यह नाम* केवल ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्त्व की ही है वरन् धार्मिक एवं सामाजिक महत्त्व की भी है। इसका विशेष महत्त्व 'उद्धार-प्रवृत्ति' में देखा जा सकता है। बाण-भट्ट नहीं, ऐसा लगता है मानों द्विवेदीजी ही देशोद्धार, प्रेमोद्धार, नारी-उद्धार और धर्मोद्धार के लिए व्यग्र हैं। अपनी कृति के माध्यम से इस प्रवृत्ति को स्पष्टता देने में आत्म-कथाकार का विराट् प्रयास स्तुत्य है। इसी भूमिका पर लेखक का आदर्शवाद जगमगाता है जो सत्साहित्य के लिए स्पृहणीय है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्य' अपने अर्थ को तभी निभा सकता है जब वह जीवन के लिए प्रेरणास्पद हो। प्राणवान् साहित्य इसी लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है, इसकी सिद्धि में जो साहित्य अपनी शक्ति का उपयोग करता है उसमें आदर्श की मात्रा होती है। यह ठीक है कि साहित्य जीवन को आधार बना कर निर्मित होता है किन्तु जब वह जीवन को लक्ष्य बनाकर निर्मित होता है तो उसका मूल्य कई गुना बढ़ जाता है। डा० द्विवेदी ने 'आत्मकथा' में आधार और लक्ष्य दोनों के प्रति सतर्कता बरती है। इसलिए 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में 'जीवन' भी है और 'प्रेरणा' भी है। जीवन-तत्त्वों का व्यापक महत्त्व 'मणिकांचन योग' को व्यक्त करता है।

इस प्रकार औपन्यासिक तत्त्वों की कसौटी पर 'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक सफल कृति सिद्ध होती है। वस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, वातावरण, भाषा-शैली और उद्देश्य की दृष्टि से यह कृति बड़ी सम्पन्न है। कुछ लोगों का यह आक्षेप है कि यह कृति वस्तु-सूत्र की क्षीणता से आपीड़ित है, किन्तु वे लोग वस्तु-सम्बद्ध वर्णनों को भूल जाते हैं। उन्हें वे केवल वर्णन मानकर कथा से बटा देते हैं; अतएव कल्पना और कथा के संयोग से जो कथा-रूप आविर्भूत होता है उसकी स्थूलता किसी भी उपन्यास के लिए गौरवास्पद हो सकती है।

२० कृतिकार की विशेषताएँ

'बाणभट्ट की आत्मकथा' के लेखक ने यथार्थवाद और प्रगतिवाद के युग में अपनी कृति प्रस्तुत करके यह सिद्ध कर दिया कि मार्क्सवाद अच्छी से अच्छी कलाकृति दे सकता है। लेखक ने यह भी सिद्ध कर दिया कि किसी युग के सामाजिक तत्त्व 'साहित्यिक भाव संसार' को विलुप्त नहीं कर सकते। वैचारिक प्रौढ़ता और साहित्यिक कौशल की भूमिका पर सामाजिक तत्त्वों के किसी परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवाद अपना रूप संवार सकता है। 'आत्मकथा' के लेखक ने यह प्रमाणित कर दिया है।

लेखक के कौशल का परिचय 'नामकरण' से ही मिल जाता है। पहले ही नाम पाठकों को कथा की दिशा में आकृष्ट करता है। नाम में साहित्यिक छल का सन्निवेश है किन्तु वह कौशल से विरहित नहीं है। जिस कथा का संकेत नाम से मिलता है उसका निर्वाह अन्त तक बड़े कौशल से हुआ है। मूल कथा में छल का कोई संकेत नहीं है, किन्तु कथामुख में छल की प्रतिष्ठा बड़े कौशल से की गई है और जिस कौशल से छल की प्रतिष्ठा की गई है उसी कौशल से उसका अनावरण भी किया गया है। कुतूहल और दार्शनिक मीमांसा की परिधि में छल को सफलता और गौरव की प्राप्ति कृतिकार के कौशल का प्रमाण है।

उपन्यासों में कथामुख और उपसंहार दोनों की स्थिति बहुत कम देखने में आती है क्योंकि उनके लिए उपन्यासों में कोई आवश्यकता नहीं होती। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में इनकी स्थिति छल-कौशल से प्रेरित हुई है। कथामुख के ये वाक्य बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—
'कागजों का पुलिंदा लेकर मैं घर आया। यद्यपि मेरी आँखें कमजोर हैं और रात को काम करना मेरे लिए कठिन है; फिर भी दीदी के कागजों को मैंने पढ़ना शुरू किया। शीर्षक के स्थान पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था— अथ बाणभट्ट की आत्मकथा लिख्यते।

अन्तिम वाक्य इस कृति के पहचानने में बड़ा उपयोगी सिद्ध हो सकता है। अपनी 'आत्मकथा' के लिए बाणभट्ट के ये शब्द कितने उपयुक्त होंगे। इससे ये शब्द अवश्य ही बाणेतर व्यक्ति के हैं किन्तु सूक्ष्मता से देखने पर ही रहस्य का उद्घाटन होता है अन्यथा कथामुख में रहस्य रहस्य ही बना रहता है। मूलकथा में उसके अनावृत होने की कोई गुंजाइश नहीं है। कथामुख के दो वाक्य और भी मर्मपूर्ण हैं— बाणभट्ट की आत्मकथा। तब तो दीदी को अमूल्य वस्तु हाथ लगी है। इनसे उत्पन्न कुतूहल के समर्थन के लिए इस वाक्य का उपयोग छल और कौशल का पर्यवसान प्रमाणित करता है—"इतने दिन बाद संस्कृत-साहित्य में एक अनोखी चीज प्राप्त हुई है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और

"संस्कृत साहित्य में एक समानी बीज' इन दोनों में कोई तालमेल न होते हुए भी उसके विकास देने में घन को इतनी महिमा नहीं है जितनी कौशल की।

उपसंहार का प्रथम वाक्य ही घन-सम्पन्न है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा का इतना ही अंश मिला था —यह वाक्य 'आत्मकथा' की प्रामाणिकता सिद्ध करता हुआ उपसंहार का प्रारम्भ कर रहा है। एक अन्य वाक्य भी इतना ही महत्त्वपूर्ण है और वह है— 'कादम्बरी की शैली के साथ कथा की शैली में ऊपर ऊपर से बहुत साम्य दिखता है।' आगे यह वाक्य विशेष ध्यान से पढ़ने योग्य है— संस्कृत साहित्य में यह शैली एकदम अपरिचित है। मुझे यह बात सन्देहजनक भी मालूम हुई। 'कादम्बरी' और बाणभट्ट की आत्मकथा' की अन्तर रेखाएँ उभरने लगी तो लेखक ने कहा— कादम्बरी में प्रेम की अभिव्यक्ति में एक प्रकार की हप्त भावना है परन्तु इस कथा में सब प्रेम को व्यथना गूढ़ और अहप्त भाव से प्रकट हुई है। इन अन्तर-रेखाओं से दो लेखक सामने आ जाते हैं अर्थात् 'कादम्बरी' और बाणभट्ट की आत्मकथा की भाषा-शैली में कुछ ऊपरी साम्य होते हुए भी विशेष अन्तर यह है कि यहाँ जिस 'डायरी —शैली की बात की गई है 'कादम्बरी' में उसका अभाव है। दोनों रचना-शैलियों का यह अन्तर प्राचीनता और नवीनता का अन्तर भी है।

रहस्य का उद्घाटन तो तब होता है जब दीदी के ये शब्द सुनायी पड़ते हैं— आत्मकथा के बारे में तूने एक बड़ी गलती की है। तूने उसे अपने कथामुख में इस प्रकार प्रदर्शित किया है मानों वह आटोबायोग्राफी हो। इस वाक्य से भ्रम का निवारण होजाना चाहिये किन्तु कुछ-जन की बात' में अनेक बातें संनिहित रहती हैं; इसलिये पाठक या श्रोता उनमें बिना नहीं रहता। 'आत्मकथा' का सही अभिप्राय दीदी के इन शब्दों से व्यक्त हो जाता है— बाणभट्ट की आत्मा शोणनद के प्रत्येक बालुका-कण में वर्तमान है। XX उस आत्मा की आवाज तुम्हें नहीं सुनाई देती ?" यह व्यक्त घन, यह कौशल लेखक को पाठक के अन्तर में प्रविष्ट करा देता है। वह उसकी सराहना किये बिना नहीं रहता।

इस प्रकार कथामुख और उपसंहार से लेखक ने वह काम लिया है जो हर किसी के बस की बात नहीं है। जो चीज उपन्यासों में मिलती ही नहीं उसका समावेश करके इतिकार ने अपनी कृति को अपूर्वता प्रदान की है। बहुत थोड़े से लेखक ऐसे घन का समावेश कौशल से कर पाते हैं किन्तु इस कृति में घन ने कौशल से बड़ी भारी सहायता ली है। यदि आत्मकथा' को उसके पूर्ण रूप में देखें तो कथामुख' और 'उपसंहार' उसके अभिन्न अंग हैं।

इतिकार की कुशलता का दूसरा प्रमाण कल्पना को इतिहास की भूमिका पर प्रतिष्ठित कर देने से मिलता है। बाणभट्ट के सम्बन्ध में हर्षचरित' में कुछ हो पंक्तियाँ

टा मिलती है जिनमें उसके जीवन की बड़ी अपूर्ण रेखाएं दृष्टिगोचर होती हैं। बाण के जीवन के ऐसे भग्न एवं अपूर्ण चित्र को कल्पना से पूर्ण करना और कल्पना का आभास न होने देना कौशल की बड़ी भारी सफलता है। लेखक ने एक तो थोड़ी सामग्री को ऐसा विस्तार दिया है जैसा एक कुशल जुलाहा थोड़ी सी रुई को बुन कर देता है। कथा के अपूर्ण तन्तुओं को पूर्ण करने के साथ-साथ लेखक ने कथा को फुलाया भी है और इस प्रक्रिया में बाण के नायकत्व को प्रतिष्ठा दी है। इसमें वर्णनों का जो योग है वह तो है ही, किन्तु कल्पना-शक्ति का अमित योग है। नये पात्रों की कल्पना ने बाण के जीवन के परिपार्श्वों को विस्तार देकर कथा को परिपुष्ट किया है। यह कला की बड़ी भारी सिद्धि है।

बाण का चरित्र जैसा था वैसा था किन्तु उसका मार्जन करके उसे जो रूप दिया गया है वह एक अतुलनीय सृष्टि है। बाण एक ऊंचे दर्जे का साहित्यकार है किन्तु उसके चरित्र पर कुछ काले छींटे लगे हुए थे। इतिहास में उनके मार्जन के लिए कहीं अवकाश नहीं था किन्तु उपन्यास की धारा पर आश्रित चरित्र की आवश्यकता ने आचार्य द्विवेदी के साहित्यकार को जो प्रेरणा दी उसने उनकी दृष्टि को उनके *'प्रिय कवि'* बाण पर केन्द्रित कर दिया और उसको निष्कलुष चित्रित करने की दिशा में उनका आदर्शवाद उनकी सहायता के लिए आ जुटा। इस कार्य ने बाण को प्रकाश दिया उसके समय के वातावरण को चमकाया और वर्तमान समस्याओं को इतिहास की क्रोड़ में प्रस्तुत करके उनके हल के संकेत दिये।

इतिहास का अपना मार्ग है और कल्पना का अपना। जब इतिहास कल्पना का सहारा पाने के लिए आतुर हो उठता है तब साहित्य अपने आविर्भाव की चेष्टा करने लगता है। वैसे कल्पना-शक्ति बहुत बड़ी शक्ति है, किन्तु उसके उपयोग के लिए कौशल की आवश्यकता है। कल्पना का सदुपयोग कौशल की बड़ी भारी उपलब्धि है। भट्टिनी और निपुणिका के संसर्ग में कल्पना के उपयोग की बड़ी से बड़ी प्रशस्ति कम होगी। एक ओर लेखक ने हर्ष के साथ बाण के ऐतिहासिक सम्बन्ध की रक्षा की है दूसरी ओर बाण के जीवन में तत्कालीन वातावरण को ऐतिहासिक आधार प्रदान किया है और तीसरी ओर निपुणिका और भट्टिनी के साथ बाण के निर्विकार सम्बन्धों की सृष्टि की है। कल्पना की यह उपलब्धि विस्मयकारिणी है। बाण का ऐतिहासिक स्वभाव खण्डित भी नहीं हुआ और जो बातें उसके चरित्र को कलंकित करती थीं किन्तु इतिहास में उनका पुष्टीकरण नहीं हुआ था वे कल्पना के हाथों से ऐसी उभरी हैं कि उनका रूप ही बदल गया है।

लेखक के हाथ में कथा के कुछ सूत्र इतिहास ने दिये हैं। उनको विस्तार देना अत्यन्त अति दुष्कर कर्म है किन्तु कवि या साहित्यकार की क्षमता को कल्पना जानती है। 'जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि' की उक्ति कल्पना के आँगन में ही प्रमाणित होती है। बाणभट्ट की आत्मकथा के लेखक ने ऐतिहासिक सूत्रों को सम्वारा भी है और

जोड़ाई भी, उनको आकार भी दिया है और प्रकार भी। इसके लिए लेखक ने कुछ तो कल्पित घटनाओं से सहायता ली है और कुछ वर्णनों से। ऐतिहासिक और कल्पित घटनाओं को वर्णनों में होकर जिस प्रकार स्थापित किया गया है वह कथा के विस्तारों में दृष्टव्य है।

वर्णनों के सम्बन्ध में ऐसी धारणा बनायी गई है कि वे ग्रन्थानुसार हैं। उनको अनुवाद कहने में मुझे कुछ आपत्ति नहीं है किन्तु उनको नितान्त ग्रन्थानुसार कहकर उसके अपने मूल्य की अवहेलना करना समीचीन न होगा। आत्मकथा के वर्णनों में अधिकांशतः भाव-छाया है और भावों को भी लेखक ने अपने शब्दों में ढाल कर अनूठा सौन्दर्य प्रदान किया है। सम्भवतः केवल भाव-छाया में इतने सौन्दर्य की अर्पणा न होती जितने सौन्दर्य की अर्पणा वर्णनों की उपयुक्त व्यवस्था में आविर्भूत हुई है। वर्णन बड़े-बड़े अवश्य हैं किन्तु भाषा-शैली चमत्कारपूर्ण होने से वे मोहक बन गये हैं। उनके रूप-चित्र कल्पना की आँखों में उतरते चले जाते हैं और पाठक उस दृश्य से सम्पृक्त होने की स्थिति की प्रतीति करता है। पाठक को इस स्थिति में प्रस्तुत कर देना कला की सर्वप्रमुख देन है।

वर्णनों की व्यवस्था में सूक्ष्म अन्वेषण का योग अविस्मरणीय है। अनेक ग्रन्थों से वर्णनों का चयन करके उनको उपयुक्त स्थान पर 'फिट' कर देने में अध्ययन चयन और व्यवस्था-कौशल की गरिमा प्रशंसनीय है। लोग कहते हैं कि आत्मकथा का लेखक 'छलिया' है। मैं ऐसे छलिया का आदर करता हूँ और मानता हूँ कि कृति के नाम, कथा मुख और उपसंहार के छल से काम लेकर भी उसके छल ने कल्पना को ऐतिहासिक आसन दिया है। यदि इतिहास और कल्पना का प्रणय सिद्ध न होता तो अभेय भी होता किन्तु कौशल से इस सम्बन्ध का अविरल निर्वाह किया है।

बाणभट्ट के सम्बन्ध में जो कुछ मिला है उसको हम ऐतिहासिक खण्डहर से अधिक महत्त्व नहीं दे सकते किन्तु इन खण्डहरों में लेखक ने अपने मुख से जो बोल बताये हैं उनसे वे प्राणवान् हो गये हैं। ऐतिहासिक वस्तुओं और कुछ कल्पना का ऐसा अटूट सम्बन्ध दिखाने का चेष्टा बहुत से साहित्यकारों ने की है किन्तु सफलता बहुत कम को मिली है। इनमें विशेष उल्लेखनीय 'प्रसाद' और द्विवेदी जी ही हैं। 'प्रसाद' का क्षेत्र नाटक होने से उसमें शैली और वर्णनों को इतनी स्वाधीनता नहीं मिल सकी जितनी द्विवेदी जी को 'आत्मकथा' में। 'आत्मकथा' के कथोपकथन भी मार्मिक हैं और वर्णन भी। वैसे द्विवेदीजी ने अपने अधिकार का विसर्जन भी किया है किन्तु पर्दे की आड़ में। यहाँ इतिहासकार के अधिकार का वह त्याग भाव नहीं है जो प्रसाद के नाटकों में नाटककार के अधिकार का। फिर भी द्विवेदीजी ने बाणभट्ट के रूप में छिप कर अपने सभी भावों और उद्गारों को व्यक्त कर दिया है। इन उद्गारों की विशेषता भविष्य के मार्ग को चमकाने की भावना में निहित है।

इस कृति की सीमा में वैष्णव धर्म की धीतम निःपक्षतों की मयपति बड़ी सरलता से हो सकती है। इसमें लेखक की निष्ठा का दर्शन किया जा सकता है। आचार्य द्विवेदी सब धर्मों का आदर करते हैं, इसका परिणाम इस कृति में स्थान-स्थान पर मिल रहा है। हर्ष की धार्मिक आस्था भी इसी प्रकार की थी। वैष्णव धर्म के प्रचार को सामने लाकर द्विवेदी जी ने उसके इतिहास पर भी प्रकाश डाला है और अपनी धार्मिक प्रवृत्ति का प्रकाशन भी किया है। इतर धर्मों का वर्णन करके लेखक ने ऐतिहासिक वातावरण प्रस्तुत किया है और महामाया तथा अघोर भैरव आदि के प्रति आदर व्यक्त करके धार्मिक सहिष्णुता और आदर भावना भी व्यक्त की है किन्तु निपुणिका भट्टिनी सुचरिता आदि के सम्बन्ध से जिस उपासना-पद्धति का प्रवर्तन किया है उसमें लेखक की आस्था की अभिव्यंजना स्पष्ट है किन्तु इस कार्य में कहीं भी धार्मिक आग्रह की गन्ध नहीं है। अतएव यह कार्य भी कौशल-सम्पन्न है।

लेखक शैली को विशेष महत्त्व देता है। चाहे कबीर सूरदास अशोक के फूल आदि को देखिये, चाहे 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को अथवा 'चारुचन्द्रलेख' को सभी में शैली की दुन्दुभी बज रही है। भाषा का प्रवाह शब्दों का चयन अलंकारों का प्रयोग और अर्थमर्यों की छटा—सभी में द्विवेदीजी का छसीकार बोल रहा है। वर्णनों की व्यवस्था भी शैली का ही एक रूप है। सामान्यतया द्विवेदीजी अपनी शैली में कहीं भी व्यक्त हो जाते हैं किन्तु बाणभट्ट की आत्मकथा की शैली गजब की है। उनकी कोई कृति 'आत्मकथा' की शैली का गौरव नहीं पा सकी है। कथामुख और उपसंहार की व्यवस्था को भी उनकी शैली से विलग नहीं किया जा सकता। इसके आग्रह की अभिव्यक्ति 'चारुचन्द्रलेख में भी हुई है।

द्विवेदी जी पुराने ढंग के पण्डित नहीं हैं किन्तु संस्कृति के प्रति उनका मोह पुराने पण्डित से बिल्कुल कम नहीं है। उन्होंने भारतीय संस्कृति से ज्ञानार्जन तो किया ही है शिष्टाचार भी सीखा है। उनकी धार्मिक आस्थाओं में भी संस्कृति की प्रेरणा स्पष्ट है। वे संस्कृति के शुद्ध रूप का आदर करते हैं किन्तु उसके विगलन को स्वीकार करने के लिये कभी तैयार नहीं हैं। वे संस्कृति के उदार क्षेत्र से आचरण की शिष्टता और पुण्य की परम्परा को आदरपूर्वक ग्रहण करते हैं। इसीलिए उनके मन में वस्तुओं के इतिहास की गवेषणा का प्रमुख स्थान है किन्तु अवांछनीय रूढ़ियों के इतिहास को व्यक्त करने में भी उनकी सतर्कता दृष्टिगोचर होती है। उनके साहित्यिक जगत में सांस्कृतिक चेतना का उद्बोधन भी स्पष्ट है। हर्षकालीन वातावरण की सृष्टि में ऐतिहासिक मोह और ज्ञान-प्रकाशन का जो योग है वह तो है ही सांस्कृतिक उद्बोधन की भावना भी अविस्मरणीय है। लेखक ने अनेक प्रसंगों और वर्णनों के माध्यम से पाठक को अनेक विद्याओं और कलाओं का ज्ञान कराने की चेष्टा की है और तत्कालीन जीवन के अनेक पहलुओं का परिचय दिया है। ये सब मोती कुशलता की माला में पिरोये हुए हैं।

राजनीति को सामाजिक कल्याण और देशहित के पाट उतारने में भी तो लेखक ने चमत्कार दिखलाया है। लेखक या कवि अपने समय की परिस्थितियों के प्रति जाग रूक रहता है, वह उनमें हँस-रोकर भी उनके सम्बन्ध में गहन चिन्तन और मनन करता है जिससे कुछ प्रश्नों के उत्तर स्फुरित होते हैं। ऐसे ही उत्तर आचार्य द्विवेदी के मानस में अपने युग की परिस्थितियों के सम्बन्ध में प्रस्फुरित हुए हैं। आचार्य जी राजनीतिज्ञ न होते हुए भी राजनीति के भयंकर गह्वरों से परिचित हैं, वे दलदल में न फँसकर भी दलदल से निकलने का मार्ग नहीं जानते हैं। इसलिए उनकी प्रवृत्ति राजनीति से आयत की ही रही है। फिर भी उन्होंने देश की परिस्थितियों को खुली आँखों से देखा है और अपने सुझावों को आत्मकथा में समाहित किया है। आज का राजनीतिज्ञ स्वार्थ की भूमि पर विचरण करता है वह समाज-कल्याण की चर्चा स्वार्थ-साधना के रूप में ही करता है। आचार्य द्विवेदी स्वार्थ और कल्याण में निकट का सम्बन्ध मानने के लिए तैयार नहीं हैं। राजा को अपने स्वार्थ त्यागने पड़ते हैं और प्रजा को अपने स्वार्थ। जब दोनों के स्वार्थ का समझौता होजाता है तभी देश-हित की भावना का उज्ज्वल प्रकाश होता है। विदेशी आक्रमण होते रहते हैं और लोग देखते रहते हैं। वे वैतनिक सैनिकों से अपनी रक्षा की कामना करते हैं। देश रक्षा सम्मिलित प्रयत्नों से सिद्ध होती है। कोई वर्ग विशेष देश रक्षा नहीं कर सकता। देश रक्षा में नर-नारी दोनों का समान योग होना चाहिये। नारियाँ जनपद-ग्राम में जनता को प्रबुद्ध कर सकती हैं अथवा प्रचार-कार्य कर सकती हैं। महामाया ने तटस्थ भावना की अवस्था में भी उद्बोधन का भार वहन किया है।

यह सब कार्य बाणभट्ट की आत्मकथा के लेखक ने बड़ी चतुराई से सम्पन्न किया कराया है। लेखक की यह कुशलता, यह चतुरता साहित्य-क्षेत्र में अनुकरणीय है। कभी ऐसा लगता है कि लेखक डूब रहा है और कभी लगता है कि वह जागरूक है। लेखक की ये दोनों स्थितियाँ जादू का असर करने वाली हैं। पाठक लेखक के चमत्कार पर विचार करता रह जाता है और उसकी साहित्यिक विलक्षणता में कभी-कभी खो भी जाता है।



उपसंहार

समग्र रचना पढ़ लेने पर पाठक बड़े उत्साह और चाव से यह कह सकता है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक विलक्षण उपन्यास है किन्तु उसके सामने एक प्रश्न और भी तो आता है और वह यह कि यह कृति क्या नहीं है ? रोमांस, कहानी उपन्यास आत्मकथा इतिहास, काव्य, वर्णन, चरित्र-वर्णन आदि सभी का आस्वाद तो इसमें मिलता है। यह एक ऐसी प्रेम-कहानी है जिसमें 'प्रेम' ने अपनी आदर्श ऊँचाई का प्रति रम निर्वाह किया है यह एक ऐसा 'उपन्यास' है जिसमें आत्मकथा को कथा विस्मय-कारिणी है और यह एक ऐसा वर्णन-कोश है, जिसमें धर्म संस्कृति नीति और सामाजिक वातावरण ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है।

इसे 'रोमांटिक उपन्यास' या 'औपन्यासिक रोमांस' कहने में कोई आपत्ति की बात दिखाई नहीं देती है, किन्तु यह आंचलिक उपन्यास कदापि नहीं है। लेखक की अनेक अनुभूतियों का प्रसंग 'अ चल' क्षेत्र से होने के कारण उनमें आंचलिक मोह की मधुर अ गड़ाई का आभास मिल सकता है आंचलिकता की प्रवृत्ति नहीं है। प्रवृत्ति के रूप में आंचलिकता भ्रम से मुक्त नहीं है। आत्मकथा का लेखक इस प्रवृत्ति से सर्वथा मुक्त है। अनुभूतियों के तल में जितना आंचलिक वातावरण सुखद प्रसारित कर सकता था वहाँ उतना ही समाविष्ट हुआ है।

यह कृति 'व्यक्तिवाद' से असम्पृक्त है। कथानायक बाणभट्ट स्वतन्त्र प्रकृति का व्यक्ति होते हुए भी स्वेच्छाचारी नहीं है। स्वतन्त्रता से आदर्श सुरक्षित रह सकता है किन्तु स्वेच्छाचारिता से उसका विघटन हुए बिना नहीं रह सकता। 'व्यक्तिवाद' प्रायः स्वेच्छाचारिता की भूमि पर पल्लवित होता है। बाणभट्ट आदि किसी प्रमुख पात्र के चरित्र में स्वेच्छाचारिता की तनिक भी गंध नहीं है। मनोविज्ञान का भी पराठव इस कृति को मिला है यह 'व्यक्तिवाद' से कोसों दूर है।

कला के दो स्वरूप होते हैं—अभिव्यक्ति और प्रदर्शन। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' कला का प्रदर्शन नहीं है अभिव्यक्ति मात्र है। वर्णनों में प्रदर्शन की गंध आ सकती है किन्तु वे कृति के नाम को सार्थक करने के लिए आवश्यक थे पाठकों का विश्वास प्राप्त करने के लिए भी अपेक्षित थे। 'आत्मकथा' की भूमिका में जिन तत्वों की आवश्यकता थी उनमें से 'वर्णन' भी थे। अतएव वर्णन वर्णन के लिए नहीं हैं अपनी उपयोगिता रखते हैं। शब्द-संचयन और वाक्य-विन्यास में भी आवश्यकता की ही प्रेरणा है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक सुन्दर साहित्यिक प्रयोग है किन्तु प्रयोगवादी रचना नहीं है। लेखक की प्रयोगात्मक प्रवृत्ति के पीछे जीवन के आदर्श और संस्कार हैं, ऐतिहासिक ख्यातियाँ और धार्मिक मान्यताएँ हैं, साहित्यिक आधार हैं तथा नवीनता के कलेवर में प्राचीनता के आग्रह की प्रमुखता है जिससे तथाकथित प्रयोगवाद समर्थित नहीं होता।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक गद्य रचना है, फिर भी वह काव्य के अनेक गुणों से सम्पन्न है। जो रचना पाठक के अन्तर में उदात्त भावों की सृष्टि कर दे, पाठक के मन को तत्काल अपने वश में करले, वह गद्य होते हुए भी काव्य की अभिधा पाने का अधिकार रखती है। यथार्थ में उसे 'काव्य' भले ही न कहा जावे, किन्तु उसकी सम्मति की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिस प्रकार गद्य में काव्य के गुण हो सकते हैं उसी प्रकार पद्य में भी गद्य के सभी संस्कार हो सकते हैं। 'आत्मकथा' की भाषा गद्य है फिर भी काव्य-गुणों से सरस बनी हुई है। इस रचना के कितने ही वर्णनों को 'गद्य-काव्य' की कोटि में प्रस्तुत किया जा सकता है। एक उदाहरण देखिये—

'इस पृच्छा और जुगुप्सा के ऊपर को सुन्दर क्यों नहीं बना देती + + + + +++ करुणा के अश्रु से सिक्त मनोहर दृष्टि जो अन्तःकरण को मोहित कर डालता है— यही तो भुवनमोहिनी का रूप है।

ऐसे ही बहुत से उदाहरणों से 'आत्मकथा' को काव्य-गुण से सम्पन्न सिद्ध किया जा सकता है।

सामान्यतया यह माना जाता है कि वर्णनों की प्रचुरता किसी भी प्रबन्ध-रचना के कथा-प्रवाह को अवरुद्ध कर देती है। बाणभट्ट की आत्मकथा में भी वर्णनों का प्राचुर्य है। पाठक को लम्बी-लम्बी एक वर्णन से दूसरे वर्णन में प्रवेश करना पड़ता है किन्तु वर्णन-सरसता उसे ऊबने नहीं देती। बाणभट्ट की कृति सिद्ध करने के लिए कथा में बाण का सा वर्णन प्राचुर्य और शब्द-संचयन एवं संकलन आवश्यक था। इसलिए कृति की सफलता और नाम की सार्थकता में वर्णनों के योग का खुलासा कहा जा सकता है।

इसमें सन्देह नहीं है कि 'प्रेम' मानव जीवन का प्रमुख तत्त्व है। उसके अनेक रूप हैं—उज्ज्वल और कलुषित। प्रेम का जो रूप समाज के कल्याण का साधन हो वह उज्ज्वल एवं निर्मल होता है और जो समाज को पतनोन्मुख करता है वह विलासित या कलुषित होता है। आज प्रेम की धारा पर अनेक रचनाएँ अपना रूप सँवार रही हैं, किन्तु उन सबमें कल्याणकारी प्रेम कम है। अनेक रचनाएँ वासना की दुर्गन्ध से ओतप्रोत हैं। उनमें व्यक्ति-विशेष के प्रेम का उदात्त रूप विनिर्दिष्ट हो सकता है, किन्तु वह समाज का साध्य नहीं है। कलुषित प्रेम में समाज केवल पंक पाता है। उदात्त प्रेम व्यक्ति को मानव उर्ध्व हो सकता है किन्तु वह समाज के उद्धार का पथ नहीं है। संयम की सीमाओं में ही आदर्श का रूप निश्चित होता है। उसी में कल्याण की ज्योति मिलती है। बाणभट्ट की आत्मकथा में संयत और उदात्त प्रेम की प्रतिष्ठा की गई है। असंयत और विलासित प्रेम कथा के पात्रों में दृष्टिगत नहीं होता है। यदि वह किसी अंश में भी है तो पाठक को उसकी चिन्ता भी नहीं है। प्रेम के इस स्वरूप ने प्रेम-मर्यादा के इस आदर्श ने इस कृति को 'उपन्यास शिरोमणि तथा प्रेमोपन्यास' बना दिया है। युग के इस वातावरण में प्रवृत्ति और निवृत्ति का यह मणि-कांचन-योग साहित्य में दुर्लभ है।

उपसंहार

समग्र रचना पढ़ लेने पर पाठक बड़े उत्साह और चाव से यह कह सकता है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक विलक्षण उपन्यास है किन्तु उसके सामने एक प्रश्न और भी तो आता है और वह यह कि यह कृति क्या नहीं है? रोमांस, कहानी, उपन्यास आत्मकथा, इतिहास, काव्य, वर्णन, चरित्र-वर्णन आदि सभी का आस्वाद तो इसमें मिलता है। यह एक ऐसी प्रेम-कहानी है जिसमें 'प्रेम' ने अपनी आदर्श ऊँचाई का अविरल निर्वाह किया है यह एक ऐसा उपन्यास है जिसमें आत्मकथा की कथा विस्मयकारिणी है और यह एक ऐसा वर्णन-कोष है जिसमें धर्म संस्कृति नीति और सामाजिक वातावरण ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्राप्त की है।

इसे 'रोमांटिक उपन्यास' या 'औपन्यासिक रोमांस' कहने में कोई आपत्ति की बात दिखाई नहीं देती है किन्तु यह आंचलिक उपन्यास कदापि नहीं है। लेखक की अनेक अनुभूतियों का प्रसव 'अंचल' के गर्भ से होने के कारण उनमें आंचलिक मोह की मधुर अँगड़ाई का आभास मिल सकता है आंचलिकता की प्रवृत्ति नहीं है। प्रवृत्ति के रूप में आंचलिकता भय से मुक्त नहीं है। आत्मकथा का लेखक इस प्रवृत्ति से सर्वथा मुक्त है। अनुभूतियों के तल में जितना आंचलिक वातावरण सुगम प्रसारित कर सकता था वहाँ उतना ही समाविष्ट हुआ है।

यह कृति 'व्यक्तिवाद' से असम्पृक्त है। कथानायक बाणभट्ट स्वतन्त्र प्रकृति का व्यक्ति होते हुए भी स्वेच्छाचारी नहीं है। स्वतन्त्रता से आदर्श सुरक्षित रह सकता है किन्तु स्वेच्छाचारिता से उसका विगलन हुए बिना नहीं रह सकता। 'व्यक्तिवाद' प्रायः स्वेच्छाचारिता की भूमि पर पल्लवित होता है। बाणभट्ट आदि किसी प्रमुख पात्र के चरित्र में स्वेच्छाचारिता की तनिक भी गंध नहीं है। मनोविज्ञान का जो अध्ययन इस कृति को मिला है वह 'व्यक्तिवाद' से कोसों दूर है।

कला के दो स्वरूप होते हैं—अभिव्यक्ति और प्रदर्शन। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' कला का प्रदर्शन नहीं है अभिव्यक्ति मात्र है। वर्णनों में प्रदर्शन की गंध आ सकती है किन्तु वे कृति के नाम को सार्थक करने के लिए आवश्यक थे, पाठकों का विश्वास प्राप्त करने के लिए वे अपेक्षित थे। 'आत्मकथा' की भूमिका में जिन तत्त्वों की आवश्यकता थी उनमें से 'वर्णन' भी थे। अतएव वर्णन, वर्णन के लिए नहीं हैं, अपनी उपयोगिता रखते हैं। शब्द-चयन और वाक्य-विन्यास में भी आवश्यकता की ही अपेक्षा है।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक सुन्दर साहित्यिक प्रयोग है किन्तु प्रयोगवादी रचना नहीं है। लेखक की प्रयोगात्मक प्रवृत्ति के पीछे जीवन के आदर्श और संस्कार हैं, ऐतिहासिक ख्यातियाँ और दार्शनिक मान्यताएँ हैं, साहित्यिक आधार है तथा नवीनता के कलेवर में प्राचीनता के आग्रह की प्रमुखता है जिससे तथाकथित प्रयोगवाद समर्थित नहीं होता।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' एक गद्य-रचना है, फिर भी वह काव्य के अनेक गुणों से सम्पन्न है। जो रचना पाठक के अन्तर में उच्च भावों की सृष्टि कर दे पाठक के मन को तत्काल अपने वश में करले वह गद्य होते हुए भी काव्य की अभिधा पाने का अधिकार रखती है। स्वभाव में उसे 'काव्य' भले ही न कहा जाये किन्तु उसकी सम्पत्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिस प्रकार गद्य में काव्य के गुण हो सकते हैं उसी प्रकार पद्य में भी गद्य के सभी संस्कार हो सकते हैं। आत्मकथा की भाषा गद्य है फिर भी काव्य-गुणों से सरस बनी हुई है। इस रचना के कितने ही वर्णनों को 'गद्य-काव्य' की कोटि में प्रस्तुत किया जा सकता है। एक उदाहरण देखिये—

'इस घृणा और जुगुप्सा के जगत् को सुन्दर क्यों नहीं बना देती + + + + +++ करुणा के मधु से सिक्त मनोहर दृष्टि जो समस्त चराचर को मोहित कर डालती है—यही तो भुवनमोहिनी का रूप है।

ऐसे ही बहुत से उदाहरणों से आत्मकथा को काव्य-गुणों से सम्पन्न सिद्ध किया जा सकता है।

सामान्यतया यह माना जाता है कि वर्णनों की प्रचुरता किसी भी प्रबन्ध-रचना के कथा-प्रवाह को अवरुद्ध कर देती है। बाणभट्ट की आत्मकथा में भी वर्णनों का प्राचुर्य है। पाठक को जल्दी-जल्दी एक वर्णन से दूसरे वर्णन में प्रवेश करना पड़ता है किन्तु वर्णन-सरसता उसे ऊबने नहीं देती। बाणभट्ट की कृति सिद्ध करने के लिए कथा में बाण का सा वर्णन प्राचुर्य और शब्द-चयन एवं वैभव आवश्यक था। इसलिए कृति की सरसता और नाम की सार्थकता में वर्णनों के योग को भुलाया नहीं जा सकता है।

इसमें सन्देह नहीं है कि 'प्रेम' मानव जीवन का प्रमुख तत्त्व है। उसके अनेक रूप हैं—उज्ज्वल और कलुषित। प्रेम का जो रूप समाज के कल्याण का साधन हो वह उज्ज्वल एवं निर्मल होता है और जो समाज को पतनोन्मुख करता है वह विगलित या कलुषित होता है। आज प्रेम की पृष्ठ पर अनेक रचनाएँ अपना रूप संवार रही हैं, किन्तु उन सबमें कल्याणकारी प्रेम नहीं है। अनेक रचनाएँ वासना की दुर्गन्ध से ओतप्रोत हैं। उनमें व्यक्ति-विशेष के प्रेम का उदात्त रूप विनिर्दिष्ट हो सकता है किन्तु वह समाज का साध्य नहीं है। कलुषित प्रेम में समाज केवल फँस सकता है। उदात्त प्रेम व्यक्ति को सम्यग् दर्शन हो सकता है किन्तु वह समाज के उद्धार का पथ नहीं है। सदन की सीमाओं में ही आदर्श का रूप निर्मित होता है। उसी में कल्याण की ज्योति छिपी है। बाणभट्ट की आत्मकथा में सदन और दाम्पत्य प्रेम की प्रतिष्ठा की गई है। अनैतिक और विगलित प्रेम कथा के परकोटे में प्रविष्ट नहीं होपाया है। यदि वह किसी कोने से झाँक रहा हो तो पाठक को उसकी चिन्ता भी नहीं है। प्रेम के इस स्वरूप ने प्रेम-मर्यादा के इस आदर्श ने इस कृति को 'उपन्यास-शिरोमणि' तथा 'रोमांस-सम्राट' बना दिया है। युग के इस वातावरण में प्रवृत्ति और निवृत्ति का यह शक्ति-सामञ्जस्य-योग औचित्य से युक्त है।